उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

**MAHI-107(I)**
रीडर-एक

# आधुनिक काव्य विवेचना

संकलन और संपादन
डॉ. राकेश वत्स

सहयोग
संजीव कुमार

मानविकी विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

## पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओम अवस्थी
प्रो. गोपाल राय
प्रो. नामवर सिंह
प्रो. नित्यानंद तिवारी
प्रो. निर्मला जैन
प्रो. प्रेम शंकर
प्रो. मुजीब रिज़वी
प्रो. मैनेजर पाण्डेय
प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
प्रो. लल्लन राय
प्रो. शिवकुमार मिश्र
स्व. शिव प्रसाद सिंह
प्रो. सूरजभान सिंह

**संकाय सदस्य**

प्रो. वी.रा. जगन्नाथन (कार्यक्रम संयोजक)
डॉ. जवरीमल्ल पारख
डॉ. रीता रानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. नीलम फ़ारूक़ी
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
डॉ. विमल खांडेकर

नवम्बर 2001 (मुद्रण)
©इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2001
**ISBN-81-266-0340-2**
सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. वी.रा. जगन्नाथन, निदेशक (मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित ।
आवरण : श्री सांख्या सामंता
मुद्रण सहायता : श्री कुलवन्त सिंह, अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)।

**इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अनुमति से पुनः मुद्रित । उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से** विनय कुमार , **कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित,** 2023
**मुद्रक :** सिग्नस इन्फार्मेशन सल्यूसन प्रा0लि0, लोढ़ा सुप्रीमस साकी विहार रोड, अन्धेरी ईस्ट, मुम्बई

# अनुक्रम


| | | | |
|---|---|---|---|
| 1) | भारतीय नवजागरण और भारतेंदु | : | डा० शंभुनाथ ..... 1-17 |
| 2) | उचित उपदेश का मर्म | : | रमेश चंद्र शाह ..... 18-33 |
| 3) | कामायनी एवं पुनर्विचार | : | गजानन माधव मुक्तिबोध ..... 34-71 |
| 4) | 'राम की शक्ति-पूजा' : मिथक मंत्र और नाटक का जादू | : | डॉ० रमेश कुंतल मेघ ..... 72-84 |
| 5) | 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा' | : | डॉ० रामविलास शर्मा ..... 85-103 |
| 6) | सुमित्रानंदन पंत : एक विश्लेषण | : | गजानन माधव मुक्तिबोध ..... 104-116 |
| 7) | नग्न कुमारिता वाले झीने आवरण : महादेवी की नारी-रहस्यवत्ता | : | डॉ. रमेश कुंतल मेघ ..... 117-150 |
| 8) | उर्वशी : दर्शन और काव्य | : | गजानन माधव मुक्तिबोध ..... 151-159 |
| 9) | मूल्यों का टकराव: 'उर्वशी' विवाद | : | डॉ. नामवर सिंह ..... 160-166 |
| 10) | 'जन कवि' होने का अर्थ | : | डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ..... 167-179 |
| 11) | अज्ञेय और मुक्तिबोध : 'असाध्य वीणा'-'अंधेरे में' | : | डॉ. राम स्वरूप चतुर्वेदी ..... 180-186 |
| 12) | अज्ञेय : आधुनिक बोध की पीड़ा | : | निर्मल वर्मा ..... 187-197 |
| 13) | शमशेर : मेरी दृष्टि में | : | गजानन माधव मुक्तिबोध ..... 198-207 |
| 14) | शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट | : | विजयदेवनारायण साही ..... 208-226 |
| 15) | मुक्तिबोध की कविता की बनावट | : | कुँवर नारायण ..... 227-236 |
| 16) | 'अंधेरे में' : परम अभिव्यक्ति की खोज | : | डॉ० नामवर सिंह ..... 237-246 |
| 17) | सृजनशीलता का संकट : रघुवीर सहाय की कविता | : | डॉ. नित्यानंद तिवारी ..... 247-268 |
| 18) | 'मगध' और श्रीकान्त वर्मा | : | डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ..... 269-283 |
| 19) | अदम्य सर्जनात्मक ऊर्जा | : | नेमिचन्द्र जैन ..... 284-295 |


GNOME-082

# भूमिका

एम.ए. हिन्दी के पाठ्यक्रम-2 'आधुनिक हिन्दी काव्य' में आप अब तक 'आधुनिक काव्य-विविधा' तथा विभिन्न निर्धारित कवियों पर छब्बीस इकाइयों का जो कि छह खण्डों में आपको उपलब्ध कराई गई हैं, अध्ययन कर चुके हैं। पाठ्यक्रम में निर्धारित कवियों पर पत्रिकाओं एवं पुस्तकों में प्रकाशित सामग्री में से कुछ चुनिंदा आलेखों को लेकर यह पुस्तक तैयार की गई है। इस प्रकार अध्ययन के लिए अब आपको काफी सामग्री प्राप्त हो चुकी है। लेकिन स्नातकोत्तर स्तर के अध्ययन के लिए आप जितना ज्यादा पढ़ेंगे अध्ययन, उतना ही बेहतर होगा। इसलिए आपको प्राप्त खंडों के अंत में संबंधित विषय की ऐसी पुस्तकों की सूची दी गई है, जिन्हें यदि सुविधा मिले, तो प्राप्त कर आप पढ़ सकते हैं। 'आधुनिक हिन्दी काव्य' को समझने में यह पुस्तक उपयोगी होगी, ऐसी हमारी उम्मीद है।

इस पुस्तक में सबसे पहला लेख 'भारतीय नवजागरण और भारतेंदु' शीर्षक से प्रसिद्ध आलोचक डॉ० शंभुनाथ का है। पाठ्यक्रम में पहला खंड इस पुस्तक में 'नवजागरण काव्य' पर ही है जिसमें आपने भारतेंदु तथा मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का अध्ययन किया है। लेखक ने इस लेख में भारतेंदु के साहित्य को आधार बनाकर भारतीय नवजागरण के बंगाल में उदय, तदुपरांत सम्पूर्ण भारत में उसके विकास को रेखांकित करने का प्रयास किया है। साथ ही लेखक ने इन सवालों को भी अपने अध्ययन का केंद्र बिंदु बनाया है कि 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह की चेतना ने भारतेंदु को, उनके साहित्य को तथा प्रकारान्तर से नवजागरण के आयामों को विकसित करने में क्या भूमिका अदा की। लेखक यह भी मानता है कि भारतीय नवजागरण की विभिन्न क्षेत्रीय विशिष्टताओं की विभिन्न अन्तर्धाराओं की अन्तर्क्रिया से ही एक समग्र राष्ट्रीय धारा का विकास हुआ। इस लेख से भारतेंदु के संदर्भ में भारतीय नवजागरण की विशेषताओं को समझने में आपको मदद मिलेगी। दूसरा लेख राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के साहित्यिक योगदान की उपयोगिता तथा प्रासंगिकता को लेकर है – 'उचित उपदेश का मर्म' लेखक हैं – रचनाकार आलोचक रमेश चंद्र शाह। मैथिलीशरण के काव्य के बारे में अक्सर कहा जाता है कि वह उपदेशात्मक इतिवृत्तात्मक पद्य है, इकहरा है, काव्य व्यंजना से अधूरा है आदि-आदि। लेखक ने इस लेख में इन आरोपों का जवाब भी दिया है 'यह कहना तो आसान है कि 'हमारे यहाँ यह नहीं है, वह नहीं है याकि 'फलाँ-फलाँ चीज़ काव्य नहीं है, उपदेशात्मक इतिवृत्तात्मक पद्य है।' किंतु वे यह भूल जाते हैं कि उनकी अभिलाषाओं का महान् काव्य सिर्फ़ व्यक्तिगत प्रतिभा का पक्ष नहीं हुआ करता; उसके लिए महान् समाज और महानकाल का भी संयोग ज़रूरी होता है।'

अर्थात् लेखक या रचनाकार के हाथ अपने समय एवं युग से सभी बंधे होते हैं। लेखक यह भी कहना चाहता है कि हमें हमेशा विदेशी मानदण्डों के आधार पर ही कृति का मूल्यांकन नहीं करना चाहिए। इस लेख से आपको मैथिलीशरण गुप्त की न केवल महत्ता एवं प्रासंगिकता का पता चलेगा बल्कि किन विवादों के घेरे में उनका काव्य रहा-उसके बारे में भी विभिन्न मत जान पाएँगे।

तीसरा लेख 'कामायनी' के श्रद्धा सर्ग पर है। यह लेख हमने मुक्तिबोध रचनावली से लिया है। लेखक का शीर्षक है, 'कामायनी एवं पुनर्विचार'। इस लेख में मुक्तिबोध ने 'श्रद्धा' सर्ग की व्याख्या की है और बताया है कि प्रसाद जी की विश्वदृष्टि जीवनदृष्टि किस प्रकार श्रद्धा के चरित्र में प्रकट हुई है। साथ ही मुक्तिबोध ने विस्तार से यह भी बताने का प्रयास किया है कि कामायनी का अपने समाज, अपने युग से कैसा रिश्ता रहा है। और स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान जन्म लेते नव राष्ट्रवाद, पूँजीवाद और सामंतवाद के अंतर्विरोध किस रूप में कामायनी में अभिव्यक्त हुए हैं।

मुक्तिबोध ने अपने समय के अन्य रचनाकारों पर भी विचार किया है। पंत पर भी उन्होंने एक सारगर्भित लेख लिखा है 'सुमित्रानंदन पंत : एक विश्लेषण' जिसे हमने यहाँ संकलित किया है। इस लेख में मुक्तिबोध ने पंत के काव्य व्यक्तित्व की प्रसाद के काव्य व्यक्तित्व से तुलना करके यह जानने का प्रयास किया है कि पंत क्यों मर्मभेदी कविताएँ नहीं लिखते अथवा क्यों उनका मन प्रकृति–चित्रों के अलावा, मन: स्थितियों और मनोदशाओं के गीतों की ओर रहा है। सुमित्रानंदन पंत के काव्य व्यक्तित्व को समझने में निश्चय ही यह लेख आपकी मदद करेगा।

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की कविता 'राम की शक्तिपूजा' एक महत्वपूर्ण कविता है। जिसे कई नज़रियों से व्याख्यायित करने का विद्वानों ने प्रयास किया है। इस पर दो लेख हमने यहाँ दिये हैं। पहला लेख प्रसिद्ध आलोचक डॉ. रमेश कुन्तल मेघ का है 'राम की शक्ति पूजा: मिथकमंत्र और नाटक का जादू' और दूसरा लेख निराला के अनन्य आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा का 'तुलसीदास और राम की शक्तिपूजा।' पहले लेख में डॉ. मेघ ने बताया है कि मिथकीय संरचना और नाटकीयता के माध्यम से किस प्रकार यह कविता एक संश्लिष्ट कविता बन गई है, जिसका एक विलक्षण रूप है तथा जिसमें नायक राम और कवि निराला का अंतरावलम्बन हुआ है और जिसमें मिथकों के व्याख्यात्मक प्रतीक आधुनिक संदर्भों में खुलते हैं। तुलसीदास कविता निराला की एक अन्य कविता है जो आपके

पाठ्यक्रम में निर्धारित नहीं है। किंतु उसके बारे में यहाँ पढ़ना समझना निराला के काव्य व्यक्तित्व को समझने में लाभप्रद होगा। डॉ. रामविलास शर्मा ने इस लेख में इन दोनों कविताओं की व्याख्या भी की है और इन्हें एक दूसरे के आमने-सामने रखकर भी देख है। तुलसीदास कविता जहाँ मध्यकालीन समाज, तुलसीदास के मन के अन्तर्द्वन्द्वों की अभिव्यक्ति करती है, 'राम की शक्तिपूजा' वही एक आधुनिक कविता है जिसके नायक एक स्तर पर राम हैं तो दूसरे स्तर पर स्वयं कवि निराला।

डॉ. रमेश कुंतल मेघ का एक और लेख हमने यहाँ दिया है-महादेवी वर्मा पर 'नग्न कुमारितावाले झीने आवरण : महादेवी की नारी-रहस्यवत्ता'। महादेवी को करूणा, वेदना की कवियित्री माना जाता है। इस लेख में डॉ. मेघ ने विभिन्न ज्ञानानुशासनों के सहारे कवियित्री के मनोलोक की यात्रा की है और जानने का प्रयास किया है कि उनकी करूणा, वेदना के स्रोत क्या हैं? और उनके काव्य के इन मुख्य सरोकारों के कारण क्या हैं। जानने की इस प्रक्रिया में कुंतल मेघ ने महादेवी वर्मा के चित्रों को भी आधार बनाया है।

अगले दो लेख रामधारी सिंह दिनकर की 'उर्वशी' पर हैं। पहला लेख मुक्तिबोध का है 'उर्वशी : दर्शन और काव्य' तथा दूसरा लेख डॉ. नामवर सिंह का है 'मूल्यों का टकराव : 'उर्वशी' विवाद'। 1962 में 'कल्पना' 138 में 'उर्वशी' पर श्री भगवतशरण उपाध्याय ने एक समीक्षा लेख लिखा था। बाद में उस पर पाठकों के कुछ पत्र प्रकाशित हुए। और अन्यत्र पत्र-पत्रिकाओं में 'उर्वशी' पर और भी समीक्षाएँ प्रकाशित हुई। मुक्तिबोध का यह लेख वास्तव में भगवतशरण उपाध्याय जी के लेख पर प्रतिक्रिया स्वरूप लिखा गया लेख है। तथा डॉ. नामवर सिंह का लेख 'उर्वशी' पर जितनी भी समीक्षाएँ लिखी गईं, जो भी वाद-विवाद, बहस मुहाबिसा हुआ–उसका लेखा जोखा भी है, और समापन टिप्पणी भी। पहले लेख से आपको यह भी मालूम होगा कि वस्तुगत समीक्षा और आलोचना क्या होती है, क्या होनी चाहिए। और यह भी कि निजी पसंद नापसंद और काव्येतर प्रतिमान किस प्रकार वस्तुगत समीक्षा को धुंधला कर देते हैं।

अगला लेख डॉ विश्वनाथ त्रिपाठी का है 'नागार्जुन' पर। इस लेख में लेखक ने नागार्जुन की कविता का विश्लेषण करते हुए यह बताना चाहा है कि 'नागार्जुन' 'कविता की बनी बनाई दुनिया' के भीतर रह कर कविता नहीं रचते, इसलिए कवि मुद्रा भी नहीं अपनाते और स्मृत दुनिया को अभिव्यक्त नहीं करते। बल्कि वह जो जीते हैं जैसा जीते हैं वैसा

ही कविता में ले आते हैं। इसलिए वह अगर खुद को जन कवि कहते हैं तो इसलिए चूँकि जनता उनके लिए अनपढ़, जाहिल, गरीबों की भीड़ नहीं है बल्कि वह एक शक्ति है, आंदोलनकारी शक्ति ज़िसके वह स्वयं एक भाग हैं।

अज्ञेय और मुक्तिबोध की दो प्रतिनिधि कविताएँ हैं– 'असाध्य वीणा' और 'अंधेरे में' ! ये दोनों कविताएँ आपके पाठ्यक्रम में निर्धारित हैं। दोनों कविताएँ अपने-अपने रचनाकारों की बेहतरीन कविताएँ मानी जाती हैं। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपने समय के दो बड़े किंतु भिन्न रचनाकारों की इन कविताओं की तुलना के माध्यम से दोनों की रचनात्मक शक्ति को पहचाननें का प्रयास किया है। इस लेख से आपको दोनों कविताओं और कवि व्यक्तित्वों को समझने में मदद मिलेगी।

अगला लेख अज्ञेय पर है-'अज्ञेय : आधुनिक बोध की पीड़ा'। यह लेख प्रसिद्ध लेखक श्री निर्मल वर्मा ने लिखा है। यह लेख अज्ञेय की तीन गद्य पुस्तकों भवन्ती, अन्तरा और शाश्वती में अभिव्यक्त अज्ञेय के विचार - चिंतन पर आधारित है। यहाँ निर्मल वर्मा ने अज्ञेय के चिंतक व्यक्तित्व का विश्लेषण करके यह देखने का प्रयास किया है कि अज्ञेय की चिंतन-प्रक्रिया कैसे चलती है और साहित्य सृजन से बाहर स्वयं 'रचनात्मक-सृजन' किन रूपों में उनके सरोकारों का हिस्सा बनता है।

शमशेर पर यहाँ दो लेख हमने दिए हैं। एक मुक्तिबोध का है–'शमशेर मेरी दृष्टि में' तथा दूसरा विजयदेव डॉ. नारायण साही का–'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट'। पाठक एंवं आलोचक दोनों के लिए शमशेर एक चुनौतीपूर्ण कवि हैं क्योंकि वे लीक से हट कर अपनी रचनात्मकता को परिभाषित करते हैं। मुक्तिबोध ने शमशेर के प्रति अपनी बुनियादी प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्त किया है। वे मानते हैं कि शमशेर अपने शिल्प और काव्य-व्यक्तित्व के कारण उन्हें आकर्षित करते हैं। और उन्हें वे शिल्प की दृष्टि से हिन्दी के एक अद्वितीय कवि मानते हैं। इस लेख में शमशेर के माध्यम से मुक्तिबोध ने शिल्प और काव्य-व्यक्तित्व का भी विश्लेषण किया है और शमशेर के कवि की प्रमुख विशेषताओं को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। दूसरे लेख में विजयदेव नारायण साही ने शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट को समझने का प्रयास किया है। ये दोनों लेख शमशेर को कवि के रूप में समझने में निश्चय ही सहायक होंगे।

अगले दो लेख मुक्तिबोध पर हैं। पहला लेख कवि आलोचक कुँवर नारायण का है-

'मुक्तिबोध की कविता की बनावट' और दूसरा लेख डॉ. नामवर सिंह का 'अंधेरे में : परम अभिव्यक्ति की खोज'! मुक्तिबोध ने कविता लिखने के साथ-साथ लिखने की प्रक्रिया पर भी चिंतन-मनन किया है। इससे उनकी कविताओं को समझने में भी सहायता मिलती है। पहले लेख में कुँवरनारायण ने मुक्तिबोध की कविता की संरचना और बनावट को समझने का प्रयास किया है। "यहाँ मुक्तिबोध की कविताओं की बनावट को लेकर कोई अन्तिम निष्कर्ष निकालने की कोशिश नहीं की गयी है क्योंकि मुक्तिबोध स्वयं इस बारे में किसी अंतिम निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सके थे।" दूसरा लेख मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता 'अंधेरे में' को समझने के प्रारंभिक प्रयासों में से एक महत्वपूर्ण प्रयास है। इस कविता की बाद में ढेरों व्याख्याएँ की गई हैं। ये दोनों लख मुक्तिबोध को एक कवि के रूप में जानने में निश्चय ही सहायक होंगे।

अगला लेख रघुवीर सहाय पर है डॉ. नित्यानंद तिवारी का 'सृजनशीलता का संकट : रघुवीर सहाय की कविता'। रघुवीर सहाय की कविता सामाजिक यथार्थ को बड़ी तीक्ष्ण दृष्टि से पकड़ती है। रघुवीर सहाय की कविता कैसे बनती है, उनकी कविता के मुख्य सरोकार क्या हैं और रचनाशीलता के संकट से रघुवीर सहाय कैसे जूझते हैं –इसकी पड़ताल इस लेख में की गई है।

श्रीकांत वर्मा पर भी एक लेख है श्री विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का– 'मगध और श्रीकांत वर्मा'। इस लेख में लेखक ने श्रीकांत वर्मा के काव्य के काव्य की मनोभूमि का विश्लेषण किया है। श्रीकांत वर्मा ने सत्ता और साहित्य दोनों को करीब से जिया और भोगा है जिसकी अभिव्यक्ति उनके काव्य में भी हुई है।

इस संकलन का अंतिम लेख धूमिल पर श्री नेमिचन्द जैन का है – 'अदम्य सर्जनात्मक ऊर्जा'। यह लेख जब लिखा गया तब तक धूमिल का देहावसान हो चुका था और उनका एक ही काव्य संग्रह 'संसद से सड़क तक' प्रकाशित हुआ था। और कुछ कविताएँ यत्र-तत्र प्रकाशित हुई थीं। लेखक ने इस लेख में धूमिल की रचनात्मक शक्ति और संभावनाओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है।

आधुनिक हिंदी काव्य के बारे में अपनी समझ विकसित करने में ये लेख निश्चय ही उपयोगी होंगे।

राकेश वत्स

# 1. भारतीय नवजागरण और भारतेंदु

डॉ० शंभुनाथ

भारतीय नवजागरण सबसे पहले बंगाल में आया तथा ब्रिटिश शासन-व्यवस्था से **संपर्क और** टकराहट की प्रक्रिया में पूरे देश में फैला। प्रस्तुत लेख में हमारी पहली समस्या है कि बंगाल में उसकी शुरुआत किस प्रकार हुई। दूसरी समस्या है कि उसके आयामों को विकसित करने में 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह की भूमिका क्या थी तथा तीसरी समस्या है कि चूंकि भारतीय नवजागरण की क्षेत्रीय विशिष्टताओं के कारण अनेक अंतर्धाराएं हैं, इनकी अंतर्क्रिया से नवजागरण की उस सामान्य राष्ट्रीय धारा का विकास किस प्रकार हुआ, जिसमें 'क्षेत्रीय श्रेष्ठताबोध' के स्थान पर 'समग्र आत्मपहचान का संघर्ष' केंद्रीय विषय है। हम तीसरी समस्या का हल भारतेंदु (1850-85) के जीवन और साहित्य को ही मुख्य आधार बना कर निकालेंगे, क्योंकि एक तरफ उनका संबंध बंगाल के नवजागरण से है, दूसरी तरफ 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह की चेतना से।

**"भारतीय नवजागरण को उसकी समग्रता तथा विकास में देखना बहुत जरुरी है। केवल बंगला नवजागरण, महाराष्ट्र नवजागरण, तमिल नवजागरण कहने से इसकी पूरी वास्तविकता नहीं उभरती। हमें भारतीय नवजागरण को जानना होगा। इस प्रक्रिया में अलगाववादी दृष्टिकोण खुद-ब-खुद विफल हो जायेगा। इस दिशा में नवजागरण पर पुनर्विचार महज बौद्धिक विलास नहीं है, यह वर्तमान युग के वैचारिक संघर्ष में हिस्सा लेना है।"** यह कहीं न कहीं हमारे आज के जीवन की मुख्य समस्याओं के प्रति अपना रुख व्यक्त करना भी है। हमारे देश में एक नये सिरे से भारी विदेशी पूंजी तथा टेक्नालॉजी का उपयोग बढ़ रहा है, साथ ही साथ सांप्रदायिकता, क्षेत्रीयतावाद तथा किस्म-किस्म के रूढ़िवाद भी तेजी से पनप रहे हैं। इन सबके खिलाफ वैचारिक युद्ध है भारतीय नवजागरण पर पुनर्विचार। यह विडंबना नहीं तो और क्या है कि हमारे समाज में आयातित टेक्नालॉजी का उपयोग जितना बढ़ रहा है, 'रैशलिटी' जो भारतीय नवजागरण की एक बड़ी उपलब्धि है, खो रही है।' 47 के बाद भारत का आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचा ऐसा होना चाहिए था कि इस 'रैशनलिटी' या विवेक का लगातार विकास हो।

भारतीय नवजागरण के अनेक दुर्भाग्यों में एक यह भी है कि इसे सौ वर्ष से ज्यादा न मिल सके, जबकि पश्चिमी देशों को तीन-तीन, चार-चार सौ वर्ष मिले। वहां विज्ञान, प्रौद्योगिकी, सुधारवाद, अनुभववाद, आदर्शवाद, अंतर्राष्ट्रीयतावाद आदि को पनपने का पूरा अवसर मिला। नवजागरण वहां विकसित राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में आया तथा स्वंतत्र राजनीतिक वातावरण में आया। दिल्ली सल्तनत तथा मुगल साम्राज्य जैसी निरंकुश

तथा दकियानूस राज्य सत्ता वहा नही थी। एक निरकुश, दकियानूस तथा औपनिवेशिक वातावरण में भारतीय नवजागरण का नेतृत्व अविकसित राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग तथा शिक्षित मध्य वर्ग के हाथ में था। फिर भी यह जितना घटित हुआ, उसका महत्व कम नहीं है। अगर नवजागरण नहीं होता तो महात्मा गांधी नहीं होते, भगत सिंह नहीं होते तथा बीसवीं सदी के दूसरे दशक में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना नहीं होती। इन उभारों के लिए नवजागरण की पृष्ठभूमि ज़रूरी थी, विवेक का विकास ज़रूरी था।

हमें देखना होगा कि तमाम अंतविरोधों के बीच 19वीं शताब्दी में भारतीय विवेक का विकास किस ऐतिहासिक प्रक्रिया में हुआ - समाज में सुधारवाद, राष्ट्रवाद, आधुनिकीकरण एवं समाजवादी सिद्धांत कैसे प्रचारित हुए। विवेक ही जब धार्मिक रूढ़ियों से टकराता है तो सुधारवाद का, साम्राज्यवाद से टकराता है तो राष्ट्रवाद का, प्राचीनता से टकराता है तो आधुनिकीकरण का और आर्थिक विषमता से टकराता है तो समाजवादी सिद्धांतों का उदय और विकास होता है। विवेक से ही अब तक नवोन्मेष हुए हैं और जब जिस वर्ग ने इसे अपने सामाजिक संघर्ष में जैसे प्रयुक्त किया तब उस वर्ग के हित में वैसे परिणाम आये। चूंकि भारतीय नवजागरण का नेतृत्व राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग तथा शिक्षित मध्यवर्ग के हाथ में था, अत: अपने हितों की सीमा में इन्होंने सुधारवाद, राष्ट्रवाद तथा आधुनिकीकरण तक ही नवजागरण को सीमित रखा, क्योंकि इससे आगे बढ़कर कुछ सोचने और करने की क्षमता इन वर्गों में न थी। दुनिया के हर देश में नवजागरण की यही सीमा है। इस संदर्भ में भारतीय नवजागरण इसीजिए थोड़ा भिन्न है कि भारतीय जनता के सामंतवाद-साम्राज्यवाद दोनों से एक साथ मुख्य अंतर्विरोध की घड़ी में सुधारवाद तथा आधुनिकीकरण के अलावा उसका एक अन्य प्रमुख ऐतिहासिक लक्ष्य राष्ट्रवाद भी बन गया था। अत: आत्मपहचान के संघर्ष में राष्ट्रवाद का स्वर स्वाभाविक रूप से अधिक मजबूत हो गया।

भारत में नवजागरण की एक अंतर्धारा, सुधारवाद तथा आधुनिकीकरण के लक्ष्य लेकर चल रही थी, नेतृत्व में थे राजा राममोहन राय। वह भारतीय परंपरा की ओर एकांगी झुकाव के कारण केवल वेदांत को मानते थे और साम्राज्यवादी असर में पश्चिमीकरण पर बल देते थे। 1850 के बाद ब्रह्म-समाजियों ने वेदांत को भी त्याग दिया। यूरोपीय नवजागरण की धारणाओं से सटीक बैठने के कारण इतिहासकारों ने राजा राममोहन राय के काम को नवजागरण के नाम से अभिहित किया। भारत में नवजागरण की एक दूसरी धारा राष्ट्रवादी मुक्ति का लक्ष्य लेकर चल रही थी - संन्यासी, संथाल, भील, पोलिगार तथा कोल विद्रोह के भीतर से, जिसकी अंतिम परिणित हुई 1857 के राष्ट्रीय

विद्रोह में। यूरोपीय नवजागरण में विदित कारणों से ऐसे तत्व के अभाव के कारण अनेक इतिहासकारों ने इस घटना को संकीर्णतावश नवजागरण नहीं माना। इन्होंने नवजागरण को मुख्यत: ब्रिटिश शासन की नयी अर्थव्यवस्था तथा सभ्यता की देन कहा, जिसके संपर्क में सबसे पहले बंगाल आया। परंतु यह नवजागरण के बारे में सही दृष्टिकोण नहीं है। यह सच है कि नवजागरण का सूत्रपात (1815) राजा राममोहन राय के नेतृत्व में बंगाल में हुआ। उन्होंने सती प्रथा सहित अनेक सामाजिक बुराइयों से संघर्ष किया, शिक्षा की आधुनिक पश्चिमी पद्धति का प्रचार किया तथा भारतीय व्यापारियों का हित देखते हुए ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारिक विशेषाधिकारों को चुनौती दी। आर्य समाजियों को दार्शनिक जवाब देते हुए उन्होंने वेदांत का भी प्रचार किया तथा ब्रह्म समाज बनाया, जिसके लिए उन्हें राधाकांत देव जैसे रूढ़िवादी पंडितों का कोपभाजन होना पड़ा। फिर भी राजा राममोहन राय की नवजागरण दृष्टि एकांगी थी, उसमें राष्ट्रवाद का आवश्यक सारतत्व न था।

राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद डिरोजियो-पंथियों का काल आता है। डिरोजियो 1826 में कलकत्ता के हिंदू कालेज का अध्यापक बना तथा अपने प्रभाव से कालेज के युवकों को अतिशय बुद्धिवादी तथा पश्चिमपरस्त बनाने लगा। ये शराब पीने तथा गोमांस खाने को ही नवजागरण समझने लगे। राजा राममोहन राय ने केवल ब्रह्म समाज बनाया था, डिरोजियो के सिखाए मार्ग पर चलने वाले बंगाली युवक दो कदम आगे बढ़कर हिंदू धर्म से नफरत करने लगे। रसिक कृष्ण मलिक ने अदालत में गंगाजल लेकर सौगंध खाने से इनकार कर दिया। माइकेल मधुसूदन दत्त ने 1843 में ईसाई धर्म ही अपना लिया। डिरोजियों के शिष्य विचार से ही नहीं व्यवहार में भी विद्रोही थे। वे हर तरह की व्यवस्था पर सवाल उठाकर मानवाधिकार तथा व्यक्तिगत स्वाधीनता की मांग करते थे। यूरोप की बुर्जुआ जनतांत्रिक क्रांति का अधकचरा असर था यह, तभी वे हिंदू धर्म के प्रति गहरा क्षोभ प्रकट करते थे, पर ईसाई धर्म और साम्राज्यवादियों के प्रति उनकी आस्था भी बढ़ती जा रही थी। कला, साहित्य, कानून आदि क्षेत्रों में उनके महत्वपूर्ण योगदान को स्वीकारते हुए भी यह नहीं माना जा सकता कि 1833 से 1857 तक डिरोजियो-पंथियों ने नवजागरण के जो आदर्श उपस्थित किये, भारतीय नवजागरण वहीं तक सीमित है। प्राय: सभी पश्चिमपरस्त बुद्धिवादियों ने 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह का विरोध किया था तथा अंग्रेजों की दमन नीति का समर्थन किया था। बंगाल की सेना में विद्रोह के बावजूद बंगाल के बुद्धिजीवियों में राष्ट्रीय जागृति नहीं थी, उनकी चेतना सुधारवादी मांगों तक सीमित थी।

1857 से 85 के बीच भारतीय नवजागरण में राष्ट्रीय उत्कर्ष आया। खुद बंगाल के नवजागरण का रूप इस बीच वही नहीं था, जो राजा राममोहन राय के समय था तथा 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह से गुज़रे हिंदी प्रदेश भी संपूर्णत: पुरानी हालत में नहीं थे। यही परिवर्तन महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु में हुआ। पूरे भारत में नवजागरण की प्रकृति, अंतर्वस्तु और लक्ष्य में विस्तार आया। बंगाल, महाराष्ट्र आदि के नवजागरण की मुख्य अंतर्वस्तु 'सुधारवाद' (आधुनिकीकरण) तथा हिंदी प्रदेश के नवजागरण की मुख्य अंतर्वस्तु राष्ट्रवाद (अनौपनिवेशीकरण) के अंतर्मिश्रण से भारतीय नवजागरण का एक सामान्य रूप विकसित हुआ। सामंतवाद के साथ-साथ साम्राज्यवाद से भारतीय जनता के गहराते मुख्य अंतर्विरोध की प्रक्रिया में नवजागरण के स्वरूप में विकास स्वाभाविक था। इसी का फल था कि भारतेंदु ने स्त्री शिक्षा, सर्व धर्म-समभाव, अंतर्जातीयता, सदाचरण, विवेकवाद का ही प्रचार नहीं किया - सामंतवाद का ही मखौल नहीं उड़ाया; स्वत्व, निज भाषा और जातीय शिल्प तथा हिंदुस्तानी वस्तु (स्वदेशी) का भी प्रचार किया, बार-बार साम्राज्यवाद का भी मखौल उड़ाया। छद्मवेश में उनका साम्राज्यवाद-विरोध कितना प्रखर है, यह उनकी रचनाएं पढ़कर पता चलता है। 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह की प्रेरणा से ही ऐसी रचनाएं आयीं।

क़ार्ल मार्क्स ने 1857 के राष्ट्रीय-विद्रोह की बहुत प्रशंसा की थी, क्योंकि कौशल में पिछड़ा होकर भी अंतर्वस्तु में यह विद्रोह बहुत विकसित था। इस संदर्भ में गौर करने की बात है कि तथाकथित आधुनिक ब्रह्मसमाजियों तथा डिरोजियो-पंथियों ने 57 के राष्ट्रीय विद्रोह का खुला विरोध किया था। 'हिंदू पेट्रियट' वाले तथा सर सैयद अहमद जैसे लोगों ने भी इस संबंध में अंग्रेजों की दमन नीति का समर्थन किया था। यह सही है कि' 57 के विद्रोहियों में धर्म-भावना तथा सामंती चेतना मौजूद थी, उनमें बंगाल के बुद्धिजीवियों जैसा सुधारवादी विवेक नहीं था, पर क्या यह कम बड़ी बात है कि विद्रोह के साये में हिंदू, मुसलमान तथा सिख किसानों और सिपाहियों ने अभूतपूर्व राष्ट्रवादी एकता का परिचय दिया; उनके विद्रोह ने 'उपनिवेश' के विरुद्ध 'राष्ट्र' की धारणा खड़ी की। इसका असर भारतीय नवजागरण के दृष्टिकोण पर ही नहीं, ब्रिटिश साम्राज्यवादी रणनीति पर भी पड़ा। ईस्ट इंडिया कंपनी की जगह महारानी विक्टोरिया का शासन आया। अंग्रेज समझ गये कि उनके लिए सबसे अधिक खतरनाक हैं बंगाल, महाराष्ट्र तथा मद्रास के बुद्धिजीवी नहीं, हिंदी प्रदेश के किसान। इनकी राष्ट्रवादी चेतना को हर संभव उपाय से विखंडित करना, विवेकबुद्धि का विकास और सामाजिक विकास नहीं होने देना अंग्रेजी शासन का एक मुख्य लक्ष्य बन गया। भारतेंदु ने अविकसित हिंदी प्रदेश के लोगों पर टिप्पणी की है कि ये रात-दिन अपना पेट भरने में ही परेशान रहते हैं, बहुत छोटे चित्त के हैं तथा कोई

उत्साह शेष नहीं है इनमें। 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह को कुचलते समय अंग्रेजों ने हिंदी प्रदेशों को थरथरा दिया और इन्हें काबू में रखने के लिए साम, दाम, दंड, भेद सभी तरह की नीतियां अपना लीं।

भारतीय नवजागरण में भारतेंदु के साहित्यिक योगदान का ऐतिहासिक-सौंदर्यात्मक अध्ययन न केवल एक खास आधुनिक साहित्यकार, बल्कि संपूर्ण हिंदी प्रदेश की तत्युगीन मनोसामाजिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को समझने में सहायक हो सकता है। इसकी जानकारी मिल सकती है कि उस समय हिंदी प्रदेशों में सामाजिक चेतना का स्तर क्या था। वे बंगाल के नवजागरण के विवेकवादी पहलुओं में कितनी रुचि ले रहे थे एवं खुद वहां के नवजागरण को अपने राष्ट्रवादी सारतत्त्व से कितना प्राणवान बना रहे थे। यह सर्वविदित है कि भारतेंदु ने अनेक बार बंगाल तथा उड़ीसा की यात्राएं कीं। वे बंगाल के नवजागरण के कर्णधार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, राजेन्द्रलाल मित्र आदि के गहरे संपर्क में आये। बंगाल के इन नवजागरण कर्मियों ने भी भारतेंदु से हमेशा संबंध बनाये रखा और उनको इज्जत दी। संभवत: 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह की धारा में मौजूद रूढ़िवादी तत्त्वों से क्षुब्ध रहने के कारण ही भारतेंदु के मन में बंगाल के नवजागरण कर्मियों से प्रेम था। इसी प्रकार भारत 'दुर्दशा के प्रति हमेशा चिंतित रहने तथा साम्राज्यवाद-विरोधी झुकांव के कारण ही भारतेंदु बंगाल के नवजागरण कर्मियों के बीच लोकप्रिय थे। समग्रता में यह संबंध व्यक्तिगत ही नहीं, वैचारिक भी था। इसका उद्देश्य था बुद्धिवाद तथा राष्ट्रवाद को परस्पर विरोधी प्रवृत्ति के रूप में न देखकर अंतर्मिश्रित करना। औपनिवेशिक सुधारवाद की ओर जाकर बुद्धिवाद तथा सामंतवाद की ओर बढ़कर राष्ट्रवाद विकृत हो जाता है। हमारे लिए गहरी शिक्षा की बात है कि थोड़ी दूर तक भटकने के बाद आधुनिकतावाद और प्राच्यवाद दोनों साम्राज्यवाद के विरोध में खड़े होने लगे थे। पश्चिमी बुर्जुआ जनतांत्रिक क्रांति के दीवाने बुद्धिवादी तथा गौरवशाली भारतीय परंपरा की आन प्रदर्शित करने वाले राष्ट्रवादी 1857-85 में एक खास बिंदु पर मिल रहे थे और अपने अंतर्विरोधों से उबरने की लगातार कोशिश में थे। 'कोशिश' इसलिए कहा जा रहा है कि 19वीं सदी के तत्युगीन भारतीय वातावरण में विवेकशील-वैज्ञानिक दृष्टि और राष्ट्रवाद के चरम विकास की मांग गलत है। हमें उस युग के बौद्धिक-राष्ट्रीय उभारों को एक विकास में देखते हुए, इन बातों की छानबीन करनी चाहिए कि विभिन्न कार्यों के माध्यम से बंगला नवजागरण के बुद्धिवादी सारतत्त्व तथा 1857-विद्रोह के राष्ट्रीय सारतत्त्व का अंत: मिश्रण किस प्रकार हो रहा था, संपूर्ण अस्मिता तथा स्वत्व के ऐतिहासिक संघर्ष में नवजागरण का व्यापक भारतीय परिप्रेक्ष्य किस सामाजिक-साहित्यिक प्रक्रिया में

विकसित होकर एक महान क्रांति की ओर बढ़ रहा था और 1885 की कांग्रेस किस प्रकार इस महान क्रांति की राह में प्रथमत: एक रुकावट के रूप में सामने आयी थी।

भारतीय जनता सदा से अपनी परंपरा में बहुत आस्था रखती आयी है। अत: पश्चिमीकरण के आवेश में जिन बुद्धिजीवियों ने परंपरा-विरोध की उग्र लाइन चुनी, वे साधारण जनता से सामान्य तौर पर विच्छिन हो गये। और अंतत: साम्राज्यवाद के आगे आत्मसमर्पण की दिशा में बढ़े। इसी तरह आधुनिकीकरण-विरोध की उग्र लाइन पर चलने वाले पंरपरावादी भी सामंतवाद की हिफाजत के लिए साम्राज्यवाद पर निर्भर हुए। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के सभी तत्त्व साम्राज्यवादी लक्ष्यों को सिद्ध नहीं करते थे, इस प्रक्रिया के मानवीय तथा जनतांत्रिक तत्त्व नवजागरण के उत्प्रेरक थे। इसी तरह परंपरा के सभी तत्त्व सामंतवाद तथा साम्राज्यवाद के लक्ष्यों को सिद्ध नहीं करते थे। इस प्रक्रिया के मानवीय तथा जनतांत्रिक तत्त्व नवजागरण के उत्प्रेरक बन रहे थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, ईश्वर चंद्र विद्यासागर, अपनी विवेकशील वैज्ञानिक दृष्टि से दोनों तरफ की अच्छी चीजें चुनकर भारत को आत्मपहचान तथा स्वत्व की एक नयी राह दिखा रहे थे। इनमें भारतेंदु हरिश्चंद्र थोड़ा भिन्न इसलिए कहे जा सकते हैं कि वे बाकी दोनों की तरह अंग्रेजी राज की चाकरी से दबे नहीं थे। वे अधिक उन्मुक्त वातावरण में काम कर रहे थे। इसलिए अपने समकालीनों में आधुनिकीकरण के प्रति किसी से कम आग्रही न होते हुए भी सबसे स्पष्ट साम्राज्यवाद- विरोधी भारतेंदु ही थे।

अपने नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा व भवति' में डिरोजियोपंथियों के दृष्टिकोण 'संसार का सार मदिरा और मांस है' से एक अलग लाइन लेते हुए भारतेंदु ने नशे का जो विरोध किया है, सो किया ही, उन लिबरलों पर भी उन्होंने व्यंग्यात्मक प्रहार किया, जो औपनिवेशिक सुधारवाद के समर्थक थे। यमराज की सभा में चित्रगुप्त सूचना देते हैं, "सरकार अंग्रेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है, उसको 'स्टार ऑफ इंडिया की पदवी मिलती है।'' भारतेंदु सिर्फ उन्हीं लिबरलों या आधुनिकीकरण प्रेमियों के समर्थक थे जो अंग्रजों के चित्तानुसार उदारता न रखकर, 'स्वत्व निज भारत गहै' की विचारधारा में विश्वास रखते थे। जो अंग्रेजों के चित्तानुसार बैठते और खड़े होते थे, ऐसे बुद्धिजीवियों तथा रूढ़िवादियों - दोनों का विरोध भारतेंदु ने किया। उपनिवेशवाद के संदर्भ में दोनों के रूप में उन्हें भयानकता नज़र आयी - "इधर नयी रोशनी के युवक कहते हैं -'दिल्लीश्वरों वा जगदीश्वरों' सुनते-सुनते जी थक गया। ..... उधर प्राचीन लोग कहते हैं, हमारे यहां तो 'सर्वदिय भयो नृप: लिखा ही है, जिनता बन सके इनका आदर करो'' (मानसोपायन)। उस युग के आधुनिकतावादी और प्राचीनतावादी दोनों तरह के लोगों के पास उपनिवेशवाद के समर्थन का अपना-अपना तर्क था, जिससे तंग आकर

भारतेंदु ने निष्कर्ष निकाला कि भारतवासियों में सत्ता की खुशामद का संस्कार बहुत पुराना है। 'अंग्रेज स्तोत्र' मुकरियों आदि में भारतेंदु की साम्राज्यवाद-विरोधी भावना स्पष्ट है, यह नवजागरण में एक नये सारतत्त्व के प्रवेश की सूचना है।

इसमें संदेह नहीं कि भारतेंदु ने अनेक स्थल पर 'जीवौ सदा विक्टोरिया रानी' जैसी बातें लिखी हैं, पर यह उनका मूल कथ्य न होकर कौशल है। भारतेंदु का मुख्य कथ्य भारत की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक दुर्दशाओं तथा इनसे मुक्ति से संबंधित है। 'जीवौ सदा विक्टोरिया रानी' के समस्यापूर्ति वाले पद को ही लें, उसमें ऐसी पंक्तियाँ भी हैं "दीन भये बलहीन भये, धनहीन भये सब बुद्धि हिरानी, ऐसी न चाहिए आपु के राज प्रजागन क्यों मछरी बिनु पानी।" अंग्रेजी राज पर इतना बड़ा प्रहार उस युग के किसी दूसरे नवजागरण कर्मी ने किया, इसमें संदेह है। निश्चय ही भारतेंदु के काम में अंतर्विरोधों की कमी नहीं है, पर इनके प्रति चौकस रहते हुए उन्होंने अपनी चेतना का हमेशा विकास किया। 1880 के बाद उनके साहित्य और विचारधारा में एक मोड़ आया। 'विजय वल्लरी' (1882) तथा 'विजयी विजय वैजयन्ती' (1884) में पुराने कौशल को सुरक्षित रखते हुए भी कहीं भारतमाता से आग्रह नहीं है कि वह सुधार के लिए रानी विक्टोरिया या राजकुंवर से बातचीत करे, अपना दुखड़ा सुनाये। इसकी जगह भारत की ऐतिहासिक गौरव गाथाएं प्रस्तुत हैं, जो संकेत देती हैं कि भारत का इतिहास किसी के आगे रोकर दुखड़ा सुनाने का नहीं है, संघर्ष का है।

रिपन के कुछ सुधारों के बावजूद 1880 के बाद का भारत गुस्से से खौल रहा था। पिछले दशक के दकन का किसान-विद्रोह (1875) तथा बंगाल के समदर्शी गुट द्वारा स्वायत्त शासन की मांग (1876) से अंग्रेज़ सरकार घबराई हुई थी। 1882 में बंकिमचंद्र ने 'बंदे मातरम्' की रचना की। इसी लाल भारतेंदु ने 'अंग्रेज स्तोत्रं' लिखा। दो साल बाद एक गांव बलिया में उन्होंने ललकारा, "बंगाली, मरहट्ठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मणों, मुसलमान - सब एक का हाथ एक पकड़ो। कारीगरी- जिसमें तुम्हारे यहां बढ़े। तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देश में रहे, वह करो। भाइयों, अब तो नींद से चौंकों, अपने देश की सब प्रकार उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो, वैसी ही किताब पढ़ो वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो। परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा पर भरोसा मत करो" (क) भारतीय जातियों की राष्ट्रवादी एकता, (ख) स्वदेशी तथा (ग) निज भाषा की उन्नति भारतीय नवजागरण के वे तत्त्व हैं, जो राजा राममोहन राय के समय के नवजागरण में नहीं थे। शिक्षा कारीगरी तथा उद्योग के विकास की बात राममोहन भी कहा करते थे। पर इसमें 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह से प्रेरणा लेकर जो नये तत्त्व जुड़े, वे काफी

महत्त्वपूर्ण हैं। भारत को माता के रूप में देखा जाने लगा, 'मदर कल्ट' पैदा हुआ। भारतीय समाज के औपनिवेशिक दमन की प्रतिक्रिया में ही भारतमाता का बिंब बना। एक नयी राष्ट्रीय संस्कृति की नींव पड़ी, जो जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्रीयता के ऊपर थी।

स्वेदशी आंदोलन तथा राष्ट्रीय बुर्जुआजी के विकास में नवजागरण प्रमुख रूप से सहायक हुआ। गांधी ने विदेशी के बहिष्कार तथा स्वदेशी के प्रसार का जो नारा दिया, वह गुजरात तथा हिंदी प्रदेश में 19वीं शताब्दी में ही मौजूद था। जहां तक भाषा का सवाल है, दयानंद सरस्वती, केशवचंद्र सेन, बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर जैसे अहिंदी भाषी नवजागरण कर्मियों ने थोड़ा और आगे बढ़कर व्यापक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक हित में हिंदी पर खास बल दिया। इन्होंने भारत के आधुनिक जीवन में हिंदी की भूमिका एवं महत्व का रेखांकन किया। एक दूसरी ही लहर थी उस जमाने में, जो उच्चतर राष्ट्रीय लक्ष्यों से पैदा हुई थी। नवजागरण कर्मी नीचे के तबकों से जुड़ रहे थे। भारतेंदु बलिया के किसानों को आशा भरी निगाहों से देख रहे थे, इसका क्या अर्थ है? उनकी नवजागरण-दृष्टि के मूल आधार में देश के साधारण ग्रामीण हैं, पश्चिमी शिक्षा प्राप्त मध्यवर्ग नही। विद्यासागर तथा विवेकानंद की भांति उन्होंने साधारण ग्रामीणों में ही आस्था व्यक्त की (जातीय संगीत) और कहा कि इन लोगों में चेतना लाने की कोशिश करनी चाहिए। 1880 के भारतेंदु के विचारों में जो विकास आया, उसको ध्यान में रखे बिना उनका समग्र पुनर्मूल्यांकन असंभव है।

भारतेंदु के वैचारिक विकास का ही परिणाम है कि 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' में दयानंद सरस्वती (1824-83) तथा केशवचंद्र सेन (1834-84) पर उनकी टिप्पणी बहुत विवेकपूर्ण है। इससे पता चलता है कि उन्होंने अपने युग के नवजागरण को ऐतिहासिक विच्छिन्नता में नहीं, समग्र विकास में देखा है। वे खुद न आर्य समाजी हुए न ब्रह्मसमाजी, पर दोनों की सुधारवादी भूमिका की उन्होंने प्रशंसा की। दयानंद सरस्वती को उन्होंने खरी-खोटी सुनाई तथा ब्रह्म समाजियों के अर्ध ईसाईपन की आलोचना की। इन सुधारवादियों ने नयी चुनौतियां तो स्वीकार कीं, लेकिन भारतीय परंपरा को उसकी समग्रता में नहीं देखा। उनमें से एक ने केवल वेद तथा दूसरे ने केवल वेदांत को परम माना। एक तरह से उनकी आधुनिक सुधार चेतना में वैदिक या वेदांती पुनरुत्थानवाद का असर बहुत अधिक है।

भारतेंदु ने भारत की परंपरा को निरंतरता में देखा था। तभी, जब स्वर्ग में दो दल हो गये, वह लिबरल दल में केवल दयानंद सरस्वती तथा केशवचंद्र सेन को रख कर संतुष्ट नहीं हुए। उनकी परंपरा खोजते हुए भारतेंदु की निगाह भक्ति आंदोलन के महान

मानवतावादियों की ओर भी गयी। इन्होंने फैंटेसी की भाषा में लिखा कि लिबरल दल में दयानंद तथा केशवचंद्र सेन के पक्ष में "चैतन्य प्रभृति आचार्य, दादू, नानक, कबीर प्रभृति भक्त ज्ञानी लोग थे।" लिबरल लोगों के नवजागरण को भारतेंदु ने ऐतिहासिक विकास में देखा, इसका रिश्ता भक्ति आंदोलन से स्थापित किया। लेकिन इसका केवल यही मतलब है कि भक्ति आंदोलन के दौरान भी सीमित स्तर पर विवेकपरक ज्ञान का प्रस्फुटन हुआ था–मीरा, चैतन्य महाप्रभु, दादू, गुरुनानक, कबीर, तुलसी आदि भक्तों ने अखंडित मानवता की पीड़ा व्यक्त की थी और अनेक सामंती संकीर्णताओं का विरोध किया था। ये सामंतवाद के संपूर्णत: विरोधी थे तथा पूंजीवादी आदर्शों के प्रवक्ता थे, ऐसी बात नहीं है। इसलिए भक्ति आंदोलन को यूरोपीय रेनसां के स्तर पर रखना (रामविलास शर्मा) भक्ति आंदोलन का अतिमूल्यन है और भारतीय नवजागरण को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना नहीं है। इस संबंध में केवल यह निर्धारित करना चाहिए कि भक्ति आंदोलन सामंती ढ़ांचे के भीतर का ही एक आध्यात्मिक मानवतावादी जागरण है, जिसके प्राक्-जनतांत्रिक तत्त्वों को 19वीं सदी में नया विकसित रूप मिला। इस प्रकार भारतीय नवजागरण में नयी चुनौतियों के कारण जहां कुछ नये तत्त्व पैदा हुए, यह भी स्वीकार करना चाहिए कि उसमें एक नैरंतर्य भी विद्यमान है।

चिंता का विषय है कि कुछ आलोचक 19वीं सदी के भारतीय नवजागरण का अस्तित्व ही नकारते हैं। यह कहकर कि आज के युग की सारी बुराइयों की जड़ नवजागरणकालीन समाज है, अथवा यह सवाल उठाते हैं कि नवजागरण के पहले क्या हमारा समाज सोया हुआ था, क्या पहले भी अनेक बार लोगों में जागरण नहीं आया था ! पुनरुत्थानवादियों और आधुनिकतावादियों की ओर से ये कोशिशें अधिक हो रही हैं, जिनके प्रति हमें सावधान रहना चाहिए। वे लोग पूरी 19वीं सदी तथा 20वीं सदी के लगभग दो दशकों के ऐतिहासिक भारतीय जागरण का निषेध कर रहे हैं, ताकि धर्मोन्माद, पृथकतावाद, आंचलिकतावाद, वर्णवाद तथा अंग्रेजियत और नव उपनिवेशवाद को फिर से पनपने का अवसर मिले। हमारे लिए चुनौती यह है कि हिंदी प्रदेशों में, जहां नवजागरण बहुत अधूरे रूप में आया, आर्थिक-राजनीतिक संघर्ष के कार्यक्रम के साथ नवजागरण के अधूरे काम को भी कैसे संयुक्त किया जाये, क्योंकि इसके बिना आर्थिक-राजनैतिक मुक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती।

भारतेंदु ने हिंदी प्रदेश के सामाजिक पिछड़ेपन पर काफी बेचैनी प्रकट की थी। उन्होंने पश्चिमी सभ्यता के साथ-साथ अतीतवाद या परंपरावाद का भी विरोध किया था। वह हिंदी प्रदेश के लोगों को आपसी बैर और रूढ़िवाद के पंजे से मुक्त कराना चाहते थे। इसलिए

उन्होने एकता और वैज्ञानिक दृष्टि पर लगातार जोर दिया। वह वैष्णव थे, लेकिन उन्होंने भक्ति को निजी घटना से ऊपर नहीं माना। उनका सामाजिक सरोकार विस्तृत था। वैष्णव होने के बावजूद उन्होने कुरानशरीफ का अनुवाद करना शुरू किया। पांचों पैगंबरों की जीवनी लिखी। सिलेक्ट कमिटि में चैतन्य महाप्रभु के साथ गुरुनानक को भी रखा। 1873 में बंगाल में अकाल पड़ा तो भारतेंदु विचलित हुए तथा इसे अंग्रेजी सरकार के ही शोषण का एक रूप माना। उनका जितना ध्यान नये साहित्यिक रूपों और विधाओं पर था, लोककथाओं और लोक तत्त्वों पर भी था। जितना शिक्षित वर्ग पर था, किसान वर्ग पर भी था। वह भारतीय समाज का मुख्य अंतर्विरोध पहचानते थे, तभी उनके साहित्य का भारतीय जनता के सामंतवाद-साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष से बहुत घनिष्ठ संबंध है।

सुधारवाद शोषण-दमनमूलक व्यवस्था का एक अमोघ कवच है। लंबे काल के जन असंतोष को शांत करने के लिए 1858 में ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यवस्था ने फैसला लिया कि कुछ सुधार करने होंगे। साम्राज्यवादी व्यवस्था की तरफ झुकाव रखनेवाले विशिष्ट वर्ग का ख्याल था कि भारतीय समाज ब्रिटिश साम्राज्यवाद का तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद भारतीय समाज का पूरा 'मजा' तब तक नहीं ले पायेगा, जब तक भारतीय समाज कठोर धार्मिक परंपराओं से जकड़ा हुआ है। इसलिए राजा राममोहन राय ने 16वीं शताब्दी के आरंभ में ही 'सुधारवाद' का रास्ता दिखाया था। प्रथम राष्ट्रीय विद्रोह का कोई संबंध उपर्युक्त सुधारवाद की कोख से न था, बल्कि इसकी छत्रछाया में काम करने वाले सर सैयद अहमद जैसे व्यक्तियों ने 1858 के विद्रोह का विरोध किया था। इस विद्रोह को कुचलने के बाद अंग्रेज़ी राज के पांव जम गये, लेकिन सुधारों की ज़रूरत इसने तल्खी से महसूस कर ली और विक्टोरियाई सुधारवाद की, जो वस्तुत: 'औपनिवेशिक सुधारवाद' का सरकारी रूप था, परंपरा विकसित हुई। 21वीं सदी की देहरी पर विदेशी पूंजी को खुला आमंत्रण एवं नयी आर्थिक नीति से उपर्युक्त औपनिवेशिक सुधारवाद की तुलना की जा सकती है।

सुधारवाद का एक दूसरा रूपभेद है, 'क्रांतिकारी सुधारवाद'। औपनिवेशिक सुधारवाद उपनिवेशवाद के हक में चलता है, क्रांतिकारी सुधारवाद जनता के जनतांत्रिक संग्राम के हक में। औपनिवेशिक सुधारवाद अंधा होता है, यह सारगर्भित राष्ट्रीय परंपराओं को रौंदता चलता है, और हमेशा विशिष्ट वर्ग को तुष्ट करता है। क्रांतिकारी सुधारवाद दृष्टिसंपन्न होता है, यह राष्ट्रीय परंपराओं से विकासशील संबंध रखता है और हमेशा साधारण कृषक-मजदूर वर्ग के हित में काम करता है। औपनिवेशिक सुधारवाद लोगों को परजीवी बनाता है और एकांगी नवजागरण लाता है, जबकि क्रांतिकारी सुधारवाद लोगों को आत्मसचेत करता है और समग्र नवजागरण लाता है। भारतेंदु ने 1857 के विद्रोह की असफलता तथा

देश के शासन पर अंग्रेजी की मजबूत राजनैतिक-सैनिक पकड़ का जब अच्छी तरह अहसास कर लिया, तब धारणा बनाई कि अंग्रेज़ी राज को सैनिक रास्ते से हटाना संभव नहीं है, क्योंकि अंग्रेज़ों की सेना बहुत विशाल और आधुनिक है। उनके सामने एक ही रास्ता था, व्यापक उपनिवेशवाद-विरोधी संग्राम के लिए क्रांतिकारी सुधारों का प्रचार कर भारतीय समाज को गतिशील ढांचा देने का और सुधार भी इस प्रकार करने का कि इसका फल भारतीय जनता का जनतांत्रिक संघर्ष चखे, उपनिवेशवाद नहीं। भारतेंदु के समग्र नवजागरण के दृष्टिकोण की मूल प्रेरणा यही है। आज दूसरे नवजागरण के दौर में एक वैसी ही चेष्टा की जरूरत है।

भारतेंदु राजनीति को उपेक्षा से नहीं देखते थे और आधुनिक युग के आर्थिक-सांस्कृतिक विकास में इसकी भूमिका को पर्याप्त महत्त्व देते थे। उन्होंने साहित्य और राजनीति में संबंध माना। उनके साहित्य का तीन-चौथाई हिस्सा राजनीति-आधारित है, उसमें साम्राज्यवाद-सामंतवाद का मखौल है। इसलिए भारतेंदु के सुधारवाद की सबसे बड़ी खूबी है कि उसके पीछे एक स्पष्ट राजनैतिक दृष्टिकोण है। वह नयी रोशनी के बौद्धिक गुलामों के स्वर में दिल्लीश्वर वायसराय को जगदीश्वर नहीं कह सकते थे, यह देखते हुए भी कि इस तरह के लोग धार्मिक अंधविश्वास के विरुद्ध हैं तथा सामाजिक सुधार ला रहे हैं। इनके सामाजिक सुधारवाद का ढंग कैसा है, इसे भारतेंदु ने स्पष्ट किया है 'भारत दुर्दशा' में। पुस्तकालय की बैठक के एक दृश्य में, देश का सुधार करने के लिए नयी रोशनी के लोग इकट्ठे हैं। ये बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। एक देसी साहब कहते हैं-'क्यों भाई साहब, इस कमेटी में आने से कमिश्नर हमारा नाम तो दरबार से खारिज न कर देंगे।'बैठक में एक कवि भी हैं। भारत दुर्दैव के मुकाबले देशप्रेमियों की फौज भेजने के स्थान पर वह हाथ मटकाकर यह कहना चाहते हैं-'मुए, इधर न आइयो! इधर जनाने हैं।' एक पत्रिका के संपादक भी खूब फरमाते हैं- 'एजूकेशन की सेना बनायी जाय। कमेटी की फौज। अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले मारे जायं।' इन्हीं हालातों पर भारतेंदु ने एक देसी साहब से कहलवाया-'मगर जब कमेटी में हैं तभी तक। बाहर निकले कि फिर कुछ नहीं।' उस समय के नवशिक्षित सुधारवादियों की साम्राज्यपरायणता, कायरता तथा बतौलाबाजी को उघाड़कर भारतेंदु ने वस्तुतः यही कहना चाहा है कि क्रांतिकारी दृष्टि के बिना सच्चा सुधार संभव नहीं है।

उनका एक संकेत और है। देसी साहबों से उनका आशय हिंदी प्रदेश के सुधारवादियों से है, जबकि 'भारत दुर्दशा' में इनके अलावा एक सुधारवादी बंगाली तथा दूसरा महाराष्ट्री है। इन सबके माध्यम से वह बंगाल-महाराष्ट्र की सामाजिक स्थिति तथा हिंदी प्रदेशों की

सामाजिक स्थिति का अंतर भी दिखाते हैं। 'भारत जननी' (1877) में यह अंतर एक पाद टिप्पणी में और अधिक स्पष्ट हो जाता है-'बंग भाषा में एका और उत्साह का प्रवेश भी दिखाया गया है, किंतु इस देश में अभी न एका है, न उत्साह। इस हेतु उनका सर्वांग यहां नहीं लाये।' इन पंक्तियों में भारतेंदु ने वस्तुत: हिंदी प्रदेश का अनुभव ही व्यक्त किया है कि बंगाल की तरह यहां एका और उत्साह नहीं है। गोकि 'भारत दुर्दशा' की भांति 'भारत जननी' का अंत निराशावादी नहीं है, लेकिन इसे पढ़कर लगता है कि हिंदी प्रदेश में नवजागरण के कार्य की दुष्करता का अंदाजा भारतेंदु को था। तभी भारतमाता अपने बेटों को उठाना चाहती है। पर एक को उठाती है तो दूसरा सोता है और दूसरे को उठाती है तो पहला सोता है। इसी भांति सबको भारत माता ने उठाया, किंतु सब के सब पूर्ववत सो गये' (भारत जननी)। व्यापक सामाजिक जड़ता और कूपमंडूकता के कारण हिंदी नवजागरण का कार्य रेगिस्तान में नदी ले जाने की तरह था।

जनता को तबाह करने तथा उसकी संघर्ष शक्ति छिन्न-भिन्न करने के लिए साम्राज्यवादी तरह-तरह से तत्पर रहते हैं। 'भारत दुर्दशा' में भारतेंदु ने इस पर भी गौर किया-''फूट, डाह, लोभ, भय, उपेक्षा, स्वार्थपरता, पक्षपात, हठ, शोक, अश्रुमार्जन और निर्बलता–इन एक दरजन दूती और दूतों को शत्रुओं की फौज में हिलामिलाकर ऐसा पंचामृत बनाया कि सारे शत्रु बिना मारे घंटा पर के गरुड़ हो गये। फिर अंत में भिन्नता गयी। इसने ऐसा सबको काई की तरह फाड़ा कि भाषा, धर्म, चाल, व्यवहार, खाना-पीना, सब एक-एक योजन पर अलग-अलग कर दिया। अब आवें बचा ऐक्य। देखें आ ही के क्या करते हैं।'' आज जिन साम्राज्यवादी साजिशों के परिणामस्वरूप मध्य वर्ग अंतर्विभाजित है, मजदूर वर्ग अंतर्विभाजित है, देश, परिवार और लोग अंतर्विभाजित हैं, उन साजिशों की पहचान भारतेंदु को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अनुभव से हो चुकी थी। उसी समय उन्होंने जनता को सावधान भी कर दिया था।

भारतेंदु ने अंग्रेजी राज का सिर्फ एक वरदान माना–शिक्षा। वह विलायत की प्रशंसा इसलिए करते थे कि वहां विद्या का प्राबल्य है, वहां के समाज में जनतंत्र की झलक है। इसलिए वह अंग्रेजों में भी दो तरह के लोग देखते थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनमें पश्चिम के अंतर्विरोधों की समझ थी। वे वहां की मानवीय, वैज्ञानिक तथा जनतांत्रिक उपलब्धियों का लाभ भारतीय जनता तक पहुंचाना चाहते थे–''विद्या का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चला आता है। अब सोने का समय नहीं है। अंगरेज राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे। मूर्खों के प्रचंड शासन के दिन अब गये, अब राजा ने प्रजा का स्वत्व पहचाना। विद्या की चर्चा फैली, सबको सबकुछ कहने–सुनने का अधिकार मिला, देश-विदेश से

नयी-नयी विद्या और कारीगरी आयी। तुमको उस पर भी वही सीधी बातें, भांग के गोले, ग्राम गीत, वही बाल्य विवाह, भूतप्रेत की पूजा, जन्म पत्री की विधि!'' जबकि जन्मपत्री जैसी चीजें वर्तमान आधुनिक समाज में अभी तक चल रही हैं, शिक्षितों के मध्य भी भूत-प्रेत-जिन की धारणा विद्यमान है, भारतेंदु ने अपने जमाने में इन अंधविश्वासों का जमकर विरोध किया। जोखिम उठाकर भी जो उन्होंने लिखा – 'हिंदुओं का शास्त्र पंसारी की दुकान है' जातिप्रथा की भी खिल्ली उड़ाई 'सबै जाति गोपाल की' लिखकर। वह धर्म में परिष्करण चाहते थे, ताकि इस रास्ते से राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना के विकास में जो बाधाएं उत्पन्न होती हैं, वे दूर हों। उन्होंने निरूपित किया, समाज की उन्नति का मूल धर्म है।जहां का धर्म परिष्कृत नहीं, वहां का समाज उन्नत नहीं, दिल्ली सल्तनत तथा मुगल शासन में हिंदुओं पर अत्याचार हुए, इसका उन्हें रंज था, फिर भी सांप्रदायिकता उन्हें छू तक नहीं गयी थी। सभी संप्रदाय और वर्ग के लोगों के प्रति आदर रखते हुए अंततः वह चाहते थे कि लोग रूढ़ियों को त्यागें और आधुनिक जीवन अपनाए। समग्रता में यह कबीर की परंपरा का आधुनिक विकास था।

आधुनिक शिक्षा की वजह से ही यह चमत्कार हुआ। पर इसके दोषों को ऐसा नहीं है कि भारतेंदु नहीं समझते थे। उन्होंने मुख्य दोष यही देखा कि अंग्रेजी राज ने शिक्षा का अर्थ संकुचित कर दिया है। इसका सीमित लक्ष्य है साम्राज्यवाद के चाकर तैयार करना, उस पर हालत यह है कि 'तीन बुलायें तेरह आवें। दूसरा दोष है वैचारिक परजीविता, जो जितना अधिक शिक्षित है, वह बौद्धिक तौर पर उतना ही अधिक गुलाम है। नयी रोशनी के ऐसे लोग कायर और स्वार्थी हैं।

भारतेंदु ने स्त्री-शिक्षा का प्रचार किया, लेकिन ऐसी स्त्री-शिक्षा का नहीं, जो स्त्री को निर्लज्ज बनाती है।'नील देवी' की भूमिका में उन्होंने सिर्फ इन्हीं संदर्भों में भारतीय स्त्रियों को आगे आने का आह्वान किया–''और बातों में जिस भांति अंगरेज स्त्रिया सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का कामकाज संभालती हैं, अपने संतान गण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और देश की संपत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को गृहदासता और कलह ही में नहीं खोतीं''। स्त्री को घर की दासता और कलह से आज़ाद कर सक्रिय राष्ट्रीय-सामाजिक कर्मी बनाने की परिकल्पना 19वीं शताब्दी के नवजागरण का एक प्रमुख आयाम है।

भारतेंदु को अपने जमाने में एक नयी चीज का ज्ञान हुआ था, 'स्वत्व' का। 'स्वत्व' 19वीं सदी के नवजागरण की एक मुख्य खोज है। हम साफ देखते हैं कि भारतेंदु आधुनिकीकरण

के समर्थक थे, पर 'स्वत्व' की कीमत पर नहीं। क्योंकि वह उन सुधारवादियों की तरह नहीं थे, जिन्हें समाज सुधार की चकाचौंध से अपने 'स्वत्व' तथा जाति और देश के औपनिवेशिक आर्थिक शोषण की ज़रा भी फिक्र नहीं थी। भारतेंदु के नवजागरण का स्वप्न इंगलैंड के आधुनिक समाज के जनतांत्रिक जागरण और भारत की गौरवशाली परंपरा के बीच रचनात्मक संवाद का परिणाम है, किसी आत्मविसर्जनवाद का परिणाम नहीं।

ब्रिटेन की जनतांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था का कोई चिह्न भारत की औपनिवेशिक शासन-व्यवस्था में नहीं था, सुधारों के बावजूद। सभी सुधार छद्मवेशी थे। जिन दिनों औपनिवेशिक लाइन पर चलने वाले सुधारवादी देशवासी अंग्रेजों की न्यायशीलता के आगे मत्था टेकते थे, भारतेंदु ने 'कविवचन सुधा' (13 अगस्त, 1874) में क्षुब्ध होकर लिखा था, 'कोई नहीं सुनता, अंधेर नगरी है। व्यर्थ न्याय और आज़ादी देने का दावा है। सब स्वार्थ साधते हैं।' अपने प्रहसन 'अंधेर नगरी' में उन्होंने औपनिवेशिक सामंती व्यवस्था की विसंगतियों को उभारा था तथा अपने जमाने के तथाकथित न्याय और आज़ादी की इतनी दूरंदेशी से खिल्ली उड़ाई कि वह प्रहसन आज भी हमें मनोरंजन देने के साथ आत्मसचेत करता है। अंग्रेज़ों की औपनिवेशिक-सामंती शासन व्यवस्था आंदोलनों के दबाव से कभी बहुत मज़बूर हो जाती थी, तभी किसी सामाजिक सुधार में हाथ डालती थी, अन्यथा कहीं से उसकी दिलचस्पी भारतीय सामाजिक ढांचे को गतिशील बनाने एवं इसमें न्याय और आज़ादी की स्थापना करने में न थी।

भारतेंदु ने 'विषस्य विषमौषधम' (1876) में दिखाया कि बड़ौदा नरेश मल्हार राव को हटाने के बाद जब सीधा अंग्रेज़ी राज स्थापित हो गया, तब भी पुरोहित भंडाचार्य खुश थे, क्योंकि विद्या तर्कबुद्धि, विज्ञान के साधनों से लैस होने के बावजूद अंग्रेजी राज ने धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों पर कोई अंकुश नहीं लगाया और भारतीय संदर्भ में सामाजिक विशेषाधिकार पिछड़ापन दूर करने में दिलचस्पी न ली। इसी तरह वर्तमान समय में भी विज्ञान और राजनीति का समाज से ऐसा कोई संबंध नहीं पैदा किया जाता, जिससे हमारा समाज रूढ़ियों, पाखंडों और आध्यात्मिक चमत्कारवाद की अवधारणाओं से मुक्त हो जाये।

'विषस्य विषमौषधम्' के भंडाचार्य वस्तुतः उन धार्मिक पाखंडियों के आचार्य हैं, जिनकी करतूतों के आगे भक्त हृदय भारतीय जनता निढाल थी। भंडाचार्य कहते हैं, 'अंगरेज ! राम और युधिष्ठिर का राज्य इस काल में प्रत्यक्ष कर दिखाया। अहा हा ! (ऊपर देखकर) क्या कहा ? कहो और क्या चाहते हो ? भला और क्या चाहिए, हमारा भंडपना जारी ही रहा.....!'' ऐसे ही उद्धरणों के संदर्भ में लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय जैसे आलोचकों ने कहा कि भारतेंदु राजभक्त थे। जबकि इस उद्धरण का आशय सिर्फ यह है कि मल्हार राव दूध

की मक्खी की तरह निकाल फेंके गये और अंग्रेजों ने अपने हाथ में सत्ता ले ली, तब भी समाज में भंडाचार्य का धार्मिक पाखंड जारी रहा। सत्ता बदली, व्यवस्था नहीं।

भारतेंदु को इसका अहसास था, कि एक तरफ ताकत है और दूसरी तरफ सच्चाई। परंतु वह राजा हरिश्चंद्र की तरह सच पर अटल थे। उनका एक मुख्य लक्ष्य था धर्म और सत्य की परम एकता की खोज। राजा हरिश्चंद्र की तरह उनका विश्वास था कि एक दिन धर्म और सत्य पर अडिग रहने की साधना रंग लायेगी, कष्ट दूर होंगे। इसी से आकर्षित होकर उन्होंने 'सत्य हरिश्चंद्र (1875) लिखा, धर्म का सच्चा रूप स्पष्ट करने के लिए। सत्यवादी हरिश्चंद्र सें ही उन्हें नैतिक बल मिला। वह फैली कुरीतियों के संदर्भ में डंके की चोट पर कह सके, देखी तेरी काशी लोगों देखी तेरी काशी।'' 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक से उन्होंने कर्तव्य और सच्चाई पर अड़ना सीखा, जबकि उस जमाने में कई लोग जरा-जरा से स्वार्थ के लिए तुरंत डिग जाते थे। एक दूसरी बात भी थी, भारतवासियों का राज्य भी तो उनके हाथ से छल और प्रपंच की उसी प्रक्रिया से छिना था, जिस प्रक्रिया में राजा हरिश्चंद्र का। उनके सत्यवादी व्यक्तित्व ने भारतेंदु के नैतिक पक्ष का निर्माण किया था, जिसके बल पर उन्होंने भंडाचार्य जैसे पाखंडियों से लोहा लिया। पाखंडियों ने धर्म का रूप विकृत कर दिया था। भारतेंदु का ऐसे पंडित-पुरोहित वर्ग से प्रबल विरोध था। वह कर्मकांड के स्थान पर व्यापक प्रेम की अनुभूति को महत्व देते थे। जिस प्रकार रीतियुगीन दरबारी संस्कृति का विरोध करते थे, धार्मिक पाखंड का भी तिरस्कार करते थे। इसकी कीमत चुकानी पड़ी लोक बहिष्कार झेल कर। इससे मर्माहत होकर भारतेंदु ने अपने बारे में प्रकारांतर से एक बार कहा था, "कहेंगे सबै ही रैन नीर भरि भरि, पाछे प्यारे हरिश्चंद्र की कहानी रह जायगी।''

इस प्रकार भारतेंदु का अंतत: यही कटु अनुभव था कि अंग्रेज़ों ने भारतीय समाज में न न्याय और आज़ादी के पश्चिमी जनतांत्रिक मूल्यों की स्थापना की, न रूढ़ियों से टकराकर बुद्धिवादीकरण पर वस्तुत: कोई ज़ोर दिया।

बिना एक पैनी राष्ट्रीय-सामाजिक दृष्टि के अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद का इतना सधा अनावरण संभव न था। भारतेंदु ने यह अनावरण एक राजनीतिक नहीं, साहित्यकार की हैसियत से किया था और एक सुधारवादी के रूप में उनके प्रयासों का स्वरूप भी व्यक्तिगत था, संगठित नहीं। फिर भी इससे स्पष्ट हो जाता है कि असंगठित स्तर पर ही सही, हिंदी प्रदेश में नवजागरण की भावना का न केवल बिकास होने लगा था, बल्कि अपने ढ़ांचे में वह भावना एकांगी न होकर समग्रतावादी थी। भारतेंदु ने अपने क्रांतिकारी सुधारवाद की परिकल्पना बलिया के ही भाषण में इस प्रकार प्रस्तुत की थी, "सुधारना भी ऐसा होना

चाहिए कि सब बात में उन्नति हो। धर्म में, घर मे, काम में, बाहर के काम में, रोजगार में, शिष्टाचार में, चाल-चलन में, शरीर के बल में, मन के बल में, समाज में, बालक में, युवा में, वृद्ध में, स्त्री में, पुरुष में, अमीर में, गरीब में, भारतवर्ष की सब अवस्था, सब जाति, सब देश में उन्नति करो।'' सभी प्रदेशों में रहने वाली विभिन्न जातियों की सब स्थितियों में सुधार भारतीय नवजागरण की एक नयी अवधारणा थी। सुधारवाद की इस दृष्टि के साथ राष्ट्रवाद का भी आग्रह था।

भारतेंदु के बहुत पहले से इस देश में सांस्कृतिक एकता थी, लेकिन सम्मिलित आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक अस्तित्व और इस अस्तित्व की चेतना के अभाव में राष्ट्रीय चेतना की अवधारणा का सुस्पष्ट राजनैतिक निर्माण नहीं हो पाया था। भारत में राष्ट्रीय चेतना के राजनैतिक निर्माण की परिस्थितियां पश्चिमी देशों से भिन्न थीं। इसलिए यहां भारतीय जनता का साम्राज्यवाद-सामंतवाद विरोधी संघर्ष ही जो शिक्षा, विकसित आर्थिक-सामाजिक विनियम एवं आवागमन के नये साधनों के प्रसार के कारण व्यापक होता गया, 'राष्ट्रीय चेतना' के राजनैतिक निर्माण का मुख्य कारक था। भारतेंदु में देश की सांस्कृतिक एकता का बोध आरंभ से था और वह आरंभ से देशभक्त थे। पर जब उन्होंने अध्ययन और यात्राओं के जरिये नये अनुभव प्राप्त किये, उनके देशप्रेम में राष्ट्रवाद भी हिलोर लेने लगा।

भारतेंदु ने अपनी नगरी काशी का वर्णन करते हुए इसे जिस अनोखे राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखा, आज हम उस दृष्टिकोण से पूरे देश को देख सकते हैं – "जहां द्रविड़, मगध, कान्यकुब्ज, महाराष्ट्र, बंगाल, पंजाब, गुजरात इत्यादि अनेक देश के लोग परंपरा में मिले हुए अपना-अपना काम करते दिखते हैं और वे एक-एक जाति के लोग जिन मुहल्लों में बसे हैं वहां जाने से ऐसा ज्ञात होता है मानो उसी देश में आये हैं, जैसे बंगाली टोले में ढाका, लहौरी टोले में अमृतसर का और ब्रह्मघाट में पूना का भ्रम होता है'' (काशी के छायाचित्र, 1874)। राष्ट्रीय एकता तथा जातीय विशिष्टता की इतनी सुंदर अवधारणात्मक उपस्थिति एक खास संकेत है कि कैसे भारतीय राष्ट्र का सपना देखा था भारतेंदु ने। उसमें आज की भाँति एकता और निजी विशिष्टता की टकराहट नहीं थी, क्योंकि साम्राज्यवाद-सामंतवाद विरोधी संघर्ष व्यापक रूप से सतह पर उभरने लगा था। केंद्र और राज्य या राष्ट्रीय एकता और जातीय विशिष्टता में संबंध केवल तभी डगमगाता है, जब साम्राज्यवाद तथा सामंतवाद के नये-नये रूपों के खिलाफ एकबद्ध संघर्ष को निहित स्वार्थी तत्त्वों द्वारा सतह के नीचे दबाकर खत्म करने या फोड़ने का प्रयास होता है।

भारतेंदु भारतवर्ष की उन्नति का अर्थ साधारण लोगों की उन्नति लगाते थे। इसलिए उनके सुधारवाद में गरीबों के जीवन में सुधार पर विशेष बल था। बंकिमचंद्र ने 1878

में 'साम्य' शीर्षक एक लेख में कुछ ऐसा ही दृष्टिकोण व्यक्त किया था, "पददलित लोगों को इस पृथ्वी पर सुखी होने का उतना ही अधिकार है जितना तुम लोगों को है। उनका सुख छीनने की कोशिश मत करो। याद रखना वे भी तुम्हारे भाई हैं, तुम्हारे समान हैं।" ईश्वरचंद्र विद्यासागर और विवेकानंद का भी यही आह्वान था। हिंदी प्रवेश में भारतेंदु के नवजागरण का लक्ष्य भी यही था, क्योंकि उनकी दृष्टि पश्चिम भक्त सुधारवादियों की भांति जिस प्रकार साम्राज्यपरायण न थी, विशिष्ट वर्ग-केंद्रित भी नहीं थी। सुधार के विचारों को लोक गीत-संगीत के माध्यम से प्रचारित करने का प्रस्ताव उपस्थित करते हुए उन्होंने लिखा था, "जो बात साधारण लोगों में फैलेगी, वह सार्वदेशिक होगी और यह भी विदित है कि जितना ग्रामगीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है, उतना साधारण शिक्षण से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को, इस प्रकार जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है" (जातीय संगीत)। जोकि भारतेंदु ने नाटक का विकल्प चुना, पर उन्होंने आवश्यक संकेत दे दिया कि सुधारवाद की जरूरत मूलत: किस वर्ग के चित्त का संस्कार बदलने के लिए है और इस काम में लोककला के रूप कितने सहायक हैं। अपने नाटकों में खास उद्देश्यपरक ढंग से उन्होंने स्वांग, नौटंकी, प्रहसन जैसे लोक-नाट्य रूपों का ही अधिक इस्तेमाल किया।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 1857 की चेतना को सांस्कृतिक-वैचारिक नवजागरण का रूप तो दिया ही, उसके राजनैतिक सारतत्त्व को कुंठित किये बिना साहित्य एवं समाज को क्रांतिकारी सुधारवाद का रास्ता भी दिखाया, ताकि 'कविवचन सुधा' उद्घोषणा के अनुसार 'स्वत्व निज भारत गहे'। हर तरह का जोखिम उठाकर उन्होंने 'कविवचन सुधा' में यह आशा भी व्यक्त की कि 'जिस तरह अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वाधीन हुआ, वैसे ही भारतवर्ष स्वाधीनता लाभ कर सकता है।' अमेरिका की उपनिवेशवाद-विरोधी स्वातंत्र्य युद्ध में विजय (1783) तथा उसके एकता एवं पुनर्निर्माण के संघर्ष (1850-76) ने भारतेंदु को उसी प्रकार अभिप्रेरित किया था, जिस प्रकार बीसवीं शताब्दी में रूस पर जापान की विजय (1905) तथा रूस की नवंबर क्रांति (1917) ने व्यापक भारतीय स्वाधीनता-संग्राम को अभिप्रेरित किया। हम पाते हैं कि एक व्यापक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में भारतेंदु ने भारतीय स्वत्व, आत्मपहचान तथा स्वंतत्रता की जैसी खोज की, वह अपने में विशिष्ट है, क्योंकि समग्र नवजागरण का उनका संदेश भारतीय जनता के गहरे चित्त से निकलकर सामने आया था। इसके पीछे एक दीर्घ ऐतिहासिक संघर्ष था। किंतु देश के राजनैतिक-सांस्कृतिक जीवन में 1885 का वर्ष भारतेंदु हरिश्चंद्र के संघर्ष की परंपरा के विकास का वर्ष न होकर, विपर्यय का वर्ष था। धन्यवाद, यह दृश्य देखने के लिए भारतेंदु जीवित न थे।

# 2. उचित उपदेश का मर्म

रमेश चन्द्र शाह

वाग्विभव की-खासकर, कवित्व-शक्ति की लोकव्यापी और लोकोत्तर संभावनाओं की जैसी संतुलनकारी पकड़ और पहचान इस देश की सभ्यता में अनायास प्रतिफलित हुई है वैसी शायद ही कहीं अन्यत्र हुई हो। इस बात को देख पाने के लिए न तो अन्य संस्कृतियों की तुलना में भारतीय संस्कृति के बारे में कोई बढ़-चढ़-कर दावा पेश करने की ज़रूरत है, न अन्य साहित्यों की तुलना में भारतीय साहित्य के बारे में। प्रत्येक सभ्यता के अपने पूर्वग्रह होते हैं। कवि और कवित्व के प्रति कुतूहल और पर्युत्सुकी भाव तो सभी के मन में रहता है; किन्तु चूँकि कविता केवल मानव-संवेदन को विकसित करने का स्वयं साध्य रूपी साधन ही नहीं है, उसे प्रयोजन विशेष के लिए सीधे-सीधे प्रभावित करने का उपकरण भी बनाया जा सकता है, इसीलिए जब कोई समुदाय सभ्यता की दिशा में आत्म-सजग होने लगता है, तब लगता है उसे तय करना पड़ता है कि उसकी संरचना और व्यवस्था में इस कवित्व की जगह क्या होगी। उदाहरण के लिए यूरोपीय सभ्यता के दो प्रमुख घटकों को ही लें – क्या ऐसा नहीं लगता कि यहूदी परम्परा में यह कवित्व शुरू से ही धर्मतत्व का अनुयायी होते हुए भी उसके सिर पर चढ़के बोलता रहा है – उसे स्थितप्रज्ञता की बजाए एक आवेशधर्मी वाग्मिता की ओर खींचता हुआ? दूसरी ओर, यूनानी सभ्यता के एक महत्वपूर्ण मोड़ पर प्लेटो को अपने आदर्श गणतंत्र से कवियों को निर्वासित करना पड़ता है। प्लेटो में भी तो, कहते हैं, जन्मजात कवित्व था। क्या कारण है कि उसने गद्य की तरह राह चुनी? क्या कारण है कि उसके अन्तर्घट में पैठा कवि मनीषी बनने के लिए अपने कवित्व से ही पल्ला झाड़ लेना जरूरी समझने लगा ? क्या कवित्व अनिवार्य रूप से सत्य-दर्शन के आड़े आने वाली चीज़ है? क्या वह संवाद (डायलॉग) और संगीति (सिम्पोज़ियम) की सभ्यतापोषक प्रवृत्ति को आदिम एकालाप या प्रलाप की अराजकता में ढकेल देता है? क्या इसीलिए कवि की जगह सभ्यता के केन्द्र में नहीं, परिधि में ही कहीं होनी चाहिए? स्वायत्त किन्तु बहिष्कृत: सम्माननीय किन्तु शंका योग्य: जीवन या जीवनमुक्ति के साधन की तरह नहीं, बल्कि प्रसाधन की तरह; श्रवणीय और सेवनीय, किन्तु किसी मित्र या गुरु की तरह नहीं, बल्कि एक मन्त्रसिद्ध ओझा या मानसोपचारक की तरह।

अकारण नहीं, कि यूरोप के इतिहास में धर्म और दर्शन और साहित्य ने जल्द ही अपनी-अपनी स्वायत्त धुरियाँ पकड़ लीं। स्वायत्त गति के अपने फ़ायदे होते हैं और अपने नुकसान भी। उसमें विकास की गति तेज़ होती है: तीखापन और सफ़ाई आती है; विशेषीकरण और ध्रुवीकरण होता है। मगर दर्शन तो दर्शन ही है। उसे आपने ज्योंही

धर्म और साहित्य से तोड़कर एक सर्वतन्त्र-स्वतंत्र फलसफे की तरह छोड़ा कि **फिर यह अश्वमेध के घोड़े की तरह धर्म और साहित्य को भी रौंदकर आगे बढ़ेगा और दिग्विजयी** होकर भी वापस नहीं लौटेगा। तर्क-बुद्धि की दिग्विजय की भी कोई सीमा निर्धारित की जा सकती है? दर्शन की धर्मनिरपेक्ष स्वायत्त गति का आधुनिक विज्ञान में परिणत होना अनिवार्य था और उसी रफ़्तार से पहले धर्म का और फिर धीरे-धीरे साहित्य का सिकुड़ना भी। धर्म तो इस दौड़ में पिछड़ते-पिछड़ते अप्रासंगिक ही हो गया और कविता से उम्मीद की जाने लगी कि वह धर्म की जगह ले लेगी। वैसा तो ख़ैर नहीं हुआ मगर आधुनिक पश्चिमी साहित्य का एक बड़ा हिस्सा-और सबसे संवेदनशील हिस्सा दरअसल पश्चिम की चेतना के क़ेन्द्र में ही पैदा हो गए एक बड़े भारी उजाड़ को बसाने की कोशिश ही है। विडम्बना यह है कि जहाँ कभी साहित्य और दर्शन दोनों को धर्म के अतिसंगठित एवं अति-आचारी संस्थान से लड़ना पड़ा था अपनी आज़ादी और स्वायत्ता के लिए, वहाँ अब साहित्य को अकेले ही सारी लड़ाई लड़नी पड़ रही है: एक नहीं, दो-दो मोर्चों पर अब उसके दो-दो दुश्मन हैं और दोनों के चेहरे बदले हुए हैं।

हिन्दुस्तान में धर्म, दर्शन और साहित्य के बीच विवेक तो किया गया और खूब किया गया पर इस हद तक नहीं, कि तीनों एक दूसरे से इस कदर छिटक जाएँ। उसने शुरू से सबको साथ लेकर चलने की ज़िद या कहिए, मुसीबत मोल ले ली। 'उच्छृंला: कवय:, - हमारे पुरखों को भी पता था; पर इसमें उन्हें ख़तरा नहीं, अमूल्य अवसर दीखा। कवि स्वयंभू है तो क्या हुआ! इसीलिए बल्कि इसी कारण तो वह मनीषी और परिभू भी हो सकता है और होता ही है। दर्शन तो भासता ही मन्त्र के जरिए है: उसे अपने उद्‌गम से इतना दूर भी क्यों छिटकने दिया जाय कि वह सिर्फ़ कुछ दिमाग़ी क़िस्म के लोगों का आपसी मामला बनके रह जाए और बाक़ी सारी प्रजा को निरा उपभोक्ता बनाके धर दे। ऋषि ही क्यों न हो, उसकी अन्तर्दृष्टि का सुफल तो सभी तक पहुँचना चाहिए। जो पूरी जाति को दार्शनिक बनाके न छोड़े, वह दर्शन ही क्या! रही धर्मबुद्धि, सो वह तो कवित्व के योग से ही लोक-व्यापी हो सकती है। बिना वेद रटे भी अगर करोड़ों जन हजारों वर्षों तक अपने अन्तर्बाह्य जीवन को अपनी धार्मिक संस्कृति के उच्चतम आविष्कारों से अनुप्राणित रख सकते हैं तो इसका सर्वाधिक श्रेय किसको है - उन्हीं को न, जिन्होंने **रामायण, महाभारत, गीता** और **पंचतन्त्र, जातक** और **धम्मपद,** मानस और पदावलियाँ, सूक्त और स्तोत्र रचे? यह सब क्या काव्य नहीं है, साहित्य नहीं है और यह सब क्या धर्म और दर्शन भी नहीं है ? पश्चिम के ठेठ आधुनिक साहित्य में धर्मदृष्टि और तथाकथित धर्मनिरपेक्ष मानववादी दृष्टि के बीच जिस तरह का विग्रह उठ खड़ा हुआ, वह क्या हमारी परम्परा और हमारी आधुनिकता दोनों के लिए निरर्थक नहीं है? जिस

अन्तर्विरोध के चलते पश्चिम की सभ्यता में तथाकथित 'मैडिटेटिव थिकिंग' तथाकथित 'कैल-कुलेटिव थिंकिग' के सामने उत्तरोत्तर आत्मसमर्पण करते हुए अन्ततः उसी में विलीन हो गयी, उसे क्या उपनिषद् और हितोपदेश के बीच यथावत् रोपा जा सकता है। क्या प्रकृति और संस्कृति के बीच, व्यक्ति और समाज के बीच, देवता और मनुष्य के बीच, धर्मतंत्र और राज्य के बीच, प्रवत्ति और निवृत्ति के बीच, जीवनबोध और मुक्ति-बोध के बीच, एक पुरुषार्थ और दूसरे पुरुषार्थ के बीच हिन्दुस्तानी अनुभव ने उसी तरह के विवेक और उसी तरह के सम्बन्ध विकसित किए हैं जिस तरह के यूरोप के इतिहास ने? यदि नहीं, तो हम अपने जीवन और अपने साहित्य का मूल्यांकन अपने ही जातीय अनुभवों के आधार पर क्यों नहीं करते? इसी तरह, जैसे यूरोपियन विद्वानों ने हमारे वाङ्मय की व्याख्या और विवेचना अपने मानदण्डों से की है, उसी तरह हमने भी स्वयं उनके साहित्यिक-दार्शनिक, और धार्मिक ग्रन्थों की विवेचना अपने अनुभव के मानदण्डों से क्यों नहीं की या कि क्यों नही करते? क्या अपने भूतभूर्व शासकों के साथ दो सौ साल पुराने सम्बन्ध की यही इकतरफा परिणिति हमें क़बूल है? क्या अपने लम्बे इतिहास के दौरान हर आक्रान्ता या जिज्ञासु विदेशी के साथ हमने इसी तरह का रिश्ता बनाया था? अगर ऐसा होता तो क्या हम जीवित भी रह सकते थे एक सभ्यता, एक जीवन दृष्टि के रूप में ?

*औरों की आशा है त्याज्य,*
*जहाँ नहीं वह, वहीं स्वराज्य।*
*है आदान एक अपमान,*
*कर न सकें यदि हम प्रतिदान।*

**पराया मोह : मैथिलीशरण गुप्त**

यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो राष्ट्रकवि की ये पंक्तियाँ ही बीसवीं सदी के भारतीय समाज की परोपजीवी दुर्बलता को रेखांकित करने को काफ़ी हैं। कहते हैं, कवित्व भी अपने ऊँचे आसन से उतरकर उद्बोधनात्मक और उपदेशात्मक बनने को तभी विवश होता है, जब समाज का अंतःसत्व क्षीण हो जाता है। गर्वोन्नत और सहज आक्रामक सभ्यता के सामने कुचले पड़े बुद्धिजीवियों के लिए यह कहना तो बड़ा आसान है कि 'हमारे यहाँ यह नहीं है, वह नहीं है' याकि 'फलाँ-फलाँ चीज़ काव्य नहीं है, उपदेशात्मक इतिवृत्तात्मक पद्य है।' किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि उनकी अभिलाषाओं का महान् काव्य सिर्फ़ व्यक्तिगत प्रतिभा का फल नहीं हुआ करता; उसके लिए महान् समाज और महानकाल का भी संयोग ज़रूरी होता है। और यह भी, कि स्वयं उनकी अपनी बुद्धि और आचरण इन दोनों जरूरतों के , दोनों संभावनाओं के आड़े आता है। यदि राजा काल का कारण होता है तो

बिना स्वराज पाए आखिर काल भी कैसे अनुकूल हो जाएगा ? और यदि-जैसाकि गीता के कवि का कहना है -'समाज के श्रेष्ठ जन जैसा करते हैं, उसी का इतर जन अनुकरण करते हैं' - तो फिर समाज का बौनापन भी इतर जन का नहीं, उसके बुद्धिजीवियों का ही बौनापन साबित होता है कि नहीं? तब फिर हम किसकी शिकायत किससे कर रहे है? कवि-और भावी राष्ट्रकवि -तो 'जन' और 'अभिजन' के बीच वैसी विभाजक रेखा भी नहीं खींचकर चलता था। वह तो समूचे राष्ट्र को -सभी को - बुद्धिजीवियों को और समाजधर्माओं को भी आत्मोद्बोधन के ही स्वर में सम्बोधित करता है उपदेश देना तो सचमुच-गुप्तजी के ही शब्दों में 'कवि का काम नहीं है।' किन्तु क्या किसी राष्ट्र के जीवन में, उसके विशेष 'आपत्तिकाल' में सचमुच ऐसी घड़ी नहीं आती जब कवि को एक दोहरे स्तर पर सक्रिय होना पड़ता है :'मृत जाति' को संजीवनी देने वाली 'रस-सुधा' के स्तर पर भी; और उस स्तर पर भी, जिसे उसने 'उचित उपदेश का मर्म' कहा है। पहला स्तर वह है, जिस पर **रामचरितमानस** लिखा गया था-भक्तिकाल के पुनर्जागरण में। जिस पर **साकेत** और **जयभारत** की रचना होती है-उसके बाद के उन्नीसवीं सदी के अधूरे पुनर्जागरण में। जहाँ कवि को सीधे अपने पाठक को सम्बोधित करने की जरूरत नहीं होती-जहाँ वह एक यथेष्ट प्रतिरूप के जारिए, अपने द्वारा नए सिरे से रचे गए एक जातीय स्मृति के प्रतीक चरित्र के जरिए अपनी बात कहता है और इस तरह कहता है कि वह एक व्यक्ति की बात न होकर एक समूची निर्वैयक्तिक परम्परा की आवाज बनकर हमारे भीतर गूंजने लगती है :

*मैं यहाँ एक अवलम्ब छोड़ने आया*
*गढ़ने आया हूँ, नहीं तोड़ आया*
*मैं यहाँ जोड़ने नहीं, बाँटने आया*
*जगदुपवन के झंखाड़ छाँटने आया*

साकेत : अष्टम सर्ग

हाँ, और दूसरा स्तर यह है जहाँ से हमें सीधे रास्ते चलते ही आवाज देके बुलाना पड़ता है: बताना पड़ता है साफ़ सीधे, कि मामला क्या है और हमें क्या करना है:

*हमें बनाने को बेधर्म*
*होते है कैसे क्या कर्म?*
*करके उनका उचित विचार,*
*करो यत्न पूर्वक प्रतिकार*

ऐसा नहीं कि गुप्तजी काव्य से मिल सकने वाले लोकोत्तर आनन्द को नकारते हों। याकि उसे सामाजिक दुरवस्था को सुधारने के लिए अपेक्षित उत्साह को जगाने का साधन भर मानते हों। इतना ही, कि भारतेंदु की तरह वे जिस एक तथ्य को आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहते, वह है – 'भारत-दुर्दशा'। उन्हें उस तरह काव्य के सौन्दर्य-लोक से, उसके लोकोत्तर आयाम से कोई विरोध नहीं है। हिन्दू की भूमिका में जो 'स्वर्गीय कवित्व' पर छींटाकशी की गई है, उसके मूल में केवल उनकी एक शंका है और वह यह, कि कहीं यह नई छायावादी प्रवृत्ति देश के राजनीतिक और वैचारिक स्वराज्य की खातिर लड़े जा रहे संग्राम के बीचोंबीच खड़े अर्जुन का मोह तो नहीं है। जहाँ तक उस संग्रह की कविता का प्रश्न है, वह तो **भारत-भारती** की ही मूल प्रतिज्ञा को और अधिक एकाग्र आलोचना के साथ निबाहने का उपक्रम ही है।

*प्राचीन और नवीन अपनी सब दशा आलोच्य है*
*अब भी हमारी अस्ति है, यद्यपि अवस्था शोच्य है।*

**भारत-भारती**

**भारत-भारती** की ही क्यों, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के समूचे कृतित्व की मूल प्रतिज्ञा और प्रस्थान-बिन्दु क्या है, यह कोई मुझसे पूछे तो मैं इन्हीं पंक्तियों को उद्धृत करूँगा। कोई कहता है कविता 'जीवन की आलोचना' है : कोई उसे 'जीवन के परदे के पीछे छुपे एक और जीवन का मर्मोद्घाटन' मानता है। इसी एक शताब्दी में हमने कवियों-कलाकारों को विरोधी ध्रुवों पर परस्पर विपरीत बातें करते सुना है : 'जीने का काम। अरे, वह तो अपने अपने नौकर-चाकरों के लिए छोड़ दिया है। हमारा सरोकार कला है, कला।' ..... जीवन के केन्द्र से खदेड़ा हुआ कवि जहाँ अपने विक्षोभ में स्वयं जीवन से ही मानों एक मौलिक प्रतिशोध लेने को इस तरह के लटके अपनाता है, वहीं उसी जीवन में ही रही उथल-पुथल के आतंक और सम्मोहन से अपने मर्म में बींधा जाकर वह बरबस ही चीख़ पड़ता है ..... 'ए टेरिबल ब्यूटी इज़ बॉर्न ..... ए टेरिबल ब्यूटी इज़ बॉर्न....।' वह एक भयानक सौन्दर्य को अपनी आँखों के सामने जन्म लेते हुए, आकार ग्रहण करते हुए देखता है और पाता है कि जीवन और संसार अब पहले जैसा नहीं रहा; सहसा एकबारगी बदल गया है। कदाचित् वह और उसका कर्म भी।.... केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए/उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए'..... बात तो ठीक है। मगर यह उचित उपदेश का मर्म भी आख़िर कहाँ से आएगा : परम्परागत आस्थाओं से ? इतिहास की छलनाओं से ? अपने प्रत्यक्ष अपमान और दलन की आत्म-ग्लानि से? गुप्तजी के काव्य को ही क्यों, उनके परवर्त्ती साहित्य को भी हमें इस दृष्टि से भी देखना चाहिए।

गुप्तजी रहीम कवि पर विद्वावर थे। वे **रामचरितमानस** पर भी विद्वावर थे : भक्तिकालीन पुनर्जागरण का 'हीरो' स्वयं उनका भी 'हीरो' क्योंकर न होता! आखिर वे भी तो एक दूसरे पुनर्जागरण के पुरोधाओं से घिरे हुए थे। क्या तुलसी का काल भी वैसा ही, 'आपत्तिकाल' न था? उन्हें महाकाव्यों में ही नहीं, गीता में भी अपने मतलब की कविता दिखाई दे जाती थी। एक नवजात भाषा और संवेदना में अनुवादक की भूमिका निबाहना भी उतना ही प्रेरणातलब और उतना ही जानलेवा होता है जितना मौलिक लेखन का काम। दोनों की सीमारेखाएं कब कहां मिल जाती हैं, कहाँ अलग हो जाती हैं, कहना कठिन हो जाता है। गुप्तजी ने एक तरफ़ उमरख़ैयाम की हाला को अपनी खड़ी बोली के अनगढ़ कुल्हड़ों में ढाला और दूसरी तरफ़ 'पलासी का युद्ध' बँगला कानों से सुनकर हिन्दी कानों को सुनाया। बिना आनन्द की प्रेरणा के कोई कवि महज़ कर्तव्य भावना से ऐसी जहमत मोल लेगा - यह सोचना महज़ सिरफिरापन है। किस क़दर जनवादी था अपना राष्ट्रकवि और किस क़दर कलावादी। पचीस बरस पहले मुझे बच्चन की **मधुशाला** में ज्यादा मज़ा आता था। पचीस बरस बाद अब मुझे गुप्तजी का **उमर** अधिक आनन्दप्रद जान पड़ता है। ऐसा अनुभव क्या औरों को भी होता होगा? याकि यह मेरी ही सुरुचि का स्खलन है, मेरी ही बुद्धि का प्रमाद है?

और **मेघनाद-वध** काव्य! भला इस वैष्णव कवि को - इस मर्यादावादी रामोपासक कवि को क्या पड़ी थी कि वह एक ऐसे कवि को हिन्दी में लाने के लिए महीनों-बरसों खपाता जिसने डंके की चोट पर कहा कि 'आइ डेस्पाइज राम एण्ड हिज़ रैबल' (मैं राम से और उसके आततायी वानर-दल से घृणा करता हूँ) और जिसके बारे में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी कहना पड़ा था कि 'इसमें कोई महद्नुष्ठान नहीं, वैसा महच्चरित्र नहीं। इसके पात्रों में अनन्य साधारणता नहीं, अमरता नहीं। वे हमारे सुख-दुख के साथी नहीं हो सकते, हमारे कार्यों के प्रवर्तक-निवर्तक नहीं हो सकते। फिर इसे महाकाव्य कैसे कहा जाय?'

ऐसे काव्य को गुप्तजी ने अपनाया, तो इसका कोई ठोस कारण तो होना चाहिए। कोई ऐसी प्रेरणा तो होनी चाहिए जो कवि की व्यक्तिगत रीझ-बूझ और मान्यताओं को भी लाँघ कर उसे अपने साथ चलने के लिए विवश कर दे। वह क्या है? इस अनुवाद की भूमिका में गुप्तजी ने जो कारण दिए हैं, उनमें से एक तो यह है कि वे इसके काव्यगुण पर मुग्ध थे ('मनुष्य का मन कुछ विचित्र होता है। वह बहुधा अपनी योग्यता का विचार भी भुला देता है। जिस वस्तु पर वह जितना मुग्ध होता है उसे अपनाने के लिए उतना ही आग्रही भी होता है...') और दूसरा यह, कि वे हिन्दी में अतुकान्त कविता की अमित्राक्षर छन्द की संभावनाओं को फलते-फूलते देखा चाहते हैं। ये दोनों ही कारण अपने आप में

पर्याप्त लगते हैं पर मन में प्रश्न उठता है : इस मुग्धता के साथ-साथ माइकेल के कथ्य के प्रति जो स्वाभाविक विकर्षण अनुवादक के मन में है, उसका क्या? आखिर इसी मुग्ध अनुवादक का यह भी तो कहना है कि 'हम लोगों ने भारती वर्षीय कवियों द्वार वर्णित रामचरित बहुत पढ़ा सुना है। अब राक्षसों के कवि की कृति भी तो हमें देखनी चाहिए।' क्यों देखनी चाहिए ? मेघनाद-वध की उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही आदरणीयता से गुप्तजी अन्त में जो निष्कर्ष निकालते हैं उसी को अपने काम के यथेष्ट औचित्य और कारण के रूप में प्रस्तुत करते हैं - यह कहते हुए कि 'अन्ततः सर्वधारण गुण के ही पक्षपाती होते हैं। दोषों की ओर उनका आग्रह नहीं होता। बस, अनुवादक के लिए यहाँ एक भरोसे की बात है।' क्या गुप्तजी के पाठक-और आज के पाठक के लिए भी-यह उतने ही भरोसे की बात है?

मुझे ऐसा लगता है कि पहले के समय में अपने युग की प्रेरणाओं से भरपूर प्रतिकृत होते हुए भी हर कवि के लिए उनके प्रति पूरी तरह चेतन-जागरूक होना न तो संभव था, न आवश्यक । किन्तु अब आज के जमाने में इतिहास और वैज्ञानिक तर्क-बुद्धि के अभूतपूर्व दबावों के फलस्वरूप स्थिति बदल गई है। अब हम कवि से बहैसियत कवि के, अधिक जगरूक और अधिक निष्कवच भाव-बोध की अपेक्षा करने लगे हैं। दिए हुए सामाजिक आदर्शों से प्रेरित होने वाले कवि की अपेक्षा हम उस कवि की बात अधिक सुनते हैं जो अपनी प्रश्नाकुल संवेदना के बूते अपनी मूल्य-चेतना को परिवेश में व्याप्त अराजकता और मूल्यमूढ़ता से उबारने का संघर्ष करता दीखे। बिना इस वैयक्तिक संघर्ष के, बिना मूल्यों के इस पूनर्मूल्यांकन जैसी छटपटाहट के हम, कवि की जीवन-चेतना और मूल्य-दृष्टि से आश्वस्त नहीं हो पाते। यही कारण है कि मैथिलीशरण गुप्त की अपेक्षा हमें प्रसाद का कवित्व अपनी जीवनानुभूति के कुछ अधिक करीब का लगने लगता है। उसकी आस्था भी शायद इसीलिए हमें जोख़म में निखरी हुई आस्था प्रतीत होने लगती है। इतना ही नहीं, काल-क्रम में आगे जाकर, हमें यह प्रश्नाकुल आस्था भी एक नई अव्यवस्था से आक्रान्त प्रतीत होने लगती है और तब नए संतुलन की खोज के लिए एक अज्ञेय या मुक्तिबोध की ज़रूरत पड़ने लगती है।

गुप्तजी के काव्य को लेकर आज के पाठकों के मन में कई तरह के सवाल उठा करते हैं। उनकी राष्ट्रीयता किंवा भारतीयता को लेकर; उनकी धर्मदृष्टि को लेकर; कलात्मक अथवा साामजिक-राजनीतिक कसौटियों पर उनके अवदान की परख को लेकर। उनके 'उचित उपदेश के मर्म' को लेकर ऊपर जो प्रश्न उठाया गया, वह भी इन्हीं के मेल में उठाया गया था। क्या हम उस युग को, उसके मूल द्वन्द्व और परिस्थिति-परिवेश को समझे

बिना उनके किए-धरे को समझ सकते हैं, उसके साथ न्याय कर सकते हैं? मौलिक के साथ-साथ अनूदित कृतित्व को भी महत्व देना हमें क्यों ज़रूरी लगा होगा? खासकर **मेघनाद-वध** के सन्दर्भ में इतने विस्तार में जाने की ज़रूरत क्यों महसूस होती है? मुझे ऐसा लगता है कि उस युग के वातावरण का, उस युग के सोच-विचार और भाव-बोध का एक ऐतिहासिक महत्त्व भर नहीं है : जिसे मैंने अन्यत्र अधूरा पुनर्जागरण कहा है, उसकी ऐतिहासिक प्रक्रिया का वृत्त अभी तक पूरा नहीं हुआ। पूर्व-पश्चिम की टकराहट का वह स्वातंत्र्य -पूर्व सन्दर्भ स्वातंत्र्योत्तरयुग में मैथिलीशरण गुप्त की कविता के निमित्त से एक नया अर्थ और नयी प्रासंगिकता ग्रहण कर लेता प्रतीत होता है। **मेघनाद-वध** का प्रसंग उसके एक ऐसे आयाम को उभारता है जिसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बड़े सटीक ढ़ग से परिभाषित किया है: इसी अनुवाद की पुस्तक में गुप्तजी ने उसका भी हवाला दिया है और वह अत्यन्त विचारोत्तेजक है : अपनी दो परस्पर विरोधी सी प्रतीत होने वाली स्थापनाओं में वह बीसवीं सदी के भारत और भारतीय साहित्य को हमारी काव्य परम्परा और उसमें आ गए विचलन, दोनों दृष्टियों से झलकाता है। मैंने ऊपर सवाल उठाया था कि गुप्तजी को यह अनुवाद करने की प्रेरणा क्यों हुई होगी? मुझे लगता है, गुप्तजी के अवचेतन में भी इस नई कृति के प्रति आकर्षण और विकर्षण का कुछ वैसा ही द्वन्द्व रहा होगा जैसा रवीन्द्रनाथ के मन में। यह दूसरी बात है कि उस द्वन्द्व को -उसके तर्क को -गुप्तजी ने नहीं, रवीन्द्रनाथ ने सचेत आलोचनात्मक अभिव्यक्ति दी है। चूँकि वह अभिव्यक्ति इस युग के भाव-बोध के मूल्यवान् दस्तावेजों में से एक लगती है, इसलिए मैं उसे विस्तार से यहाँ उद्धृत करने का लोभ नहीं संवरण कर पा रहा हूँ। रवीन्द्रनाथ की दृष्टि दोहरी है। पहले वे **मेघनाद-वध** के महत्व को अस्वीकार करने का तर्क (और बेहद वज़नदार तर्क) देते हुए कहते हैं :

जिस प्रकार हम इस दृश्यमान् जगत् में निवास करते हैं, उसी प्रकार एक और जगत् अलक्षित भाव से हमारे चारों तरफ़ रहता है। दीर्घकाल से बहुत से कवि मिलकर हमारे उस अदृश्य जगत्-की रचना करते आ रहे हैं । ... यदि हम वाल्मीकि, व्यास आदि के कवित्व जगत् में जन्म न लेकर भिन्नदेशीय कवित्व-जगत् में जन्म लेते तो हम भिन्न प्रकृति के लोग होते। हमारे साथ कितने लोग अदृश्य भाव से रहते हैं, हमारे विचार और कर्म उनसे कितने नियन्त्रित होते हैं, इसे हम जान भी नहीं सकते। इन्हीं सब अमर सहचरों की सृष्टि करना महाकवि का काम है। माइकेल मधुसूदनदत्त ने हमारे अन्तर्जगत में कितने नए अधिवासियों को भेजा है? यदि नहीं भेजा है तो उनकी किस रचना को महाकाव्य कहा जाय ?

यह एक सटीक और अकाट्य आलोचनात्मक तर्क है। किन्तु रवीन्द्र-नाथ यहीं पर नहीं अटक जाते। उनकी जागरूक और दूरदर्शी संवेदना-बुद्धि उन्हें तस्वीर के उस दूसरे पहलू का भी जायजा लेने को विवश करती है तो विकर्षण के साथ एक दुर्निवार्य आकर्षण भी उपजाता है - हमारे मन में - हमारे बावजूद:

यूरोप से आए नूतन भावों के संघात ने हमारे चित्त को सजग कर दिया है, यह बात जब सच है, तब हम उससे लाख अलग रहने की चेष्टा क्यों न करें, हमारा साहित्य कुछ न कुछ नूतन मूर्ति धारण करके इस सत्य को प्रकाशित किए बिना न रह सकेगा। ठीक उसी पूर्व पदार्थ की पुनरावृत्ति अब किसी प्रकार नहीं हो सकती -यदि हो तो उस साहित्य को मिथ्या और कृत्रिम कहा जायगा। 'मेघनाद-वध' काव्य में -केवल छन्दोबन्ध और रचना-प्रणाली में ही नहीं, उसके भीतरी भावों और रसों में भी - एक अपूर्व परिवर्तन है। कवि ने राम-लक्ष्मण के विषय में हमारे मन में बहुत दिनों से जो एक बँधा हुआ भाव चला आ रहा था, स्पर्धापूर्वक उसका शासन तोड़ दिया है। धर्म्मभीरु स्वभाव का त्याग, दैन्य और आत्मनिग्रह आधुनिक कवि के हृदय को स्पर्श नहीं कर पाता। वह स्वत: स्फूर्त शक्ति की प्रचण्ड लीला के बीच में आनन्द-बोध करता है।

क्या यह सच नहीं है? पचास सालों के अन्तराल के बाद क्या यह सचाई पहले से भी ज्यादा मुखर और तीव्र नहीं हुई है? यह नहीं, कि रवीन्द्रनाथ इस 'आधुनिकता' पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगाते - उसे आत्मसर्पण कर देते हैं। नहीं, उनका स्वर स्वागत में बिछा हुआ आत्महीन स्वर कदापि नहीं है : उसमें विषाद है, संशय है आन्तरिक प्रतिरोध भी है; किन्तु वे यथार्थ से नहीं कतराते। उनकी दूरदर्शी दृष्टि भावी के संकेत पढ़ सकती है :

यूरोप की शक्ति अपना अपूर्व ऐश्वर्य लिए पार्थिव महिमा की चोटी पर खड़ी होकर हमारे सामने आविर्भूत है ..... इसी शक्ति-स्तवगान के साथ आधुनिक काल में रामायणी कथा के एक नए बाँधे हुए तार ने भीतर ही भीतर स्वर मिला दिया है, यह किसी व्यक्तिविशेष के ध्यान में आया? देशव्यापी आयोजन हो रहा है। दुर्बल होने के अभिमान के कारण 'इसे हम स्वीकार नहीं करेंगे' कहकर भी पद-पद पर स्वीकार करने के लिए बाध्य हो रहे हैं -इसीलिए रामायण का गान करने जाकर भी इसके स्वर की हम उपेक्षा नहीं कर सकते।

यह महज़ इकहरे स्वागत का उत्सवी स्वर है कि स्थिति का यथार्थदर्शी स्वीकार और उसमें अन्तर्निहित चेतावनी? अकारण नहीं, कि इस अनुवाद की भूमिका में गुप्तजी ने रामकृष्ण परमहंस की उस टिप्पणी का हवाला भी देना ज़रूरी समझा है जो उन्होंने

माइकेल मधुसूदन-दत्त के विरोधियों को लक्ष्य करके लिखी थी। .. 'तुम्हारे देश में यदि कोई कुछ नयाकाम करता है तो तुम उसकी हँसी उड़ाकर उसका अपमान करते हो। यह नहीं देखते कि वह क्या कहता है या क्या करता है।' तो कवीन्द्र रवीन्द्र ही क्यों उन्नीसवीं शती के पुनर्जागरण का सबसे असन्दिग्ध स्त्रोत, हमारी आध्यात्मिक संस्कृति की परम्परा का सबसे नया और सबसे विलक्षण प्रतिनिधि भी जिस 'कृति' के सर्जनात्मक मूल्य और मौलिकता पर अपनी मुहर लगा रहा हो तब फिर उस नएपन से हिन्दी के कवि के लिए **-भारत-भारती** के कवि के लिए बिदकने की गुंजाइश की कहाँ रह जाती है? फिर तो उसका रचनात्मक आचरण स्वभावत: उसी दृष्टिकोण से निर्धारित होगा जो **भारत-भारती** में शिक्षितों को लक्ष्य करते हुए व्यक्त किया गया है:

*ज्ञानानुभव से तुम न निज साहित्य को वंचित करो।*
*पाओ जहाँ जो बात अच्छी, शीघ्र ही संचित करो।*

इन दो स्वरों के अतिरिक्त और भी तो कई स्वर थे – बीसवीं सदी के आरम्भ के उस युग के भाव-बोध को बनाने वाले-उनके साथ इस कवि का कहाँ तक मेल बैठता है, यह हम यथास्थान देखेंगे। यहाँ पर हम केवल एक दूसरे तथ्य की ओर-जो भाषा गुप्तजी को मिली-बल्कि स्वयं जिस भाषा की रचना ही उन्हें करनी पड़ी अपनी काव्य-रचना के साथ-साथ, अपनी काव्य-रचना के जरिए ही, उस पर भी थोड़ा ग़ौर कर लेना चाहेंगे। इस टिप्पणी के साथ, कि **भारत-भारती** के कवि की दृष्टि भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उपरोक्त दृष्टि के समान आगे की ओर ही देखने वाली है, वह भी अपने 'कालज्ञ विवेक से यही जानती-मानती है कि....'विपरीत विश्व-प्रवाह के निज नाव जा सकती नहीं; अब पूर्व की बातें सभी प्रस्ताव पा सकती नहीं।'...

साहित्य के सन्दर्भ में पश्चिम के पहले ही तगड़े प्रभाव को लक्ष्य करती हुई और भारतीय साहित्य के लिए इस चुनौती के अर्थ को रेखांकित करती हुई रवीन्द्रनाथ ठाकुर की टिप्पणी का हवाला हमने अभी-अभी दिया है। आज हमारे कवियों-विचारकों और राजनेताओं का दृष्टिकोण इस बारे में क्या है? हिन्दी-प्रदेश का और हिन्दीतर भारतीय भाषाओं का भी। टैगोर या गाँधी के जमाने की तुलना में उसमें क्या अन्तर पड़ा है? क्यों अब हमारे मन में कोई दुविधा कोई द्वन्द्व नहीं रहा? इस बारे में हमारी जागरूकता का स्वरूप क्या सचमुच बदल गया है? क्या अब इतिहास के इस मोड़ पर पूरब-पश्चिम की शब्दावली का प्रयोग **करना** ही एक निरर्थक वाग्जाल में उलझना है - इसलिए कि हम परम्परागत भारत में **नहीं**, बीसवीं सदी के भारत में रह रहे हैं, जिसकी समस्याएँ बिलकुल अलग हैं और इसीलिए **समाधान** भी?

चलिए, हमने मान लिया कि बीसवीं सदी का हिन्दुस्तान ऐतिहासिक राजनीतिक निर्णयों से उपजा हुआ एक अलग ही हिन्दुस्तान है जिसकी पृष्ठभूमि अंग्रेजी पढ़े-लिखे प्रबुद्ध वर्ग के पुरुषार्थी नेतृत्व में लड़े गए स्वतंत्रता संग्राम से बनती है। इस नए हिन्दुस्तान की निर्णायक घटनाओं में कम से कम एक घटना ऐसी है जिसकी मिसाल मुश्किल से मिलेगी। और वह है हज़ार साल पुरानी हिन्दी का खड़ी बोली हिन्दी के रूप में आमूलचूल कायाकल्प। जिन परिस्थितियों और ज़रूरतों के तहत यह कायाकल्प हुआ, और सबकी भागीदारी से हुआ-वे क्या थीं? एक वाक्य में उन सबको समेट कर कहें, तो वह ज़रूरत थी- आधुनिक युग की चुनौती के सम्मुख हिन्दुस्तान के शरीर और मन का पुनर्जन्म। ऐसी भाषा-जो न कुछ में से उगे और सब कुछ को धारण कर सके। ऐसी भाषा, जो सारा पुरानापन, बासीपन झाड़ दे- जो इतिहास की उथ्रल-पुथल से गुज़र कर उससे उत्तीर्ण होकर निकली हमारी जातीय अस्मिता का प्रतीक हो। जो इतनी अकिंचन दीखे कि लगे, स्मृतिहीन है, सपाट है, सिर्फ एक सेतु है सबको आपस में जोड़ने के लिए। किन्तु जो इसी कारण नए युग की संवेदना को वहन करने के लिए सबसे सक्षम साबित हो। ऐसी भाषा को साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने का दायित्व मैथिलीशरण गुप्त और उनकी पीढ़ी के कवियों पर आया।

मानो हमने इस तरह अनजाने ही एक समवेत निर्णय लिया कि हम लुटे-पिटे लोगों को यहाँ से शुरू करना है- इस कालगति से उपजे संभावनापूर्ण शून्य से। मानो हम अभी-अभी जनमे हैं और हमारे ऊपर पाँच हजार सालों की संस्कृति का नहीं, केवल सौ-डेढ़ सौ सालों के इतिहास का ही बोझ है। मानों हमें सब कुछ शुरू से शुरू करना है। सारे पाप अभी धो डालने हैं – बिना विगत पुण्य की स्मृतियों की गठरी उठाए क्योंकि यदि वे वास्तव में पुण्य थे तो पुनर्जन्म से नष्ट नहीं होंगे-अपने आप हमारे ऐतिहासिक पुरुषार्थ के जरिए हमारे खाते में जुड़ेंगे। हमें जीर्णोद्धार नहीं चाहिए था; नया जन्म चाहिए; एकदम नया चोला। हमने मानो संकल्पपूर्वक छोड़ दिया उस पुराने मध्ययुगीन चोले को। नया चोला-हिन्दी का चोला-धारण करके ही हमने आधुनिक युग में अपनी जगह बनाने के लिए प्रवेश किया।

हम एक सपाट भूमि पर खड़े थे क्योंकि हमें एकजुट होना था, एकप्राण होना था। राष्ट्रीय़ जीवन की नई बुनियाद डालनी थी। और हमारा कवि-हमारी इस नई हिन्दी का एक प्रकार से आदि कवि-इस 'यंग इण्डिया' के 'नवजीवन' की मशाल लिए हमारे साथ-साथ ही चल रहा था-हमसे आगे तो नहीं, हमारे साथ-साथ। और वह हमारी अपनी आवाज़ में हमको हमारे मन की बात बता रहा था कि हमें करना क्या है?.....

हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें साथ मिलकर ये समस्याएँ सभी . . . .।

**भारत-भारती** सन् 1911 में छपी थी। 1909 में छपा **हिन्द स्वराज** कह रहा था-'यह समय प्रायश्चित और शोक का है और मातम के वक़्त मौज़-शौक़ नहीं होते।' याद आ रहा है, कुमारस्वामी से किसी ने विदेश में पूछा था-'प्राचीन भारतीय कला का गुणगान तो ठीक है, किन्तु आधुनिक भारतीय कला क्या है, इस पर भी तो कुछ कहिए।' कुमारस्वामी ने बेहिचक जवाब दिया था-'खद्दर। हाँ खद्दर में मैं आधुनिक भारतीय कला की समस्त संभावनाओं के दर्शन करता हूँ। आज के भारत को बस यही रंग शोभा देता है। यहीं से नए रंग कमाए जाएँगे-यहीं से नए रंग जन्म लेंगे-हमारे जायज़ और स्वाभाविक रंग।'

**भारत-भारती** के समान कोई कविता लोकप्रिय हुई होगी-एकाएक विश्वास नहीं होता। एक पूरी पीढ़ी ने इससे प्रेरणा पाई-मात्र साहित्यिक प्रेरणा नहीं, जीने की, कुछ सोचने-करने की प्रेरणा। इसका मतलब यही न हुआ कि वह सचमुच **भारत-भारती** थी और उसने हिन्दी को-हिन्दुस्तान के पुनर्जन्म की इस संकट की घड़ी में जन्मी हिन्दी को-सचमुच **भारत-भारती** बना दिया था।

फिर क्यों सन् 1927 में-**भारत-भारती** के प्रकाशन के कोई पन्द्रह वर्ष उपरान्त हमारे राष्ट्रकवि को **हिन्दू** लिखने की ज़रूरत आ पड़ी? हिन्दू पुनर्जागरण का काव्य-फल **भारत-भारती** और सत्याग्रह-युग की उपज **हिन्दू**। यह कैसा विपर्यय है? क्या **भारत-भारती** में कुछ छूटा रह गया था? क्या **हिन्दू** भी उसी ढंग की चीज़ है जिसे हम 'समाज का दर्पण' अथवा 'जीवन की आलोचना' कहकर पुकारते हैं? क्या वह दूसरा दर्पण पहले वाले दर्पण से ज्यादा निर्मल और निर्दोष है?

लगने को गुप्तजी के आख्यान-काव्य और प्रबन्ध काव्य भी महज़ पौराणिक इतिवृत्त नहीं लगते। जीवन की आलोचना वहाँ भी है। फिर भी यह सवाल तो मन में उठता ही है कि इतने सारे प्रबन्ध काव्यों के रचयिता को क्या ज़रूरत पड़ी थी कि वह **भारत-भारती** ही नहीं, **हिन्दू** जैसी कविता भी लिखे। क्या यह अतिरिक्त आलोचना है? अगर हाँ, तो इसकी जरूरत क्यों पड़ी?

**भारत-भारती** में जहाँ 'सीतापते-सीतापते' की पुकार है, वहीं उसी की प्रतिध्वनि में 'गीतामते' भी है। भूमिका में कृष्ण को भी स्मरण किया गया है। **हिन्दू** की भूमिका में यह स्मरण एक नया मूल्य ग्रहण कर लेता है; गुप्तजी पूछते है: 'इस तरह की तुकबन्दियों के

लिए साहित्य के शारदा-मन्दिर में कोई स्थान है या नहीं?' उत्तर में स्वयं ही कहते हैं : 'वह हो या न हो, परन्तु इनका एक आदर्श होना ही चाहिए। न तो इनमें महाकाव्यों का अनुकरण है और न बिहारी सतसई आदि कोष-काव्यों का। रीति-ग्रन्थों की श्रेणी में भी ये नहीं। विनय-पत्रिका जैसी भी नहीं। काव्यों की पंक्ति में बैठने का इन्हें कोई अधिकार नहीं। न सही, परन्तु इनका भी एक आदर्श होना चाहिए। क्या वह आदर्श गीता हो सकता है?'

परन्तु गीता तो एक दार्शनिक काव्य है, जिसे आधुनिक कवि टी.एस.एलियट ने दांते की डिवाइन कामेडी का पार्श्ववर्ती माना है। क्या **हिन्दू** भी उस तरह का दार्शनिक काव्य है?

निश्चय ही नहीं। किन्तु **गीता** भी तो एक प्रसंग-प्रेरित कविता ('ऑकज़न पोएम') है – दार्शनिक कविता होने से भी पहले। हर सार्थक कविता एक वक्तव्य होती है या नहीं, मैं नहीं जानता। किन्तु ग्योएटे से लगाकर अधुनातन कवि तक सभी का यह कहना है कि हर सार्थक कविता एक 'ऑकेज़न', कविता ही होती है: किसी विशेष जीवन-स्थिति और प्रसंग की चोट से उद्भूत। **भारत-भारती** तथा उससे भी अधिक **हिन्दू** और कुछ नहीं तो 'ऑकेज़न पोएम' तो है ही। उनकी दार्शनिकता इसी में है कि वे हमें कुछ दिखाती हैं – एक समूची प्रजा को अपनी हालत का पता देती हैं: उसकी अपने को ही देखने वाली आँख बनती है। और यह आँख हिन्दी में खुलती है: उस सपाट भाषा में, जिसने अपनी सात्विक कठोरता में अवधी और ब्रजभाषा के संगीत की संयुक्त विरासत को भी फ़िलहाल भुला दिया है याकि गिरवी रख दिया है- ऋणमुक्त होने तक। उसे वह सब कुछ मानो अपने निजी पुरुषार्थ के बूते नए सिरे से अर्जित करना है। नितान्त नई परिस्थितियों से जूझते हुए।

विनयशीलता और स्वाभिमानी अक्खड़पन कवियों में एकसाथ दिखाई देना अचरज की बात नहीं है। 'कवि न होउं नहिं वचन-प्रवीनू, सकल कला सब विद्याहीनू' के साथ 'नाना पुराणनिगमागमसम्मत' के ठोस दावे की संगति बखूबी निभती देखी गई है। **भारत-भारती** आज के किन्हीं कवियों को-गुप्तजी, प्रसाद, निराला और अज्ञेय से समृद्ध पीढ़ी को-भले ही 'किंचित्कविता' लगे, उसके पीछे कितनी बलवती प्रेरणा, रही होगी, यह ऐतिहासिक कल्पनाशक्ति के जोर से ही नहीं, उन लाखों करोडों लोगोंकी सहज बुद्धि से भी जाना जा सकता है जो तब और अब भी उससे उन्मेषित होते हैं। साथ ही, उसके पीछे कितनी खोजबीन, कितना अध्ययन-निरीक्षण रहा होगा, यह तो उसकी पाद-टिप्पणियों से ही प्रकट है। पुराने इतिवृत्त को नया करके फिर से नए सन्दर्भ के साथ रचने की कल्पना-शक्ति के बिना तो **साकेत** और **जयभारत** क्या, **पंचवटी** की भी रचना संभव न थी। पर **भारत-भारती** और **हिन्दू** में एक नए की तरह का 'रस' है, जिसकी कोई परम्परा पहले से मौजूद नहीं।

यह एक नई तरह का पद्य ही नहीं, नए तरह का कवित्व भी है जिसकी उद्‌बोधनात्मक सपाट-बयानी में भी एक अभूतपूर्व स्फूर्ति है, 'विट' यानी वाग्वैदग्ध्य है, अक्षय विनोदवृत्ति है, सूक्ति सरीखी स्मरणीयता है। इन गुणों के कारण, छंद-शिल्पगत स्फूर्ति तथा अप्रत्याशित अर्थोत्तेजनकारी उद्‌भावना-समृद्धि के कारण ही इनमें आज भी ताज़गी बनी रह सकी है। अन्यथा, समय-सेवा करके ये कब की झर चुकी होतीं। अगर इनमें अभी भी झुर्रियाँ नहीं पड़ीं तो इसका कारण इनके तथाकथित कथ्य की प्रासंगिकता में ही नहीं, इनके शिल्प की जीवनी-शक्ति में भी होना चाहिए। उस जीवनी-शक्ति में, जिससे किसी नवजात भाषा का खून बढ़ता है, अंगों में लोच और सामर्थ्य बढ़ती है: वह लाघव-स्फूर्त पद्य और वह सब चीज़ों की ख़बर रखने वाला परम कौतुकी, लेकिन परमगंभीर कवित्व सधता है, जो उस भाषा के कवियों को ही नहीं, गद्यकारों को भी चलना सिखाता है। वह व्यंग्य, जिसकी मार साम्प्रतिक भी है और दूरव्यापी भी। वह सूक्तिकौशल, जो संस्कृत के सुभाषितों से भी होड़ लेता है और नए ज़माने के आलोचना के सूत्र भी गढ़ता चलता है। अपनी प्रत्युत्पन्नमति के बूते।

गौरव जताने में यहाँ उत्साह का लगता पता।
बस, वाद में है वाग्मिता, पर-अनुकरण में सभ्यता।।

कितने प्रयोग-प्रदीप इस अनुदारता से हैं बुझे

न्यायालयों में भी निरन्तर घूस खाते हैं हमीं
रक्षक पुलिस को भी यहाँ भक्षक बनाते हैं हमीं।

बस कागज़ी घुड़दौड़ में है आज इति-कर्तव्यता
भीतर मलिनता हो भले ही, किन्तु बाहर भव्यता।

शिक्षे! तुम्हारा नाश हो, तुम नौकरी के हित बनी
लो मूर्खते! जीती रहो, रक्षक तुम्हारे हैं धनी।।

है अन्ध सा अन्तर्जगत् कवि-रूप सविता के बिना।
सद्भाव जीवित रह नहीं सकते सु-कविता के बिना।।

हमारे औसत राष्ट्रीय चरित्र का आज किया जा सकने वाला मूल्यांकन क्या **भारत-भारती** के मूल्यांकन से बहुत भिन्न होगा? क्या आज भी वह बात नहीं बोलती? ये तो केवल कुछ नमूने हैं, **भारत-भारती** की विवेक-बुद्धि और कर्तव्य-बुद्धि और उसी में से उपजी आलोचना याकि व्यंग्य-कला के नमूने। प्रसंगवशात् यहाँ यह लक्ष्य कर लेना भी उपयोगी होगा कि परवर्ती कविता पर भी **भारत-भारती** का खासा ऋण दीखता है: निराला और दिनकर और जाने कितने कवियों की जाने कितनी कविताओं में **भारत-भारती** की अनुगूँज समाई हुई है और यह अकारण नहीं है: बहुत कम रचनाओं को इस तरह भविष्य के कवियों का सन्दर्भ ग्रन्थ बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और **भारत-भारती** उन्हीं उपजाऊ रचना-भूमियों में गिनी जाएगी। बहुत कम रचनाओं को इस तरह कवि के जीवनकाल में ही भाषा की सहज 'श्रुति' और 'स्मृति' बन जाने का अवसर मिलता है।

वह पेट उनका पीठ से मिलकर हुआ क्या एक है ?
मानो निकलने को परस्पर हड्डियों में टेक है।

इस नींद में क्या-क्या हुआ, यह भी तुम्हें कुछ ज्ञात है?
कितनी यहां लूटें हुईं, कितना हुआ अपघात है।

मैं कभी-कभी अपने-आप से पूछता हूँ कि अज्ञेय जैसे कवियों का मैथिलीशरण गुप्त के प्रति जो आकर्षण है, वह क्या महज़ लोकाचार है? उत्तर मिलता है, नहीं, वह एक सहज आकर्षण है। युग-परिवर्तन के अनुरूप स्वातंत्र्य और दायित्व के नए संतुलन की नई कल्पना, नई खोज के साथ अज्ञेय के यहाँ भी वही ज़िद है- शिवत्व-बोध और सौंदर्य-बोध दोनों को अपने कवि-कर्म से निबाहने की। दरअसल समूची भारतीय कविता की ही ऐसी ज़िद ऐसी निष्ठा रही होनी चाहिये-गुप्तजी या अज्ञेय के यहाँ ही क्यों। **भारत-भारती**, जैसा कि हमने लक्ष्य किया, एक 'ऑकेज़न' रचना थी-गुप्तजी के ही मुहावरे में 'आवश्यकता की पुकार को श्रवण करके' लिखी गई थी। क्या अब **भारत-भारती** दुबारा लिखी जाएगी? दुबारा जैसा कभी कुछ नहीं होता; न जीवन में, न साहित्य में। हिन्दी भाषा और कवित्व अर्धशताब्दी के भीतर ही कहाँ से कहाँ पहुँच गए- सो किसके पुण्य-प्रताप से? मैथिलीशरण गुप्त के ज़माने के बाद, बल्कि उनके ज़माने में ही जयशंकर प्रसाद का ज़माना आया। फिर अज्ञेय का ज़माना आया वह भी गुप्तजी के जीवन-काल में ही।.... और अब फिर से क्या एक तरह से एक दूसरे स्तर पर सपाटबयानी का ही ज़माना नहीं

आ गया? यह किस आवश्यकता की पुकार का उत्तर है? जिस 'जाति-गंगा में डुबकी लगाके' राष्ट्रकवि ने अपनी कविताएँ रचीं और उन्हें 'तुकबन्दी' कहा, उस जाति-गंगा में और आज के हमारे जनवादी कवि के 'जन' में कैसा क्या सम्बन्ध है, कैसा क्या अन्तर है? वह सम्बन्ध और अन्तर किन अर्थों में और किस सीमा तक रचनात्मक है, काव्य-संभव है? कहीं उसका कोई अंश वैसा तो नहीं, जिसे **भारत-भारती** के कवि और **हिन्द-स्वराज** के लेखक ने लगभग एक साथ ही लक्ष्य किया था: 'जिन लोगों के नाम पर हम बात करते हैं, उन्हें हम पहचानते नहीं। न वे हमें पहचानते हैं।' (**हिन्द स्वराज**) . . . . और . . . . देखो हटा कर असलियत से वह घटाती है हमें'. . . . (**भारत-भारती**)। लगता है, हिन्दी काव्य-संस्कृति की ही नहीं, हिन्दी आलोचना की भी कुशल इसी में है कि इस प्रश्न को अनदेखा न किया जाए।

# 3. कामायनी एवं पुनर्विचार

गजानन माधव मुक्तिबोध

श्रद्धा की अवतारणा हेतुमूलक है, प्रसादजी ने मनु की मुक्ति के लिए ही मानो उसको उठाया हो। यद्यपि श्रद्धा में प्रारम्भ से लगाकर अन्त तक आदर्शवाद ही आदर्शवाद (अन्त में आध्यात्मिक जीवनोपदेश और दर्शन) दिखायी देता है, किन्तु स्थिति-भेदानुसार उसके चरित्र में अन्तर तो आता ही जाता है, भले ही हम उस अन्तर को विकास न कह पायें। किन्तु नि:सन्देह, विशेष अर्थ में, उसे विकास भी कहा जा सकता है। इसी बात की चर्चा हम यहाँ करेंगे।

कथानक में अपने प्रथम अवतरण-काल में श्रद्धा जीवन के वास्तविक निर्माणात्मक पक्ष का सन्देश लेकर आयी है। जब वह मनु को विषण्ण, उदास तथा एकाकी देखती है, तो सहज उसके मुँह से मनु को लक्ष्य कर यह निकल पड़ता है:

हृदय में क्या है नहीं अधीर
लालसा जीवन की नि:शेष?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग
तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश?
दु:ख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज
भविष्यत् से बनकर अनजान।

× ×

काम मंगल से मण्डित श्रेय
सर्ग इच्छा का है परिणाम
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम।

यह श्रद्धा के चरित्र का प्रारम्भिक रूप है। यद्यपि वह आगे चलकर अद्वैतवादिनी-रहस्यवादिनी हो जाती है, किन्तु इस समय जीवन की निर्माणात्मक प्रतिभा का उल्लास और आनन्द उसके हृदय में है। अतएव मनु का उदासीन रूप उसे खटकता है। वह चाहती है कि मनु उदासीनता का कीचड़ अपने हृदय से धोकर निकाल दे। इसीलिए वह निराशात्मक व्यर्थता ही भावना और कष्ट को बुरा समझती है, तथा जीवन की निर्माण प्रवृत्तियों के

आनन्द का सन्देश उसे सुनाती है। अतीत की स्मृतियों से ग्रस्त मनु से वह कहती है:

प्रकृति के यौवन का शृंगार
करेंगे कभी न बासी फूल,
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र
आह उत्सुक है उनकी धूल।
पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक,
नित्य नूतनता का आनन्द
किये है परिवर्तन में टेक।
युगों की चट्टानों पर सृष्टि
डाल पद-चिह्न चली गम्भीर,
देव गन्धर्व असुर की पंक्ति
अनुसरण करती उसे अधीर।

पुरातनता के मैले-कुचैले वस्त्रों को उतारकर वास्तविक जीवन-निर्माण की ओर मनु को उन्मुख करते हुए श्रद्धा कहती है:

एक तुम यह विस्तृत भूखण्ड
प्रकृति वैभव से भरा अमन्द,
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनन्द।

श्रद्धा प्रारम्भ में किस प्रकार भौतिक सुख-समृद्धि की प्रगल्भ प्रेरणा तैयार करती है, यह देखते ही बनता है। बहुत ही मार्मिक सहानुभूति से वह मनु की स्थिति की विशेषताएँ समझती हुई कहती है:

अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते तुच्छ विचार,
तपस्वी ! आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म-विस्तार।
दब रहे हो अपने ही बोझ,
खोजते भी न कहीं अवलम्ब,
तुम्हारा सहचर बनकर क्या न
उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब।

और आगे :

समर्पण लो सेवा का भार
सजल संसृति की यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पद तल में विगत विकार।
दया, माया, ममता लो आज
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास,
हमारा हृदय रत्न-निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है पास।

फिर कहती है :

बनो संसृति के मूल रहस्य
तुम्हीं से फैलेगी यह बेल,
विश्व फिर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।

मनु के लिए यह सन्देश कितना महान है:

डरो मत अरे अमृत सन्तान
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि,
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।
विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण,
पटें सागर, बिखरें ग्रह पुंज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।
उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प
कुचलती रहे खड़ी सानन्द,
आज से मानवता की कीर्ति
अनिल, भू, जल में रहे न बन्द।

× ×

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय,
समन्वय उनका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

वस्तुत:, देखा जाय तो हमारा भारतीय राष्ट्रवाद इन्हीं आशा-आकांक्षाओं को लिये हुए, अपनी अवस्था-विशेष में, इस प्रकार प्रकट हुआ। उसी का सबल मधुर स्पन्दन श्रद्धा की वाणी में उद्‌घाटित हुआ है। उस राष्ट्रवाद की (उसी के सन्दर्भ से हमारे पूँजीवाद की) वह एकाकी विषण्ण स्थिति दूर हुई, और भारतीय जनता ने, बहुत आत्मविश्वास, गम्भीर मनोबल तथा मानव-भविष्य में आस्था प्रकट करते हुए, मुक्ति-संघर्षों की मंजिलें नापने के लिए अपने विराट भुजदण्ड बढ़ाये। उसके प्रथम आत्मविश्वास की सांस्कृतिक झलक न केवल कामायनी में, वरन् प्रसादजी के अन्य साहित्य में भी मिलती है।

किन्तु, राष्ट्रवाद की तीव्रता के साथ ही हमारे समाज में एक ऐसे वर्ग का भी उत्थान हुआ, जिसकी प्रवृत्तियाँ ऐसी नहीं थीं कि उससे कुछ अधिक आशा की जा सके। प्रसादजी का व्यवसाय वैश्य- व्यवसाय था। उसकी यथार्थताओं से खूब परिचित होना उनके लिए स्वाभाविक ही था। उनकी व्यावसायिक जीवन-यापन-पद्धति ने उनको उस वर्ग के अन्तर्भेद की क्षमता प्रदान की। उन्होंने जाना कि वह वर्ग आज भी दो वृत्तियों की प्रधानता रखता है - प्रभुत्व-भावना और विलासाकुलता। जनता के ज़ोर से, यह वर्ग राजनैतिक क्षेत्र में अधिक-से-अधिक सक्रिय हो रहा था। राष्ट्रवादी संघर्ष बढ़ते जा रहे थे। किन्तु प्रसादजी उसके वर्ग-यथार्थ के सम्बन्ध में तो मार्क्सवादी शब्दावली का भले ही प्रयोग न करें, वे इतना तो जानते ही थे कि यह वर्ग - यह शासक वर्ग-अत्याचारी वर्ग है। अपने इस मत का प्रमाण उन्हें जापान, जर्मनी, ब्रिटेन, अमरीका के उग्र राष्ट्रीयतावादी साम्राज्य-वाद के जीवन-तथ्यों में प्राप्त हुआ। प्रसादजी समकालीन साम्राज्यवादी अन्तर-राष्ट्रीय घटना-चक्रों से प्रभावित थे। अतएव उन्होंने सामान्यीकरण पद्धति से मनु-जैसे चरित्र का निर्माण कर डाला, जिसमें उन्होंने प्रभुत्व-भावना, आत्मछल तथा विलासाकुलता और इन सबके भीतर नवीन अहंवाद (व्यक्तिवाद) की प्रस्थापना की। मनु उनके वर्ग का, उस वर्ग के स्वयं प्रसादजी का, अपनी कमज़ोरियों का तथा व्यक्तिवाद-पूँजीवाद-साम्राज्यवाद का, (भारतीय पैमाने पर, भारतीय भूमि में), वर्ग-प्रतिनिधि बना। अपने सम्बन्ध में तथा जगत् के सम्बन्ध में जितना प्रसादजी का ज्ञान था, उसके अनुसार उन्होंने मनु-चरित्र की सृष्टि की। चूँकि वह एक वर्ग का-ऐसे वर्ग का जो शासक वर्ग है (या भारत में शासक वर्ग बनने जा रहा है) तथा जो वर्ग ब्रिटिश तथा यूरोपीय पूँजीवाद की पद्धति पर अपनी संस्थाएँ, अपने नियम-विधान, अपनी रूप-रचना बनाता चला जा रहा है—[प्रतिनिधि है] उस वर्ग द्वारा निर्मित नयी समाज-रचना, नयी सभ्यता की समीक्षा करना प्रसादजी का (कामायनी में) सबसे बड़ा हेतु रहा। उन्होंने सबसे बड़ा काम यह किया कि नये व्यक्तिवाद को (यहाँ तक कि रोमैण्टिक व्यक्तिवाद को) उसकी वास्तविक शासकवर्गीय भूमिका से सम्बद्ध किया, पूँजीवादी वर्ग से सम्बद्ध किया।

किन्तु, साथ ही, उनका यह कार्य असंगतियों से परिपूर्ण है। ये असंगतियाँ उनके जीवन की विशेष सीमाएँ हैं। वे स्वयं जनता से दूर रहे, जैसा कि शासक वर्ग ग़रीब जनता से दूर रहता है। अतएव **कामायनी** में प्रस्तुत जीवन-समीक्षा-चित्रों के अन्तर्गत शोषक-शासक वर्ग के विरुद्ध जनता की अन्तिम विजय में अपनी आस्था प्रकट न कर सके।

जिस शोषक-शासक वर्ग और उसके व्यक्तिवाद को उन्होंने जाना-पहचाना उस शोषक वर्ग और जनता के बीच तो खाई थी ही, स्वयं उस शोषक वर्ग और प्रसादजी के बीच भी खाई पड़ गयी थी। उस शासक वर्ग की मूल प्रवृत्तियों में तो उनकी पैठ थी, किन्तु उसके विचारों से प्रसादजी का कोई मेल नहीं था। उस उठते हुए पूँजीवादी वर्ग की भीतरी दुष्ट-वृत्तियों की अनुभूति होने के बावजूद, वे जनता के संघर्ष-पक्ष से न बोलकर उस पक्ष से बोलने लगे, जिसे हम 'भारतीय संस्कृति' का बुद्धिवाद-विरोधी, विज्ञान-विरोधी, यन्त्र-विरोधी पक्ष का युटोपियनिज़्म कह सकते हैं। यद्यपि श्रद्धा इड़ा से विदा लेते समय मनुपुत्र को केवल इतना कह देती है:

यह तर्कमयी, तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय।
इसका तू सब सन्ताप-निचय
हर ले, हो मानव भाग्य उदय।
सबकी समरसता का प्रचार,
मेरे सुत! सुन माँ की पुकार।

निश्चय ही, यहाँ समरसता का अर्थ वर्ग-मैत्री और हृदय-परिवर्तन से अधिक नहीं है। वह एक उदार-मतवाद (लिबरलिज़्म) है। मनु की तानाशाही के अनन्तर इस उदार-मतवाद का विशेष राजनैतिक अर्थ तो है ही।

सारांश यह कि इस शासक-वर्ग की जो आलोचना उन्होंने की, वह अत्यन्त स्पष्ट तथा तीव्र होते हुए भी क्रान्तिवादी समीक्षा नहीं थी। प्रसादजी वास्तविक वर्ग-सम्बन्धों को जानते नहीं थे। वे इतिहास के मूल विकास-नियमों से परिचित नहीं थे, यद्यपि द्वन्द्वों की सत्ता मानते थे। जैसे, उन्होंने स्वयं 'इड़ा' सर्ग में लिखा है:

द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव
शाश्वत रहता यह मूलमन्त्र।

किन्तु सभ्यता-समीक्षा का, समाज-समीक्षा का, उनका दृष्टिकोण एक ओर सामन्ती-औपनिवेशिक प्रभाव-छायाओं का, तो दूसरी ओर, उदार-मतवादी पूँजीवाद का छोर छूता था। वे कहाँ तक प्रगतिशील थे और कहाँ तक प्रतिक्रियावादी, यह प्रश्न हम अगले प्रसंगों में उठायेंगे।

प्रसादजी की विश्व-दृष्टि तथा जीवन-दृष्टि श्रद्धा के चरित्र में प्रकट हुई है। अतएव उपर्युक्त चर्चा यहाँ अप्रासंगिक नहीं है। केवल एक बात स्पष्ट कर देनी चाहिए। वह यह कि जनता और शोषक-शासक वर्ग से (जिसके व्यक्तिवाद का प्रसादजी ने चित्रण करना चाहा है) अपनी दूरी के कारण प्रसादजी ने फ़ैण्टेसी का माध्यम चुना। ठीक यथार्थवादी चित्र तो कदाचित वे परिपक्व रूप से चित्रित नहीं कर सकते थे। सफल उपन्यासकार वे थे भी नहीं। अपने विषय से सम्बन्धित जीवन-तथ्यों को निर्मित करने वाली सामाजिक शक्तियों की जानकारी के अभाव में, तथा उन जीवन-तथ्यों के प्रति भाववादी दृष्टि के कारण, वे उन तथ्यों की चित्रावली को वैज्ञानिक रूप से निबद्ध, गुम्फित तथा अंकित कर ही नहीं सके। उदाहरणतः, श्रद्धा ने जिस मानवता की विजय की घोषणा की थी, उसके निर्माण के प्रयत्न इड़ा-पूर्व श्रद्धा के कार्यकाल में ही आरम्भ हो जाने चाहिए थे। किलात और आकुलि के सहचरत्व से मानवता निष्पन्न नहीं हुई थी। यदि प्रसादजी को मनु तथा श्रद्धा को आदि-मानव और आद्या-मानवी के रूप में ही प्रस्तुत करना था, तो फिर समाज-विकास के प्रारम्भिक इतिहास को ध्यान में रखकर करना था और मानवता की विजय की घोषणा की आवश्यकता ही नहीं थी। वस्तुतः, सारस्वत सभ्यता तक आने के लिए आदि-मानव को हज़ारों वर्ष बीते हैं। यदि ऐतिहासिक मनु की कथा ही कहनी थी, तो आधुनिक पूँजीवादी समाज की ह्रास-ग्रस्तता तथा उग्र व्यक्तिवाद के प्रवृत्ति-मण्डलों को, आधुनिक तथ्यों को तथा सभ्यता-समीक्षा को, उसमें निहित करने की आवश्यकता नहीं थी। तात्पर्य यह कि **कामायनी** आदि-मानव की कथा है ही नहीं। वह ऐतिहासिक काव्य भी नहीं है। वह एक आधुनिक काव्य है, जिसमें आधुनिक समस्या है, जिसको एक कथा-फ़ैण्टेसी के विशाल चित्र-फलक में अंकित किया गया है। निश्चय ही, यदि इस प्रकार आधुनिक समस्या को प्रस्तुत करना था तो उस समस्या की पार्श्वभूमि तथा उसके विकास-क्रम को संगठित रूप से, हर बात का ध्यान रखते हुए ही, प्रस्तुत करना था। किन्तु प्रसादजी ने ठीक छायावादी कवि की स्वयं-गति द्वारा ही (अपने विषय के निरूपण, प्रतिपादन, चित्रण की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में न रखकर) **कामायनी** प्रस्तुत की है।

किन्तु इस अभाव के पीछे प्रसादजी का अकौशल इतना नहीं है, जितना कुछ विशेष-जीवन-तथ्यों से भागना, जिसमें उनकी छायावादी अन्तर्मुख अभिरुचि का भी बड़ा हाथ है-जो अभिरुचि उनकी व्यक्तिवादी अन्तर्मुखता के द्वारा काटी-छाँटी-तराशी गयी है।

किन्तु, इस तराशने में केवल शब्दों को हटाया नहीं जाता, वरन् उन अर्थ-चित्रों को हटाया जाता है जो उस अभिरूचि के अनुकूल नहीं होते। फलतः, अस्पष्ट खण्डित अंश तथ्य ही उपस्थित होते हैं। तथ्यों के प्रति जो प्रगाढ़ अनुभूति चाहिए, वह उपस्थित होते हुए भी सारी

विचारधारा, सारी अभिरुचि उसके प्रतिकूल दौड़ पड़ती है। फलस्वरूप उनका मूल्यांकन ठीक-ठीक नहीं हो पाता, जिसके परिणाम-स्वरूप उनका चित्रण भी वस्तु-सामंजस्य तथा क्रम-संगीत लेकर नहीं होता, वरन् उलट-पुलट और उलझा हुआ होता है। इसके उदाहरण पाठक के सम्मुख इस प्रकार प्रस्तुत होते हैं।

श्रद्धा पशुओं के बलिदान से विरक्त होकर मनु कें प्रति यह कहती है:

विश्व विपुल आतंक-त्रस्त है,
अपने ताप विषम से।
फैल रही है घनी नीलिमा,
अन्तर्दाह परम से।
उद्वेलित हैं उदधि लहरियाँ,
लोट रहीं व्याकुल-सी।
चक्रवाल की धुँधली रेखा,
मानो जाती झुलसी।
जगतीतल का सारा क्रन्दन,
यह विषमयी विषमता।
चुभनेवाला अन्तरंग छल,
अति दारुण निर्ममता।

सवाल यह है कि ऐसा कौन-सा बड़ा भारी युद्ध हो गया है कि जिससे यह कहा जाये कि 'विश्व विपुल आतंक-त्रस्त है अपने आप विषम से'। किलात, आकुलि और मनु पशुओं की हत्या करते या आख़िर कितनी कर सकते थे। और स्थिति ही ऐसी थी कि वे अपनी उदर-पूर्ति तथा आत्म-रंजन के लिए कोई मार्ग भी देख नहीं रहे थे। मज़ा यह है कि उन दिनों, जैसा कि प्रसादजी ने चित्रित किया है, कृषि का भी जन्म नहीं हुआ था। तो ऐसी स्थिति में श्रद्धा का आदर्शवादी शब्द-प्रवाह समझ में नहीं आता। या तो प्रसादजी पागल थे या श्रद्धा। किन्तु दोनों में से एक भी पागल नहीं है। वास्तविकता यह है कि प्रसादजी जब श्रद्धा द्वारा यह कहलाते हैं, तब उनके सामने आधुनिक सामाजिक-राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय जीवन-तथ्य हैं। बुद्धि तो ऐसे प्रश्न कर रही है, जो कदाचित् बुद्ध के मन में भी नहीं उठे होंगे। बुद्ध ने संसार के दुख-दैन्य को देखा और अपने विशेष मार्ग द्वारा इस दुख-दैन्य से छुटकारा पाने की प्रेरणा दी। किन्तु श्रद्धा तो यह पूछती है

जीवन का सन्तोष अन्य का
रोदन बन हँसता क्यों ?

निश्चय ही प्रसादजी के सम्मुख मात्र बलिपशु नहीं, वरन् साक्षात् मानवी बलिपशु हैं जिनका रक्त पीकर ही किसी के कपोलों में लालिमा जाग उठी है। अगर प्रसादजी के सम्मुख अपना युग न होता, तो श्रद्धा प्रसादजी के भाव-विचार-आदर्शों की प्रतिनिधिरूपिणी न हो पाती। और अगर उनके सामने आधुनिक जीवन-तथ्य नहीं थे, तो श्रद्धा की सारी बातें, आदिकालीन परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए, शुद्ध प्रलाप ही कही जा सकती हैं। प्रसादजी स्वयं अपने पात्रों को सांकेतिक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। किन्तु यह सांकेतिक अभिव्यक्ति है काहे की? प्रसादजी उन पात्रों को अपनी दार्शनिक विचारधारा के प्रतीक मानते हैं। किन्तु उनके पात्र, जैसे कि वे चित्रित किये गये हैं, दार्शनिक विचारधारा के आधार-स्वरूप रहनेवाली वास्तविक जीवन-प्रवृत्तियों को सूचित और निर्देशित कर रहे हैं।

तात्पर्य यह है कि यह नहीं देखा गया कि जिन बातों को ध्यान में रखकर पात्रों का सूत्र-संचालन कराया जा रहा है, वे बातें ठीक-ठीक सम्बद्ध होकर उभरी हैं या नहीं। फलतः, यह भ्रम उत्पन्न हुआ कि **कामायनी** मात्र एक मनोवैज्ञानिक काव्य है। मनोविज्ञान किसी वस्तु-विषय को, कुछ जीवन-तथ्यों को, लेकर ही उपस्थित होता है, या कहीं आसमान से चू पड़ता है? वे जीवन-तथ्य क्या हैं? वे वास्तविकताएँ क्या हैं? इनके प्रति आलोचकों ने उपेक्षा तो बरती ही, स्वयं प्रसादजी ने, अपनी विचारधारा द्वारा निर्णीत प्रतीकत्व का उन पर आरोप कर, भ्रम को और भी अधिक घनीभूत कर डाला। फलतः, **कामायनी** के सम्बन्ध में समीक्षा-चिन्तन स्पष्ट नहीं हो पाया, निखर नहीं पाया। भ्रम को घनीभूत करने का बहुत कुछ श्रेय-प्रेय (उत्तरदायित्व) प्रसादजी पर भी है।

तात्पर्य यह है कि पात्रों के द्वारा जो विचार प्रकट कराये गये हैं, उनकी मात्रा तथा स्वरूप के अनुसार न तो जीवन-तथ्यों को चित्रित किया गया है, न जीवन-तथ्यों को इस प्रकार सूचित-संकेतित किया गया है कि वे विचारों की समुचित पार्श्वभूमि में उपस्थित हो सकें। मेरा मतलब खासकर 'कर्म' और 'ईर्ष्या' सर्ग से है। वास्तविकता तो यह है कि उपर्युक्त दो सर्गों में प्रसादजी के कल्पना-चित्रों के पीछे जीवन के वे तथ्य हैं; जिनके प्रति उनके मन में नित्य प्रतिक्रियाएँ होती रहती थीं। नहीं तो इन पंक्तियों का क्या अर्थ है? श्रद्धा कहती है:

कल ही यदि परिवर्तन होगा
तो फिर कौन बचेगा,
क्या जाने कोई साथी बन
नूतन यज्ञ रचेगा!
और किसी की फिर बलि होगी

किसी देव के नाते;
कितना धोखा! उससे तो हम
अपना ही सुख पाते।
ये प्राणी जो बचे हुए हैं
इस अचला जगती के;
उनके कुछ अधिकार नहीं
क्या वे सब ही हैं फीके !
मनु ! क्या यही तुम्हारी होगी
उज्जवल नव मानवता ?
जिसमें सब कुछ ले लेना हो
हंत, बची क्या शवता !

क्या उपर्युक्त पंक्तियों में बलिपशुओं के प्रति बौद्ध-करुणा ही का भाव है या कुछ और? इसके उत्तर में जब मनु यह कहता है कि -

तुच्छ नहीं है अपना भी सुख
श्रद्धे ! वह भी कुछ है

तो वह जवाब देती है :

अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा !
सुख को सीमित कर अपने में
केवल दुख छोड़ोगे
इतर प्राणियों की पीड़ा लख
अपना मुँह मोड़ोगे।

सुख को अपने में केन्द्रित कर व्यक्ति न तो संसार को सुखी कर सकता है, न स्वयं वह सुखी रह सकता है। अगर कलियाँ सारा सौरभ अपने में बन्द कर लें, और मकरन्द-बिन्दु सरस होकर उसको वितरित न करें, तो क्या होगा? वे स्वयं ही खिल नहीं सकतीं। खिलीं कि सौरभ भागा, मकरन्द ढुलका। किन्तु, खिल न सकने के कारण उनकी जीवन-सफलता की भी तो हानि हुई। श्रद्धा कहती है :

ये मुद्रित कलियाँ दल में सब
सौरभ बन्दी कर लें;
सरस न हो मकरन्द बिन्दु से
खुलकर तो ये मर लें।
सुखें, झड़ें और तब कुचले
सौरभ को पाओगे;
फिर आमोद कहाँ से मधुमय
वसुधा पर लाओगे!

मनु के सम्बन्ध में श्रद्धा के सम्मुख यह प्रश्न ही क्यों उठा? प्रश्न इसलिए उठा कि मनु नयी मानवता की रूप-रचना करने जा रहा है। इसलिए प्रश्न यह है कि उसकी नयी मानवता एक-दूसरे को खा जाने के सिद्धान्त पर बनेगी, या सबके सुख के लिए बनेगी? यह सवाल है श्रद्धा के सामने।

इस सन्दर्भ से देखा जाये तो मनु-प्रणीत सभ्यता-आरम्भ के बारे में यह प्रश्न अत्यन्त उपयुक्त है :

जीवन का सन्तोष अन्य का
रोदन बन हँसता क्यों !

श्रद्धा के अन्त:करण में अपनी प्रथम महत्वपूर्ण मानव-विजय-घोषणा का उल्लास अब शेष नहीं रह गया। नयी समस्याएँ खड़ी हो गयी हैं। वह सोचती है कि ऐसी कौन-सी मानवता है जो एक-दूसरे के खा जाने के आधार पर ही बनी हुई है। यह वस्तुत: मानवता ही है या शवता। वह कहती है :

विश्व विपुल आतंक-त्रस्त है
अपने ताप विषम से।

मानवता के सम्बन्ध में सोचते-सोचते वह इस वस्तु-तथ्य पर उतरती है :

यह विराग सम्बन्ध हृदय का,
कैसी यह मानवता।

निश्चय ही, श्रद्धा की यह भावना बौद्ध करुणा-भाव की कल्पना से मापी नहीं जा सकती। यद्यपि यह सच है कि बलिपशुओं की हत्या के विरुद्ध बौद्ध करुणा-भाव ने पर्याप्त जागृति उत्पन्न की, तथा उस ऐतिहासिक घटना-सत्य की प्रभाव-छाया न केवल **कामायनी** में,

वरन् प्रसादजी के अन्य नाटकों में भी पायी जाती है। प्रश्न यह है कि यदि केवल बौद्ध करुणा की स्थापना प्रसादजी का उद्देश्य होता, तो श्रद्धा के सुदीर्घ मन्तव्यों और लम्बे वक्तव्यों के औचित्य के लिए वैसी शक्तिशाली प्रसंगात्मक पार्श्वभूमि भी प्रस्तुत की जाती। किलात, आकुलि, मनु द्वारा नियोजित पशु-वधों की संख्या, वस्तुत:, इतनी अधिक हो ही नहीं सकती कि हम यह कह सकें कि विश्व आतंक-त्रस्त है, और यह मानवता कैसी है कि जिसमें हृदय का विराग सम्बन्ध है। विशेषकर मनु जब कृषि-प्रणाली तक पहुँचा ही नहीं है(वह आरम्भ ही नहीं हुई है), तब यदि बह शिकार खेलकर उदर-पूर्ति और आत्मरंजन की सामग्री के लिए लालायित रहता है, तो इस स्थिति में 'विश्व', 'मानवता' आदि बृहत सत्ताओं के सम्बन्ध में सोचने का कोई औचित्य ही प्रस्तुत नहीं होता है, न वह स्वाभाविक ही है। फलत:, हमको इसी निष्कर्ष पर आना पड़ता है कि श्रद्धा के मन्तव्यों और वक्तव्यों के पीछे कुछ ऐसे वस्तु-तथ्य हैं जो मात्र संकेतित हैं, अपने मूलरूप में उपस्थित नहीं ।

वे वस्तु-तथ्य हैं उस समाज के, जिसकी रूप-रचना हुई तो थी बड़े आदर्श रखकर, जिसकी स्थापना हुई तो थी ऊँचे लक्ष्यों से, जिसका उन्नयन हुआ तो था बहुत प्रेरणापूर्वक, किन्तु अन्तत: वह निकला विषमता-ग्रस्त! श्रद्धा इस विषमता पर आँसू बहा रही है। मनु तो केवल इतना कहता है :

आकर्षण से भरा विश्व यह,
केवल भोग्य हमारा

इसका जवाब श्रद्धा देती है :

कल ही यदि परिवर्तन होगा,
तो फिर कौन बचेगा;
क्या जाने कोई साथी बन;
नूतन यज्ञ रचेगा !
और किसी की फिर बलि होगी,
किसी देव के नाते।

श्रद्धा किस नये परिवर्तन की बात कर रही है? स्पष्ट बात यह है कि मनु की नयी मानवता के निर्माण में जितना खूब बहा है, उसे देखकर श्रद्धा यह कहती है कि अगर कोई नया परिवर्तन हुआ तो फिर और खून बहेगा। और भी हजारों मारे जायेंगे, रक्तपात होगा। वह किसी दूसरे आदर्श के नाम पर होगा।

क्या जाने कोई साथी बन,
नूतन यज्ञ रचेगा!

शाब्दिक अर्थ करने से भावार्थ यहाँ लुप्त हो जायेगा। 'यज्ञ' का व्यापक भाव ही ग्रहण करना चाहिए।

और 'परिवर्तन' का अर्थ? कौन-सा परिवर्तन? काहे का परिवर्तन ? 'परिवर्तन' का अर्थ भी हमको यहाँ व्यापक करना होगा। 'परिवर्तन' का अर्थ यह होगा कि जिस प्रकार मनु नयी मानवता बना रहा है, उस प्रकार कोई और व्यक्ति मानवता-निर्माण के प्रयत्न करेगा। किन्तु वह करेगा कब? मनु को हटाने के बाद!

अगर मनु को हटाने के कार्य को नहीं किया गया, तो फिर वह 'परिवर्तन' नहीं हुआ, चाहे और कुछ हो। इसीलिए श्रद्धा कहती है :

कल ही यदि परिवर्तन होगा,
तो फिर कौन बचेगा!

'परिवर्तन और 'बचेगा' शब्द पर जोर दीजिए। अधिक-से-अधिक परिवर्तन का अर्थ किया जा सकता है प्रलय। अगर प्रलय हुआ तो फिर कौन बचेगा! अर्थात् मनु, श्रद्धा आदि सब नष्ट हो जायेंगे।

किन्तु; निश्चित ही, अगर आप **कामायनी** की कथा को फ़ैण्टेसी मानते हैं, तो प्रलय को भी इस फ़ैण्टेसी का अंग ही मानना होगा, और तब प्रलय का अर्थ किया जायेगा भयानक विप्लव और क्रान्ति, समाज-रचना में आमूल परिवर्तन।

अगर आपने उपर्युक्त अर्थ स्वीकार नहीं किया तो आपको श्रद्धा के सुदीर्घ मन्तव्यों और वक्तव्यों की औचित्य-संगति के लिए वैसी शक्तिशाली वास्तविक पार्श्वभूमि के अभाव का सामना करना पड़ेगा। तो फिर आपको इस निष्कर्ष पर आना होगा कि प्रसादजी के काव्य में मात्र मनोवैज्ञानिकता है; किन्तु जिन तथ्यों के प्रति मानसिक प्रतिक्रियाएँ हुई हैं, वे तथ्य तथा उनकी शक्ति की मात्रा, जिसके अनुपात में इतनी तीव्र सबल मानसिक प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हुई हैं, आपके दृष्टि-क्षेत्र से बाहर ही रहेंगी, क्योंकि वस्तुत: वे जीवन-तथ्य इस प्रकार प्रस्तुत ही नहीं किये गये हैं कि वे उन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का वास्तविक औचित्य प्रस्थापित कर सकें। वास्तविक जीवन-तथ्यों को ओझल रखकर, उनके प्रति की गयी मात्र मानसिक प्रतिक्रियाओं तथा प्रक्रियाओं का चित्रण करना, छायावाद की प्रमुख विशेषता है। छायावाद में भाव-पक्ष का चित्रण किया जाता है, विभाव-पक्ष का नहीं। प्रस्तुत किये गये मनोवैज्ञानिक चित्रों से ही आपको यह अनुमान लगाना पड़ता है कि वे तथ्य कौन-से होंगे,

जिन्होंने कवि के मन पर (पात्र के मन में) इतनी सबल संवेदनाएँ जाग्रत और संचालित कीं। **कामायनी** छायावादी काव्य है। इसलिए कवि ने **कामायनी** के चित्रण में जो सामग्री प्रस्तुत की है, वह बहुत बार इतनी अल्प होती है कि जब तक आप प्रसादजी की प्रमुख प्रवृत्तियों को ध्यान में नहीं रखते तब तक उनका अर्थ नहीं लगाया जा सकता। सर्वप्रध ान तथा मूलभूत बात यह है कि प्रसादजी के सामने उनके समय का साक्षात् जीवन था, उस जीवन ने उनके सम्मुख जो तथ्य रखे थे उनके प्रति उन्होंने सबल संवेदनात्मक-विचारात्मक प्रतिक्रियाएँ की थीं। प्रसादजी चित्रक थे, अपने सामने उपस्थित साक्षात् जीवन के चित्रक। किन्तु वे उस काल में उत्पन्न हुए थे जिसमें उन्हें बंगाल आदि अधिक विकसित प्रान्तों तथा विदेशों से फैली हुई भाव-विचाराधाराएँ प्राप्त हुई थीं। तत्कालीन समाज की विकासावस्था की कड़ी के एक अंश बनकर, वे पुरातन को नवीन संस्करणों में और नवीन को पुरातन-नवीन के सम्मिश्र संस्करणों में स्वीकार करते जा रहे थे। भारतीय साहित्य में वह युग ही वैसा था। एक ओर अद्वैतवाद, गांधीवाद, दूसरी ओर रवीन्द्र भावधारा, और तीसरी ओर ब्रिटिश, फ्रेंच, अमरीकी, जर्मन, जापानी साम्राज्यवाद, प्रथम विश्वयुद्ध के अनन्तर अन्तर्राष्ट्रीय-राष्ट्रीय घटनाचक्र, देश के भीतर राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, भूख ग़रीबी, गोलियां, इत्यादि। इसके साथ आप संयोजित कीजिए प्रसाद का सांस्कृतिक-सामाजिक वर्ग-चरित्र, उनकी भाव-विचार पद्धति, उनकी निबिड़ अन्तर्मुखता, उनकी कल्पनाशीलता, तथा छायावादी प्रकृति से उत्पन्न विशेष साहित्यिक अभिरुचि तथा, स्वयं छायावाद और उसकी अभिव्यक्ति की सीमाएँ, तथा साथ ही प्रसादजी की जिज्ञासा, अन्वेषण-शीलता, जीवन की समस्याओं की तीव्र अनुभूति तथा उनका समाधान प्राप्त करने की भयानक छटपटाहट और इतनी उलझनों और समस्याओं के अद्वैतवादी-आदर्शवादी समाधान के अलावा, अन्य भूमिका की प्राप्ति के अभाव का वास्तविक जीवन-तथ्य।

फलत:, वे एक विशाल फैण्टसी के कैनवास पर समस्याएँ चित्रित करने लगे, जीवन-तथ्यों को संकेतित-सूचित करने लगे। उन्होंने जीवन-तथ्यों को अस्पष्ट रखा, किन्तु उनके प्रति की गयी मानसिक प्रतिक्रियाएँ रूपकों और उपमाओं द्वारा प्रस्तुत कर दीं।

यह है वास्तविक स्थिति जिसके प्रसादजी एक अंग हैं। यह है वह वास्तविक स्थिति जिससे **कामायनी** उत्पन्न हुई। इसको भूलकर, हम **कामायनी** का आकलन-अवगाहन कर ही नहीं सकते।

इस पार्श्वभूमि को ध्यान में रखकर ही आप इन पंक्तियों का अर्थ-महत्त्व समझ सकते हैं :

विश्व विपुल आतंक-त्रस्त है
अपने ताप विषम से,

फैल रही है घनी नीलिमा
अन्तर्दाह परम से।
सघन धूम मण्डल में कैसी
नाच रही यह ज्वाला।
तिमिर-फणी पहने है मानो,
अपने मणि की माला।
जगती तल का सारा क्रन्दन,
यह विषयमयी विषमता।
चुभनेवाला अन्तरंग-छल,
यह दारुण निर्ममता।
जीवन का सन्तोष अन्य का,
रोदन बन हँसता क्यों।
एक एक विश्राम प्रगति को,
परिकर-सा कसता क्यों।
दुर्व्यवहार एक का कैसे
अन्य भूल जावेगा।
कौन उपाय? गरल को कैसे
अमृत बना पावेगा।

यदि श्रद्धा की ये मानसिक प्रतिक्रियाएँ केवल बलिपशु के लिए ही होतीं, तो यह सवाल ही न उठता कि वह बलिपशु दुर्व्यवहार कैसे भूल जायेगा, और उसके मन में उत्पन्न अत्याचारी के प्रति घृणा का विष प्रेम के अमृत में कैसे परिणत होगा, और इस घृणा के विष को प्रेम के अमृत में परिणत करने का उपाय क्या है, और उस दुर्व्यवहार को बन्द करने का मार्ग क्या है। इस प्रकार के प्रश्न केवल पशुओं के लिए उत्पन्न हो ही नहीं सकते। इससे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बलिपशु की घटना मात्र एक रूपक है। प्रसादजी के सम्मुख अगोचर रूप में वास्तविक राष्ट्रीय- **अन्तर्राष्ट्रीय**, सामाजिक-राजनैतिक तथा व्यक्तिगत जीवनक्षेत्र में लोभ-लालच, अहंकार, मुनाफा, शोषण, अत्याचार, दमन और लूट-खसोट का विभ्राट खड़ा हुआ है, और उसके **कारण** आपस में एक-दूसरे के लिए हिकारत, घृणा, बदले की भावना, आतंक, भय, **मिथ्या** का आश्रय, दमन और रक्तपात के विशाल दृश्य दिखायी दे रहे हैं। उनके सम्बन्ध में श्रद्धा **की क्षोभपूर्ण संवेदनात्मक** जिज्ञासा उपर्युक्त वाक्यों में प्रकट हुई है।

इस भयानक यथार्थ की संवेदनात्मक अनुभूति के कारण ही, प्रसादजी कल्पना-चित्र पर कल्पना-चित्र उपस्थित करते जाते हैं। अगर यह यथार्थ प्रसादजी के सम्मुख न होता तो वेदकालीन मनु के यथार्थ से इतनी भाव-प्रबलता, इतनी तीव्रता, इतने कल्पना-चित्र प्रस्तुत ही न होते। उदाहरणत:,

विश्व विपुल आतंक-त्रस्त है
अपने ताप विषम से।
फैल रही है घनी नीलिमा
अन्तर्दाह परम से।

अपने स्वयं के अन्तर्दाह से, अपने ही गर्भ के भीतर ज्वालामुखियों के कम्पन से, विश्व आतंक-त्रस्त है। यह कल्पना-मूर्ति किस यथार्थ के सादृश्य पर खड़ी की गयी है? विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच तथा समाज के भीतर जो आत्म-विरोध पैदा हो गया है, वह आत्म-विरोध, परस्पर-विरोध ही वह ज्वालामुखी है, वह अन्तर्दाह है, जिसके कारण स्वयं समाज का, विश्व का, कण-कण आतंक-त्रस्त है। प्रसादजी ने जिस प्रकार विश्व-स्थिति का आकलन किया है, उसी प्रकार का यह समष्टि-चित्र भी उपस्थित किया है। निश्चय ही, जिन तथ्यों में भावोत्तेजना होती है, वह सदृश वस्तुओं की कल्पना भी कराती है। फलत:, इन सदृश वस्तुओं की योजना से उन्हीं तथ्यों का स्वरूप-बोध भी होता है जिनसे भावोत्तेजना उत्पन्न होती है। छायावादी काव्य में उत्तेजित भाव तथा सदृश वस्तुओं की योजना तो रहती है, किन्तु जिन तथ्यों से भावोत्तेजना होती है उनको सामान्यत: ओझल कर दिया जाता है। तथ्यों को ओझल करके मात्र भाव-चित्र प्रस्तुत कर दिये जाते हैं। इससे अस्पष्टता तो आती ही है, भाव-प्रेरक तथ्य की ओर केवल अन्त:साक्ष्य की सीढ़ियों से पहुँचना पड़ता है। कभी-कभी, बीच-बीच में, ये सीढ़ियाँ खण्डित भी होती हैं, किन्तु क्रम की लकीर समझ में आ जाती है। बीच-बीच में, कभी-कभी, दो-दो, तीन-तीन सीढ़ियाँ नदारद होती हैं, फलत: एकदम चौथी या पाँचवीं सीढ़ी चढ़ना पड़ता है। **कामायनी** के लिए तो यह बात एकदम सही है।

जो हो, प्रसादजी ने श्रद्धा को अपने जीवन-चिन्तन का प्रतिनिधि बना रखा है। फलत:, प्रसादजी की वास्तविकताओं को समझे बिना उन जीवन-तथ्यों को समझना भी बहुत बार मुश्किल हो जाता है, जिनके प्रति भाव-विचार व्यक्त किये जा रहे हैं।

'ईर्ष्या' सर्ग **कामायनी** की कथा का एक महत्त्वपूर्ण सर्ग है। मनु श्रद्धा से असन्तुष्ट होकर उसे छोड़ देते हैं। इस सर्ग में कृषि का भी यत्किंचित् आभास मिलता है। श्रद्धा शलियाँ

बीनती है, अन्न इकट्ठा करती है। वास्तविक, कृषि-कर्म का यहाँ भी कोई चित्र नहीं है। श्रद्धा को पशु-हत्या अच्छी नहीं लगती। वह अब तकली भी चलाने लग गयी है। (शायद वह लकड़ी की तकली हो), लौहकर्म का कहीं भी आभास नहीं है। श्रद्धा अपने इस छोटे जीवन से सन्तुष्ट है, जिससे मनु असन्तुष्ट हैं। मनु विस्तार चाहते हैं - कर्म-विस्तार, जीवन-विस्तार।

जीवन-विस्तार की इच्छा रखने में मनु की कोई ग़लती नहीं है। ग़लती है उस पद्धति में, जिसके द्वारा जीवन-विस्तार कार्यान्वित हो जाने की स्थिति की कल्पना की गयी है। श्रद्धा को त्यागकर जिस स्थान पर मनु बैठे हुए थे, वहाँ इड़ा न आती तो ? मनु ने तो कभी सोचा भी नहीं था कि उन्हें इड़ा मिलेगी। उनके भाग्य से जिस प्रकार श्रद्धा मिल गयी, उसी तरह इड़ा भी। किन्तु यह निश्चित थोड़े ही था। अतएव मनु द्वारा श्रद्धा-परित्याग जिस प्रकार एक घोर अहंवादी कार्य है, उसी प्रकार श्रद्धा द्वारा छोटे-से जीवन-क्षेत्र को अपने जीवन का सम्पूर्ण कार्यक्षेत्र समझ लेना भी मूर्खता है।

व्यक्तिवादी के लिए अपनी अभिलाषा अपने-आप में स्वयं-सन्निहित औचित्य भी रखती है। उसके लिए इच्छा स्वयंसिद्ध औचित्य भी अपने साथ लेकर उभरती है। निश्चय ही, मनु ने श्रद्धा को कोई सहायता नही पहुँचायी। श्रद्धा ने पर्णकुटी बनायी। उसमें मनु के योग का कोई जिक्र नहीं, यानी मनु ने वस्तुत: कोई योग नहीं दिया। तकली लेकर वह सूत कातने लगी, तो मनु तो उसकी अन्वेषणशीलता पर, उसकी कर्मण्यता पर, गर्व होना चाहिए था। वह गर्भवती थी, उसका भी उसे कोई ख़याल न रहा - और वह-बड़े मजे में श्रद्धा को छोड़कर चल दिया।

साथ ही, श्रद्धा को भी यह मालूम होना चाहिए कि कोई पति अपनी स्त्री से लम्बी नसीहतें रोज़-बरोज़ नहीं सुन सकता। मूल बात यह है कि मनु और श्रद्धा के पारस्परिक जीवन में मनु का ध्यान श्रद्धा से उठकर मृगया आदि साहसिक कार्यों की ओर लगातार बढ़ रहा था। श्रद्धा को यह बुरा लगता होगा (किन्तु प्रसादजी ने यह नहीं कहा है, न इसे श्रद्धा अपने मुँह से कहती है - उसको बुरा लगना स्वाभाविक तो है)। श्रद्धा मनु को उसकी पशु हत्या के विरुद्ध लगातार पाठ पढ़ाती रही। होना तो यह चाहिए था कि मनु को समझकर उसको पाठ पढ़ाया जाता। हुआ यह है कि जिन बातों की ओर निरन्तर वह आकर्षित था, उन्हीं पर श्रद्धा अपनी आदर्शवादी शब्दावली से आक्रमण करती थी (अगर प्रसादजी मनु को थोड़ा और बुद्धिमान बनाते तो वह भी आदर्शवादी बात कर सकता था।) फल इसका यह हुआ कि मनु ने श्रद्धा-परित्याग किया।

प्रसादजी ने इस कलह का चित्रण उचित रीति से नहीं किया है। इसका फल यह हुआ कि उसकी असलियत एकदम छूट गयी है। साथ ही मनु ने श्रद्धा-परित्याग का जो एकदम ज़ोरदार क़दम उठाया, उसकी सबल कारण भूमिका बन नहीं पायी।

प्रसादजी को श्रद्धा के जीवन के प्रति स्वयं मोह है। छोटा-सा पर्ण कुटीर, वह वन-जीवन, उसकी वे प्रशान्त आभाएँ, वह एकान्त। पूँजीवाद सभ्यता के नगर-जीवन की वास्तविकताओं से ऊबकर वनोन्मुख होने, तथा वहाँ सीधा-सादा जीवन व्यतीत करने की इच्छा कार्यान्वित करनेवाला अमरीकी चिन्तक थोरो भी इसका एक नमूना है। वनोन्मुख होने की इच्छा प्रसादजी में ही नहीं, पूँजीवादी सभ्यता के एक विशेष काल में अनेक साहित्यिकों में जाग्रत हुई । यह एक तरह से अपनी साक्षात् वास्तविकताओं से पल्ला छुड़ाने का एक भाववादी तरीक़ा रहा है, और प्रसादजी में यह कम नहीं है। फलतः, वन तथा ग्राम के आत्म-सन्तुष्ट, आत्मपूर्ण जीवन के प्रति उनमें भी बहुत मोह है। वनवासी ऋषियों के आदर्श से संचालित होकर ही श्रद्धा द्वारा उन्होंने पशु-हत्या के विरोध में अपना स्वर गुंजित किया। साथ ही, उन्होंने मानवता के सम्बन्ध में नये प्रश्न उठाकर, तथा श्रद्धा द्वारा उन्हें मुखर बनाते हुए, वन-जीवन की समस्या-शून्यता (वे समस्याएँ जो प्रसादजी के मन में हैं) तथा उनके आत्म-सन्तुष्ट जीवन के प्रति अपना मोह प्रकट किया है। इसमें क्या आश्चर्य कि आगे चलकर जो प्रश्न तथा समस्याएँ उपस्थित होती हैं, उनका चरम समाधान हिमालयीन अंचलों में ही किया जाता है, और वह भी श्रद्धा के हाथों होता है।

साथ ही, इसमें भी क्या आश्चर्य है कि यह श्रद्धा प्रसादजी के आदर्शों का प्रतिनिधित्व करती है। उन आदर्शों का भौतिक स्वरूप क्या है? आत्म-सन्तोषपूर्ण सुसंगत जीवन, जिसकी संगति समुद्र की संगति नहीं, एक छोटे-से पोखर की संगति है। उसका कार्यक्षेत्र विशाल विश्व-प्रसार का कर्मक्षेत्र नहीं है। फल यह होता है कि जब प्रश्न उत्पन्न होते हैं, समाज के, विश्व के, राष्ट्र के, तो समाधान कराया जाता है अपूर्व एकान्तवादी सामरस्य से। मनुष्य की इच्छाओं का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित कर दीजिए, और उसको वे साधन उपलब्ध कर दीजिए कि जिनसे वह दो जून खा सके और तन ढाँप सके, तो ऐसे सज्जन का जो सामंजस्य होगा, जो अपने आस-पास के जीवन से उसकी संगति होगी, वह अपने-आप में भले ही श्लाघ्य हो, किन्तु सबके लिए न तो वह आकर्षण की वस्तु हो सकती है, न वह सबके लिए आदर्श ही है। श्रद्धा और उसके विधाता प्रसाद भले ही उस जीवन की संगति के दृष्टिकोण से आधुनिक जीवन की वास्तविकताओं और उसकी मूलभूत समस्याओं की आलोचना कर डालें किन्तु उन समस्याओं का वे वैज्ञानिक समाधान नहीं कर सकते।

सच तो यह है कि उस छोटे-से एकान्त जीवन में, सामरस्य के सिद्धान्त की दृष्टि से

वर्तमान वास्तविकताओं की आलोचना, उस दृष्टि की वैज्ञानिकता तथा औचित्य सिद्ध नहा करती। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि हिमालयीन अंचल में बैठकर सारे विश्व से तादात्म्य अनुभव करना छोटा-सा जीवन नहीं है, जैसा कि श्रद्धा का था, तो इसका उत्तर यह है कि जिन समस्याओं को प्रसादजी ने उठाया है, उनका यह कोई उत्तर नहीं हुआ। सच बात तो यह है कि स्वयं प्रसादजी ने भी उन समस्याओं का कोई उत्तर नहीं दिया। केवल एक जनरल (सामान्य) बात कह दी है कि, 'सबकी समरसता कर प्रचार।'

चूँकि प्रसादजी के पास उन समस्याओं का कोई उत्तर न था, इसीलिए श्रद्धा मनु को लेकर हिमालय पर चली गयी, तथा उन समस्याओं से जूझने का काम इड़ा तथा मनु-पत्र पर छोड़ दिया। और रास्ते में मनु को इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान के त्रिपुर बतलाये, जिनमें न केवल परस्पर-विरोध था, वरन् आत्म-विरोध भी था। और फिर उनके समन्वय-सामरस्य की बात करके श्रद्धा मनु को लेकर हिमालय पहुँच गयी।

सच्ची बात तो यह है कि प्रसादजी अपने ही द्वारा उठायी हुई समस्याओं का निराकरण नहीं कर पाते थे। लेकिन श्रद्धा स्वयं इन समस्याओं की स्वीकृति तो बराबर करती आयी है। जैसे वह 'श्रद्धा' सर्ग में ही कहती है :

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान्।
यही सुख दुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

इस विषमता की स्वीकृति के बावजूद, वह यह कहती है :

कर रही लीलामय आनन्द
महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त

प्रारम्भ में श्रद्धा इसी आशावाद से आयी थी तथा अपनी अर्ध-भारतीय अर्ध-हेगेलीय शब्दावली में, उसे प्रकट कर रही थी।

किन्तु जब समस्याएँ उत्पन्न होती हैं (वास्तविक जीवन की भीतरी समस्याएँ) तब न पाश्चात्य, न पौर्वात्य, कोई भाववाद (आइडियलिज्म) काम में नहीं आता। किन्तु श्रद्धा आध्यात्मिक सामरस्य का सिद्धान्त लेकर चलती है। उससे समाज और राष्ट्र की वास्तविक समस्याएँ, वास्तविकता के आधार पर, हल नहीं हो सकतीं।

श्रद्धा को प्रसादजी ने हृदय के सब गुण दे दिये हैं, केवल दो गुण हीं नहीं दे पाये - कर्म और बुद्धि। क्यों नहीं दे पाये? इसका एक उत्तर तो यह है कि वे श्रद्धा को श्रद्धा-भाव का प्रतीक मानते थे। किन्तु श्रद्धा-भाव आख़िर किसी-न-किसी बात में तो होगा। श्रद्धा तो कुछ लोगों की हिटलर में भी थी। तो क्या वे भी श्रद्धावादी हुए? नहीं, श्रद्धा का अर्थ है प्रसादजी के भाववादी अद्वैत में, सामरस्य के सिद्धान्त में, श्रद्धा। किन्तु इस सामरस्य का अर्थ क्या है?

श्रद्धा कहती है :

नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण - जलधि समान।
व्यथा से नीली लहरों बीच,
बिखरते सुख-मणिगण द्युतिमान।

अर्थात्, "वैषम्य से आगे बढ़ने पर तुम्हें सदा एकरस रहनेवाले शिव का दर्शन प्राप्त होगा। प्रत्येक जीव का शिव-स्वरूप होने की समरसता (शिवत्व) में नित्य अधिकार; व्यापक होकर सबके मूल में स्थित है। जैसे समुद्र परम व्यापक होने के कारण चारों ओर से उमड़ता हुआ दिखायी पड़ता है और उसमें उठनेवाली लोल लहरियों के मध्य ज्योतिष्मान मणि-समूह बिखरते हुए दिखायी देते हैं, वैसे ही अत्यन्त व्यापक समरसता में उठनेवाली दुख की नील लहरियों के बीच मणिगण के समान चमकीले सुख-स्वप्न भंग होते रहते हैं। अतः तुम्हें क्षणिक सुख-दुख की चिन्ता छोड़कर समरसता की ओर बढ़ना चाहिए।"

-विजयेन्द्र स्नातक।

प्रसादजी मुख्यतः कवि-मनीषी थे। उनके वाक्यों की शैव-दार्शनिक व्याख्या करना ज्यादती है। हाँ, यह सही है कि उन्होंने उस दर्शन से कुछ पारिभाषिक शब्द ग्रहण किये। किन्तु कवि-दृष्टि के सम्मुख जीवन-तथ्यों के अनुसार उन्होंने उसमें नये अर्थ भर दिये।

हम इस सामरस्य का व्यावहारिक रूप ही क्यों न देखें। हिमालय में बैठे श्रद्धा-समन्वित मनु कहते हैं :

सबकी सेवा न परायी,
वह अपनी सुख-संसृति है।
अपना ही अणु अणु कण कण,
द्वयता ही तो विस्मृति है।
मैं की मेरी चेतनता,

सबको ही स्पर्श किये-सी।
सब भिन्न परिस्थितियों की,
है मादक घूँट पिये-सी।

कहने का तात्पर्य यह है कि हिमालय में बैठकर श्रद्धा-मनु 'सबकी सेवा' कर रहे हैं। अगर 'मैं' की चेतना सर्वाश्लेषी होकर अनगिनत भिन्न परिस्थितियों की मादक घूँट पिये है, तो दुनिया का कल्याण हो चुका! एक ही साथ स्टालिन और हिटलर का मज़ा आ गया। एक ही साथ मैकार्थी, विनोबा और माओ-त्से-तुंग का आनन्द आ गया! भई, यही अभेदानुभूति है? फिर किसी का पक्ष लेने की बात सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक धरातल पर उठती ही कहाँ हैं ? क्योंकि-

चेतना समुद्र में जीवन,
लहरों-सा बिखर पड़ा है;
कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना
निम्रित आकार खड़ा है।

अगर इस सैद्धान्तिक भूमि से देखा जाये तो नैतिक और अनैतिक का प्रश्न ही नहीं उठता। यह इसलिए कि :

अपने दुख सुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर।
चिति का विराट वपु मंगल।
यह सत्य सतत चिर सुन्दर।

विश्व के सम्बन्ध में केवल यही परिकल्पना है कि वह अपने सुख-दुख से पुलकित है।

किन्तु जहाँ संघर्ष है, द्वन्द्व है, वहाँ समरसता का आदेश यह है कि मैत्री कर लो, क्योंकि पक्ष लेने की बात ही नहीं उठती। इसीलिए तो प्रसादजी कहते हैं :

श्रमभाग वर्ग बन गया जिन्हें,
अपने बल का है गर्व उन्हें।

वह शासकों की आतंकवादिता की निन्दा ज़रूर करते हैं, किन्तु श्रमिक वर्गों पर भी नाराज़ हैं कि उनको गर्व हो गया है। इसका व्यावहारिक अर्थ यह हुआ कि जैसा चलता है वैसा चलने दो, उपद्रव मत करो।

वर्ग-विभाजन के बारे में प्रसादजी के खयाल अजीब हैं। वह समझते हैं कि मानो किसी व्यक्ति ने या कई व्यक्तियों ने मिलकर वर्ग-निर्माण, वर्ग-विभाजन आदि किया हो। इसलिए इड़ा कहती है :

मेरे सुविभाजन हुए विषम

और श्रद्धा कहती है :

चेतनता का भौतिक विभाग -
कर, जग को बाँट दिया विराग।

अर्थात् 'चिति का स्वरूप' यह तो नित्य जगत् है, उसका भौतिक विभाग कर तुमने उन भागों का वितरण किया है। अपने बारे में श्रद्धा कहती है :

मैं लोक-अग्नि में तप नितान्त
आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त।

समझ में नहीं आता कि किस प्रकार श्रद्धा लोक-अग्नि में तपी है। कम-से-कम **कामायनी** में, श्रद्धा के चरित के अन्तर्गत तो ऐसी कोई घटना अथवा प्रवृत्ति के विस्तृत चित्र प्रस्तुत नहीं किये गये हैं, जिनसे हम यह कह सकें कि श्रद्धा वस्तुत: सेवा तथा त्याग के द्वारा जनता का उद्धार कर रही है।

किन्तु, अगर मान भी लिया जाये कि श्रद्धा व्यक्तिश: सेवा करती आ रही है, तो भी यह सिद्ध नहीं होता कि प्रसादजी ने जो वास्तविक समस्याएँ उठायी हैं, उनके सम्बन्ध में श्रद्धा ने निराकरणात्मक कोई विशेष स्थिति अपनायी हो, या उनके अनुसार कोई कदम उठाया हो। साथ ही, यह सच है कि व्यक्तिगत सेवा से सामाजिक अन्तविरोधों की समस्याएँ, व्यक्तिवाद की समस्याएँ, दूर नहीं होतीं।

मनु के प्रति श्रद्धा का रुख आवश्यकता से अधिक उदार है। श्रद्धा इड़ा से -

बोली, 'तुम से कैसी विरक्ति,
तुम जीवन की अन्धानुरक्ति।''
X X
मनु के मस्तक की चित अतृप्ति
तुम उत्तेजित चंचला शक्ति।

इड़ा को जीवन की अन्धानुरक्ति कहकर श्रद्धा ने छुट्टी पा ली। किन्तु मनु के सम्बन्ध में उसके मन में केवल स्नेह है, और कुछ नहीं। क्यों ?

क्या यह श्रद्धा का प्रधान दोष नहीं है? क्या यह सच नही है कि उसके मन में मनु के दोषों को ढाँकने की वृत्ति है? यह एकदम सत्य है कि स्वयं श्रद्धा के चरित्र में इच्छा, ज्ञान और क्रिया का सामंजस्य नहीं है। उसके बारे में श्रद्धा केवल इतना ही कहती है

मैं अपने मनु को खोज चली,
सरिता मरु नग या कुंज गली।
वह भोला इतना नहीं छली
मिल जायेगा, हूँ प्रेम-पली।

मनु के प्रति उसके प्रेम की सीमा यही है कि उसका स्नेह मनु की सीमाओं को - उसके अपराधों को - इतना भूल जाता है कि वह यह भी नहीं देखती कि जिस मनु ने इड़ा तथा सारस्वत सभ्यता के सम्बन्ध में इतना घोर अपराध किया है, उसको अपने किये पर वास्तविक पश्चात्ताप नहीं हुआ है। मनु पुनः इड़ा-श्रद्धा-सम्मिलन स्थान से भाग खड़ा होता है। किन्तु श्रद्धा उसे खोजती पहुँच जाती है।

तब इड़ा के बारे में मनु कहता है

वह इड़ा कर गयी फिर भी छल।

इड़ा ने मनु के साथ छल किया या मनु ने इड़ा के साथ ? मनु का यह कितना घोर अन्याय है ! उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे।

इसका जबाव तो श्रद्धा खूब ही देती है। वह कहती है :

बन रहा तुम्हारा ऋण अब धन;
अपराध तुम्हारा वह बन्धन -
लो बना मुक्ति, अब छोड़ स्वजन-
निर्वासित तुम, क्यों लगे डंक!

समझ में नहीं आता कि जो मनु साफ़-साफ़ यह कहता है कि इड़ा ने उसके साथ छल किया है (जबकि वह स्वयं इड़ा का घर्षण कर रहा था, प्रजा पर जिसने अग्निवर्षा की थी), उस मनु का अपराध किस प्रकार नष्ट हुआ? वह अपराध-बन्धन किस प्रकार मुक्ति के रूप में परिणत हुआ? श्रद्धा तो यह कहती है कि हे मनु! अब तुम्हें उस सम्बन्ध में डंक (पीड़ा) लगना ही नहीं चाहिए। यह कैसी उल्टी बात है !

क्या यह पक्षपतापूर्ण श्रद्धावाद अपने प्रियपात्र व्यक्तिवादियों के अपराधों को ढाँक नहीं रहा? क्या श्रद्धा इस स्थान पर स्वयं, व्यावहारिक रूप से, व्यक्तिवादिनी नहीं है? स्पष्ट बात यह है कि उसमें स्वयं इच्छा, क्रिया और ज्ञान का सामंजस्य नहीं है।

यद्यपि श्रद्धा की यह बात हम मानते हैं कि :

यह विष जो फैला महा विषम
निज कर्मोन्नति से करते सम;
सब मुक्ति बनें, काटेंगे भ्रम,
उनका रहस्य हो शुभ संयम;
गिर जायेगा जो है अलीक,
चलकर मिटती है, पड़ी लीक।

किन्तु, इस कर्मोन्नति में श्रद्धा का योग कहाँ है? मनु का योग कहाँ है? हृदय में शुभ-भावनाएँ और शुभाकांक्षाएँ रखना एक बात है और उनको संगठित, सुसंयोजित रूप से कार्यान्वित करना तथा इस सम्बन्ध में नेतृत्व प्रदान करना दूसरी बात है।
श्रद्धा अपने बारे में भले ही यह कहे कि :

मैं लोक-अग्नि में तप नितान्त
आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त।

किन्तु इसका कोई वास्तविक जीवन-उदाहरण कामायनीकार ने प्रस्तुत नहीं किया। वस्तुत: वह है ही नहीं। इसका कारण यह है कि श्रद्धा स्वयं लोक-व्यक्ति नहीं है, उसका भीतरी प्रवृत्ति-मण्डल ही ऐसा नही है। श्रद्धा एक प्राइवेट इण्डिविजुअल है, अपने-आप में सीमित उसका व्यक्तित्व है। वह स्वयं व्यक्तिवादिनी है, तथा उसमें ज्ञान, क्रिया तथा इच्छा के सामंजन्य और सन्तुलन का सर्वथा अभाव है। यद्यपि उसमें हृदय के सभी गुण हैं, अर्थात् उसका प्रेम उच्च धरातल पर स्थित है, किन्तु वह धरातल ऐसा नहीं है जो सर्वथा उचित हो। जो स्त्री मानवता की बात करे, किन्तु जो सामजिक कर्मक्षेत्र की ओर लोक-व्यक्ति के रूप में कार्य न करे जो स्त्री अपने प्रेमी के प्रेम में उलझकर उसके घनघोर अपराधों को न केवल भूल जाये, वरन् उनको टाल दे, वह स्त्री मानवता का क्या उद्धार करेगी? उसमें कर्म तथा ज्ञान-विवेक तथा उत्तरदायित्व-भावना का अभाव है।

वस्तुत: देखा जाये तो श्रद्धा नारी-जाति का भी प्रतिनिधित्व नहीं करती। नारियाँ विवाहिता होने पर (इस सम्बन्ध में यह जानने योग्य बात है कि श्रद्धा अविवाहिता है) जितना विवेक, उत्तरदायित्व तथा व्यावहारिक उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक बातों का ज्ञान रखती हैं,

श्रद्धा के पास इतना भी नहीं है। श्रद्धा मनु को क्षमा भले ही कर दे, किन्तु उसकी अनैतिक कार्यवाहियों को नैतिक बनाने का स्वाँग तो न करे!

श्रद्धा-इड़ा-सम्मिलन स्थल से भाग उठने के पहले ('निर्वेद' सर्ग में) मनु सोच रहे थे :

श्रद्धा को दिखलाऊँ कैसे
यह मुख यह कलुषित काया।
और शत्रु सब, ये कृतघ्न फिर,
क्या इनका विश्वास करूँ?

प्रतिहिंसा-प्रतिशोध दबाकर,
मन ही मन चुपचाप मरूँ।

इसी बात को ध्यान में रखकर 'दर्शन' सर्ग में मनु कहता है

वे श्वापद-से हिंसक अधीर,
कोमल शावक वह बाल-वीर।

इड़ा और सारस्वत सभ्यता की जनता, जिनके प्रति मनु ने अपराध किया था, उनके सम्बन्ध में (यह बात) मनु कहता है।

मनु के अनुसार सारस्वत जन श्वापद से हिंसक अधीर हैं और इड़ा तो छल कर गयी है:

वह इड़ा कर गयी फिर भी छल।

मनु की इस भूमिका के तुरन्त अनन्तर श्रद्धा कहती है

प्रिय ! अब तक हो इतने सशंक;
देकर कुछ कोई नहीं रंक,
यह विनिमय है या परिवर्तन,
बन रहा तुम्हारा ऋण अब धन,
अपराध तुम्हारा वह बन्धन,
लो बना मुक्ति, अब छोड़ स्वजन,
निर्वासित तुम, क्यों लगे डंक?
हो लो प्रसन्न, यह स्पष्ट अंक।

हम पहली दो पंक्तियाँ लेंगे। प्रश्न यह है कि सारस्वत सभ्यता के निर्माण में मनु ने जो योग दिया है, उसके बदले में उसी सभ्यता का ध्वंस तो नहीं किया जा सकता, अपनी अहंग्रस्त इच्छाओं से संचालित मनु के अपराध तो ऐसे भयानक अपराध हैं, जिनके बारे में श्रद्धा को कोई कदम उठाना चाहिए था अथवा, कम-से-कम, मनु को उसकी भूल का विश्लेषण कर घनघोर पश्चात्ताप द्वारा उसको कुछ प्रधान नैतिक मानदण्डों का साक्षात्कार करवाना चाहिए था। लेकिन नहीं, प्रेम के वशीभूत होकर हमारी आदर्शमती श्रद्धा, जो मनु के आखेटक-जीवन में पशु-हत्याओं के प्रश्न की आड़ में मानवता के प्रश्नों को उठाती है, वही श्रद्धा इस समय कहती है कि,

अपराध तुम्हारा वह बन्धन
लो बना मुक्ति.....

यह अपराध स्वयं मुक्ति कैसे हो गया? मनु को तो अपने किये पर पश्चात्ताप तक नहीं, फिर यकायक मनु मुक्त कैसे हुए? इस सम्बन्ध में स्वयं श्रद्धा कहती है कि मुक्त वे इसलिए हुए कि -

.....अब छोड़ स्वजन
निर्वासित तुम.....

अर्थात् तुम निर्वासित हो चुके हो; अब छोड़ो वह पिछली झंझट। जब तुम स्वजनों को छोड़, आये हो, तो अब तुम्हें उन बातों को याद कर दुखी होने की ज़रूरत ही क्या है। खुश हो जाओ :

.....क्यों लगे डंक?
हो लो प्रसन्न, यह स्पष्ट अंक।

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि श्रद्धा ने मनु को भी क्षमा कर दिया है, और इस प्रकार क्षमा कर दिया है कि मानो उन पिछली बातों का कोई महत्त्व ही न हो। ध्यान में रखने की बात है कि मनु ने अपना अपराध स्वीकार नहीं किया है। वह अभी भी दूसरों के उसके प्रति किये गये तथाकथित अपराधों (जैसा कि वह समझता है) के बारे में सोच रहा है, अपने अपराधों के बारे में नहीं। श्रद्धा मनु का अपराध तो स्वीकार करती है, किन्तु मनु से यह नहीं कहती कि वह अपने घनघोर अपराध स्वीकार करे। वह तो मनु को इस परिस्थिति की याद दिलाती है कि उसके अपराधों ने उसे पिछली परिस्थितियों से छुटकारा भी दिला दिया है, इसलिए अब वह मुक्त है, और इस छुटकारे में मनु को खुश होना चाहिए।

तॉलस्तॉय के रिसरेक्शन उपन्यास का नायक अपने किये अपराधों पर पश्चात्ताप कर जिसके प्रति अपराध किया गया है उसकी कष्ट-मुक्ति के लिए-दुखों से उद्धार के लिए-आकाश-पाताल एक कर देता है। अगर वह मानवता की बात करता है, तो समझ में आती है।

किन्तु हमारी श्रद्धा मनु को अपने अंचल में दुलराती है। मनु को अपने किये पर पश्चात्ताप नहीं होता, और फिर भी उसे दुलराती है। इसीलिए मनु (उपर्युक्त उद्धरण के अनन्तर) कहता है :

तुम देवि ! आह कितनी उदार
यह मातृमूर्ति है निर्विकार;

हे सर्वमंगले, तुम महती,
सबका दुख अपने पर सहती;

कल्याणमयी वाणी कहती,
तुम क्षमा-निलय में ही रहती।

तो जी हाँ, यह क्षमा की फ़िलॉसफ़ी है। नारी का घर्षण कीजिए; जनता पर गोलियाँ चलाइए, हमारे आदर्शवादी श्रद्धावादी साधु-सन्त और उनके चेले-चपाटी सब क्षमा कर देंगे। किन्तु क्षमा किनको करेंगे? जो गोली चलाते हैं उनको, जनता पर जो शासक अत्याचार करते हैं उनको। यह है कामायनीकार का श्रद्धावाद, जिसने हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र में प्रतिक्रियावाद के हाथ मज़बूत किये।

यह आकस्मिक बात नहीं है कि जब श्रद्धा इड़ा से मिलती है तब वे लोग, जो घायल पड़े हैं, उनकी सेवा-सुश्रूषा नहीं करती। उस ओर वह प्रवृत्त है, बतलाया ही नहीं गया। वह इड़ा से इस सम्बन्ध में चर्चा भी नहीं करती, न मरों के प्रति कोई सहानुभूति ही व्यक्त करती है। प्रजा ने जो विद्रोह किया उसके पक्ष में, अथवा उस जनता के पक्ष में, श्रद्धा की सहानुभूति नहीं जागती, इतना अत्याचार देख श्रद्धा के मर्मस्थल पर कोई चोट नहीं होती।

वह श्रद्धा जो 'श्रद्धा' सर्ग में मानवता-विजय की कामना की घोषणा करती है, जो 'कर्म' और 'ईर्ष्या' सर्ग में बलिपशु की हत्या की आड़ में मानवता के प्रश्नों को उठाती है, वही श्रद्धा 'दर्शन' सर्ग में जनता की बात नहीं करती। यह है श्रद्धा का मानवतावाद ! जब

वह वास्तविकता के धरातल पर आयी, तब टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गयी। वह मात्र एक निरीह पत्नी बन गयी। मनु को उसने अपने में भर लिया जबकि वहीं कहीं आसपास

अभी घायलों की सिसकी में जाग रही थी मर्म-व्यथा,
पुर-लक्ष्मी खग-रव के मिस कुछ कह उठती थी करुण कथा।

हमें निस्सन्देह श्रद्धा के पत्नीत्व पर कोई आपत्ति नहीं है, बशर्ते कि वह 'मानवता', 'लोक-अग्नि' आदि की फ़ालतू बातें बन्द कर दे।
क्योंकि वह यह कहती है :

मैं लोक-अग्नि में तप नितान्त,
आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त।

**कामायनी** में एक स्थल पर भी इसका कोई प्रमाण नहीं है कि वस्तुत: श्रद्धा प्रसन्न होकर लोक-अग्नि में अपनी आहुति देती है। अपने घर्षण का जो घाव इड़ा को लगा, उसके बारे में श्रद्धा उससे सहानुभूति प्रकट नहीं करती, तथा जो दुख हुआ है उसके बारे में वह कहती है:

तू क्षमा न कर कुछ चाह रही,

जलती छाती की दाह रही।

मज़ेदार बात यह है कि मनु के कारण सारस्वत सभ्यता में जो इतना विभ्राट हुआ, जो रक्तपातं हुआ, तो वहाँ श्रद्धा ने सहानुभूति, कोमलता, मानवता आदि का आदर्शवाद नहीं उठाया, वरन्, इड़ा पर वर्ग-विभाजन का आरोप लगाते हुए यह कहा:

चेतनता का भौतिक विभाग-
कर, जग को बाँट दिया विराग;
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्,
वह रूप बदलता है शतशत,
कण विरह-मिलनमय नृत्य निरत,
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत।
संगीतपूर्ण है एक राग,
झंकृत है केवल 'जाग जाग'।

विश्व के सुख और दुख में विभिन्न परिस्थितियों में एकरस होकर डूबी रहने वाली समरसता ('सब भिन्न परिस्थितियों की, है मादक घूँट पिये-सी' - 'आनन्द' सर्ग), तथा जड़ और चेतन के भीतर अद्धैत चेतना का यह दर्शन (श्रद्धा का दर्शन अथवा श्रद्धावाद); अपने व्यावहारिक पक्ष में किस प्रकार समझौतावादी है, यह उपरिलिखित विश्लेषणों से स्पष्ट हो गया होगा। जो दर्शन विश्व के सुख और दुख में एकरस होकर डूबे रहने का सन्देश देता है, वह बुरे के, शोषक के, अमंगल के, विरोध का, पराजय और विनाश का सन्देश, तथा जनता के संघर्ष, विजय और विकास का सन्देश, नहीं दे सकता।

दूसरे यह सन्देश, यह दर्शन स्थित्यात्मक है, गत्यात्मक नहीं। इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि वन-जीवन के एकान्तवास में अपने गृहिणीत्व (वह विवाहिता न थी) को चरितार्थ करनेवाली, तथा अपने घर में बैठकर मानवता के प्रश्न को उपस्थित करनेवाली, श्रद्धा मानवता की वास्तविक स्थिति-परिस्थितियों में सामना होते ही, वस्तुत: दार्शनिक पलायन करती है, और मनु को लेकर हिमालय की ओर निकल जाती है। श्रद्धा का आदर्श ही स्थित्यात्मक है। फलत:, मनु का श्रद्धा के सम्बन्ध में यह कहना है :

तुम फूल उठोगी लतिका-सी
कम्पित कर सुख सौरभ तरंग;
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा
वन-वन बन कस्तूरी कुरंग।

मनु ने श्रद्धा का जो उपर्युक्त चरित्रांकन किया है वह वस्तुत: सत्य है। अपने घर की पर्णकुटी की चहारदीवारी में आत्म-तृप्त जीवन की स्थायिता चाहनेवाली श्रद्धा हिमालय की ओर ही मनु को ले जा सकती है - वास्तविक सारस्वत सभ्यता के पुनरुद्धार-कार्य की ओर उसको उन्मुख नहीं कर सकती ।

श्रद्धा-सरीखे जनों की गतिहीन स्थायिता तथा एकान्तवाद का वही दर्शन है जिसे हम एक शब्द में 'कूटस्थ ब्रह्म' का दर्शन कह सकते हैं। श्रद्धा-जैसे जनों के आदर्श का चरित्रांकन मनु ने एक जगह बहुत खूबी के साथ किया है। वह कहता है :

देखे मैने वे शैल श्रृंग
जो अंचल हिमानी से रंजित,
उन्मुक्त; उपेक्षा भरे तुंग।
अपने जड़ गौरव के प्रतीक
वसुधा का कर अभिमान भंग
अपनी समाधि में रहें सुखी

बह जाती हैं नदियाँ अबोध।
कुछ स्वेद बिन्दु उनके लेकर
वह स्तिमित नयन गतशोक-क्रोध
स्थिर मुक्ति, प्रतिष्ठा मैं वैसी
चाहता नहीं इस जीवन की।
मैं तो अबाधगति मरुत सदृश
हूँ चाह रहा अपने मन की।
जो चूम चला जाता अगजग।
प्रति पग में कम्पन की तरंग।
- वह ज्वलनशील गतिमय पतंग।

मनु स्वयं श्रद्धा-जैसे जनों और उनके आदर्शों की गतिहीन स्थित्यात्मकता की जड़ता समझता था।

निश्चय ही श्रद्धा के स्थित्यात्मक एकान्तवादी चरित्र से उत्पन्न यह स्थित्यात्मक व्यक्तिवादी भावादर्शवाद, इस अर्थ में तो मनु के व्यक्तिवाद से ऊँचा कहा जा सकता है कि उसमें आक्रमणकारी, उग्र अहंग्रस्त इच्छा-मण्डल नहीं है, कि जिसके फलस्वरूप मनु को भागना-भटकना पड़ा। किन्तु वह एक दर्शन की हैसियत से, यद्यपि वर्ग-विभाजन आदि विषमताओं की भर्त्सना करता है, किन्तु अन्ततः वह उन्हीं प्रवृत्तियों से समझौता भी करता है जो विषमताओं को जन्म देती तथा विकसित करती हैं। इड़ा के वर्ग-विभाजित समाज की भर्त्सना काफ़ी नहीं है। श्रद्धा की अभेदपूर्ण वर्गहीनता की कल्पना अमूर्त, वायवीय और रहस्यात्मक है। वर्गहीन सामंजस्य और समरसता का अमूर्त आदर्शवाद अपने अन्तिम अर्थों में इसलिए प्रतिक्रियावादी है : (क) वर्ग-वैषम्य से वर्गहीनता तक पहुँचने के लिए उसके पास कोई उपाय नहीं। इस उपायहीनता का आदर्शीकरण है। भाववादी-रहस्यवादी विचारधारा; (ख) इस उपायहीनता का एक अनिवार्य निष्कर्ष यह भी है कि वर्तमान वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक स्थिति चिरस्थायी है; (ग) इस यथार्थ की भीषणता में अगर कुछ कमी की जा सकती है तो वह शासक की अच्छाई और उसके उदार दृष्टिकोण के द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है - श्रद्धा अपने पुत्र को इड़ा के पास इसीलिए रख देती है; (घ) इस विचारधारा के द्वारा यथार्थ और आदर्श के बीच अवांछनीय खाई पड़ जाती है। वर्ग-भेद के सम्बन्ध में एक बात यह ध्यान में रखने की है कि प्रसादजी के पास वर्ग-भेद के सम्बन्ध में कोई वैज्ञानिक कल्पना नहीं है। वे वर्ग-भेद के साथ सभी भेद-विषमताएँ मिला देते हैं जो उन्हें दिखायी पड़ती हैं। वास्तविकता तो यह है कि वे वर्ग-भेद के यथार्थ स्वरूप को समझते नहीं हैं।

श्रद्धावाद, श्रद्धा के चरित्र से उभरकर, यह उद्घाटित करता है कि हमारा तथाकथित भाववाद-आदर्शवाद, अन्ततः, किस प्रकार वस्तुत पूँजीवादी विषमताओं के लिए क्षमाप्रार्थी होकर पूँजीवादी व्यक्तिवादियों को सिर्फ़ नसीहत देता है, और बाद में उन्हीं से समझौता कर लेता है। वह रहस्यात्मक आदर्शवाद, वस्तुतः, आत्म-विरोधों से ग्रस्त पूँजीवाद तथा व्यक्तिवाद का दार्शनिक डिफेंस है, और कुछ नहीं।

इसके साथ ही, श्रद्धा के चरित्र द्वारा हमको यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि नयी पूँजीवादी सभ्यता ने लोगों के सामने जो आशाकांक्षाएँ उत्पन्न कर रखी थीं, वही सभ्यता शीघ्र ही अपने आत्म-विरोधों द्वारा ह्रासग्रस्त होकर असंयोजनीय भीतरी और बाहरी विषमताओं में फँस गयी, तथा उसने जनता के ऊपर ही हाथ साफ किया। श्रद्धावाद उसके इन आत्म-विरोधों के लिए क्षमाप्रार्थी होकर उन्हीं की ओर से काम करने लगा, जो शोषक और शासक के रूप में आज जनता के सामने उपस्थित हैं, और उस पर अत्याचार कर रहे हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। श्रद्धावाद उन लोगों का अस्त्र है जो आज जनता की सम्पूर्ण लड़ाईयों के विरुद्ध शोषकों और शासकों का पक्ष लेते हैं।

श्रद्धावाद घनघोर व्यक्तिवाद है। ह्रासग्रस्त पूँजीवाद का जनता को बरगलाने का एक ज़बर्दस्त साधन है।

श्रद्धावाद की व्याख्या निस्सन्देह उस वाद के सिद्धान्तों की व्याख्या है। इस व्याख्या के अन्तर्गत उस धारा के भाववादी-आदर्शवादी दृष्टिकोण को वास्तविकता की कसौटी पर कसकर, उस सिद्धान्त-प्रणाली के भीतरी खोखलेपन की वास्तविकता का उद्घाटन किया जाना चाहिए। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के एकमात्र उद्देश्य-इरादों से हम उसके वास्तविक कार्य-व्यवहार तथा चरित्र को नहीं समझ सकते (हम उसके कार्य-व्यवहार और चरित्र से उसके उद्देश्य समझ सकते हैं), उसी प्रकार श्रद्धावाद के उद्देश्य-लक्ष्यों से उसके कार्य-व्यवहार तथा चरित्र को समझ नहीं सकते। किन्तु, उसके कार्य-व्यवहार तथा चरित्र से हम उसके वास्तविक कार्यान्वयगत उद्देश्यों तथा लक्ष्यों को समझ सकते हैं। हम यह देख चुके हैं कि श्रद्धावाद, अपने अन्तिम निष्कर्षों में, उसी शासक-शोषक वर्ग के प्रति क्षमापूर्ण होकर, न केवल उसकी रक्षा करता है, वरन् उससे भी सबल रूप से, वह उन लक्ष्यों से विमुख है जो जनता के उद्धार-लक्ष्य, मुक्ति-लक्ष्य कहे जा सकते हैं। उसकी यह विमुखता केवल नकारात्मकता कही जा सकती है, किन्तु वह नकारात्मकता एक ऐसी संहारात्मक शक्ति है, जो अस्पष्ट अर्थशाली शब्दों के प्रयोग-माध्यम से भाववादी-आदर्शवादी डिफेंस खड़ा कर सके। कहने का सारांश यह है कि यह विमुखता मूलबद्ध, प्रवृत्तिमूलक तथा सक्रिय है। यह तो शासक-शोषक वर्गों की बात हुई।

किन्तु भोली जनता तथा अन्य जन श्रद्धावाद का अर्थ प्राचीन परम्पराओं के प्रति आस्था के ही अर्थ में लेते हैं, तथा वे इस श्रद्धावाद को आधुनिक विज्ञान तथा उन्नति के फलस्वरूप उत्पन्न विचाराधाराओं और मूल्यों के विरुद्ध प्रस्थापित करते हैं। हमारे छायावादी साहित्य-चिन्तन में पूँजीवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया की गयी है वह आधुनिक युग को पूँजीवादी व्यवस्था का युग न कहकर केवल 'यन्त्र-युग' मानकर ही प्रस्तुत की गयी है। यन्त्र-युग कहकर वे लोग ऐसे अ-यन्त्र-युग की कल्पना करते हैं, जिसमें मनुष्य सरल-स्वाभाविक, स्वावलम्बी जीवन बिताता है। वस्तुत: वह सरल-स्वावलम्बी जीवन, जिसमें वे लोग आधुनिक सभ्यता की उलझनों का अभाव देखते हैं, ऐसा जीवन है जिसका सामाजिक आधार पिछड़ा हुआ है। वह सामन्ती अथवा उससे पूर्वकालीन सभ्यताओं की ग्राम-संस्कृतियों का जीवन है, जिसमें उनकी कल्पनानुसार व्यक्ति सहज-सरल, श्रम-सिक्त, उल्लासपूर्ण जीवन बिताता था। वस्तुत:, यह उनकी मात्र कल्पना ही है, क्योंकि इस कल्पना के लिए कोई ऐतिहासिक-सामाजिक प्रमाण उपलब्ध नही हैं। वे तत्कालीन सामाजिक जीवन की उन बाधाओं को नहीं देखते, जिन्होंने हमारी सभ्यता को हज़ारों सालों तक एशियायी सामन्तवाद के शिकंजों में जकड़कर रखा। जनता के इतने विप्लव हुए- धार्मिक और राजनैतिक - किन्तु विप्लवों ने समाज-रचना का मूलाधार समाप्त नहीं किया। एक सामन्ती शासक-शोषक के अनन्तर दूसरा सामन्ती शासक-शोषक आया। व्यवस्था वही रही। शोषण वही रहा। हमारी जनता एक-दूसरे से लड़नेवाले हिन्दू-मुस्लिम सामन्तों की सेनाओं में भरती होती रही, और हिन्दू-धर्म और मुस्लिम-धर्म के नाम से लड़नेवाले सामन्तों की लड़ाइयों में इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से काम करती रही। भारत में शक आये, हूण आये, तुर्क आये, अफगान आये, और हमारा देहाती किसान राजनीति से मूलबद्ध रूप से विमुख होकर वहीं हल चलाता रहा। 'कोउ नृप होय हमहिं का हानी' वाली कहावत सिर्फ कहावत नहीं, सामन्त-व्यवस्था के अन्तर्गत जनता की विशुद्ध वास्तविकता है। वह जनता तो जब बगावत करती जब उसकी आर्थिक ज़िन्दगी पर कोई आक्रमण करता, अथवा जान-बूझकर उसके गाँव जलाये जाते। एशियायी सामन्तवाद की सबसे बड़ी विशेषता है – उसकी ग्राम-व्यवस्था, जो आदिम साम्यवादी पंचायती व्यवस्था के (अपने अनुकूल) भग्नावशिष्ट रूपों को लेकर चली। भारत में पूँजीवाद की स्थापना के अनन्तर भी हमारे यहाँ ग्राम-क्षेत्रों का व्यापक विकास न हो पाया। ग्रामीण अंचलों में सदियों पुरानी छायाएँ चलती रहीं। उधर शहरों में बसनेवाले उच्चवर्गीय परिवार अभी सामन्ती प्रभाव-छायाओं को हटा भी न पाये थे कि पूँजीवादी सभ्यता के भीतर आत्मविरोधों की अनुल्लंघनीय खाइयों का न पाटा जा सकने वाला कठोर अस्तित्व अपनी वास्तविक सामाजिक स्थिति बनकर सामने आया। फलत: आदर्श समाज के कल्पना-स्वप्न लोगों की आँखों के सामने तैरने लगे। सुखी, सरल, श्रम-सिक्त, उदार,

स्वावलम्बी, आत्म-तृप्त ग्रामीण समाज ही उनके आदर्श समाज का नमूना बना। निश्चय ही, ऐसे ही ग्राम भारत में अब न थे। किन्तु गाँधीवाद ने ऐसे ग्राम-समाज की कल्पना जनता के मन में स्फुटित कर रखी थी। प्रसाद ने इस कल्पना में थोड़ा औपनिषदिक तथा बौद्ध वातावरण मिला दिया। उसे प्राथमिक भारतीय आर्य संस्कृति के उन्मेषों से न्यस्त किया। ग्राम-जीवन तथा वन-जीवन का हमारे यहाँ खूब आदर्शीकरण हुआ।

निश्चय ही, इसका व्यावहारिक कार्यान्वयगत गर्भितार्थ प्रतिक्रियावादी है। नवीन औद्योगिक विकास तथा सामन्ती शोषण से सर्वथा मुक्ति के तत्त्व इसमें नहीं हैं; यह भारत को अविकसित सामाजिक दशा के खूँटे से बाँध रखना चाहता है। साथ ही, दार्शनिक क्षेत्र में पूँजीवादी समाज की अवैज्ञानिक आलोचना के उपरान्त वह उसी शासक-शोषक वर्ग की अतिचारिता के अपराधों के प्रति क्षमापूर्ण होकर, वस्तुत: जनता के मुक्ति-लक्ष्यों और उससे सम्बन्धित मुक्ति-संघर्षों से विमुख तथा उसका विरोधी है।

साथ ही, हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि हमारे विशेष काल-खण्ड के भीतर श्रद्धावाद ने हमारी पिछड़ी हुई आर्थिक-सामाजिक पार्श्वभूमि के अनुसार मध्यवर्गीय जनता के अविकसित मन में अवैज्ञानिक प्रभावों को जन्म दिया, और एक भावुक अबुद्धिवाद, बुद्धि-विरोधीवाद हमारे मध्यवर्ग में 'अनुभूति, इन्ट्यूशन, आस्था, श्रद्धा, आदि के नाम पर चल पड़ा। वह इतना दृढ़ हुआ कि आज भी हम इस वृत्ति से मुक्त नहीं हो पाये हैं।

उधर सन् पाँच से लेकर सन् सैंतीस के काल-खण्ड में प्रसादजी अपनी कई विकासावस्थाओं को पास कर चुके थे। वे पूँजीवादी राष्ट्रवाद के भीतरी खोखलेपन को (अवैज्ञानिक रूप से ही क्यों न सही) देख चुके थे।

और, यूरोप में सभ्यता-सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं। एक तो मार्क्सवादी प्रवृत्ति जिसने आगे चलकर रूस में समाजवाद की स्थापना की, और एक आदर्शवादी प्रवृत्ति जिसने भाववादी रीति से पश्चिमी यूरोपीय पूँजीवादी सभ्यता की आलोचना की। उनमें सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ स्पेंगलर। उसकी पुस्तक **पश्चिमी सभ्यता का ह्रास (डिके आफ़ वेस्टर्न सिविलिज़ेशन)** हिन्दुस्तान में भी कुछ हाथों में पड़ी। किन्तु भारतीय जनता की मन:स्थिति ऐसी न थी कि वह अपनी निर्माण-क्षमता में अविश्वास करे। रवीन्द्र-सरीखें कुछ कवि-चिन्तकों ने (पूँजीवादी) राष्ट्रवाद के विरुद्ध आवाज उठायी। उनके सामने पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रवाद तो था ही, भारतीय पूँजीवादी राष्ट्रवाद भी था (इसका अर्थ कदापि यह नहीं था कि प्रसाद अथवा रवीन्द्र भारत में साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलनवाले जनता के मुक्ति-संघर्षों के विरोधी थे)। रवीन्द्रनाथ की पुस्तक **राष्ट्रवाद (नेशनलिज़्म)** पढने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके मन में भी

समता से युक्त समाज का जो कल्पना-चित्र है वह पुरातन ग्रामीण पंचायती समाज के नमूने का, आधुनिक आवश्यकताओं के अनुसार, परिष्कृत-संस्कृत रूप ही है। प्रसाद का अद्वैतवादी औपनिषदिक शैव-बौद्ध भाववाद, अपने दार्शनिक धरातल पर, रवीन्द्र-विचार की श्रेणी में ही बैठता है।

प्रसाद की पूँजीवादी सभ्यता की भाववादी समीक्षा पूँजीवादी वास्तविकताओं को लेकर ही चली है। पूँजीवादी राष्ट्रवाद के विरुद्ध उनका रुख़ रवीन्द्र-जैसा हीं है। साथ ही उनकी बुद्धिवाद-विरोधी वृत्ति भी रवीन्द्र-दर्शन से पूर्णरूप से प्रभावित है।

यूरोप में हेगेल के अनन्तर उसका विशुद्ध द्वन्द्वात्मक-भौतिकवादी रूप मार्क्स-एंगेल्स ने प्रतिष्ठापित किया। किन्तु व्यक्तिवादी-आत्मवादी विचारकों ने सत्य के ज्ञान की प्रक्रिया में बुद्धि को मार गिराया। बुद्धि से हम अन्तिम सत्य नहीं जान सकते यह निश्चय किया गया, और दार्शनिक धरातल पर अबुद्धिवाद को स्थापित किया गया। इस अबुद्धिवाद (इर्रेशनलिज़्म) का सर्वप्रथम समर्थक प्रचारक शॉपनहॉर था। यह आकस्मिक बात नहीं है कि इस जर्मन दार्शनिक ने प्राचीन भारतीय दर्शनों से प्रेरणा प्राप्त की। यह आकस्मिक बात नहीं है कि हेडेगर से लगाकर आधुनिक अस्तित्ववादी फ्रेंच विचारक-उपन्यासकार ज्यॉ पॉल सार्त्र तक अबुद्धिवादी 'अनुभूति' के प्रचारक रहे।

निश्चय ही इस अबुद्धिवाद ने भारत में एक नवीन संस्करण प्राप्त किया। हमारे यहाँ पहले से ही श्रद्धावाद चला आया है। प्रसादजी ने इस श्रद्धावाद में अपने समाज स्वप्न को गुम्फित किया, भाववादी धरातल पर मानवतावाद को ग्रथित किया। व्यक्तिगत मानव-गरिमा को उससे संयुक्त किया (प्रसादजी के कथा साहित्य में मानव-गरिमा के भव्य चित्र प्रस्तुत हैं), यौवन और सौन्दर्य के उन्मेष से न्यस्त किया, रहस्यवादी प्रवृत्ति से उसे सशस्त्र किया, किन्तु अपने अन्तिम निष्कर्षों में उसने प्रतिक्रिया के हाथ मज़बूत किये। और इसका कारण क्या था? कारण प्रसादजी नहीं जानते थे। उनके विचारों का क्या प्रभाव होगा, उससे अवगत प्रसादजी न थे। वे अकाल-मृत्यु प्राप्त हुए।

कारण दो थे। एक तो प्रसादजी की सभ्यता-समीक्षा बहुत कुछ स्पेंगलर-जैसी ही है। पश्चिम के व्यक्तिवादी विचारकों ने पूँजीवादी सभ्यता की जो आलोचना की, वह न केवल अवैज्ञानिक है, वरन् जनवादी मुक्ति-संघर्षों की भयानक शत्रु भी है। स्पेंगलर आदर्श समाज का कोई चित्र प्रस्तुत न कर सका था। प्रसादजी भी न कर सके। हमारे भारत में उन दिनों वैज्ञानिक रूप से शोषण-विहीन समाज की कल्पना को प्राथमिकता नहीं दी जा रही थी। साम्राज्यवाद-विरोधी मुक्ति-संघर्ष ही जोरों पर था। किन्तु सन् पैंतीस के आसपास

प्रसादजी ने मूलभूत समस्या उठायी, शोषण-विहीन समतापूर्ण समाज-व्यवस्था की, जिसके वे पूर्ण समर्थक रहे। किन्तु उन दिनों भारत में, कुछ महत्वपूर्ण अपवादों को छोड़कर (जिनमें रवीन्द्रनाथ भी हैं), शेष सब मध्यवर्गीय सांस्कृतिक लोग रूस के समाज को विश्वेतिहास में एक अत्यन्त वांछनीय स्वागत-योग्य सामाजिक-राजनैतिक प्रयोग मानते थे। किन्तु मानते थे उसे केवल प्रयोग ही। सन् अडतीस तक मध्यवर्गीय समाज में ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय विचारधारा के रूप में भारत मे मार्क्सवाद का व्यापक प्रभाव न था, यद्यपि उसका महत्पवूर्ण प्रबल आरम्भ यत्र-तत्र दृष्टि-गोचर हो चुका था। पश्चिमी विचारक सभ्यता-समीक्षा के क्षेत्र में निराशावादी दृष्टिकोण अपनाते थे। स्पेंगलर सामाजिक-सांस्कृतिक-ऐतिहासिक निराशा का दार्शनिक था। प्रसादजी ने निराशा तत्त्व ग्रहण न किया। राष्ट्रवादी भारतीय स्थिति ही ऐसी थी कि घनघोर वास्तविकताओं के बावजूद भारतीय जनता अपने भविष्य के सम्बन्ध में निराशाग्रस्त न थी, इसलिए कि वह अपने मुक्ति-संघर्ष में लीन थी। प्रसादजी यह समझते थे कि मनुष्ता के स्वाभाविक गुणों के प्रयोग तथा उदार दृष्टिकोण तथा हार्दिकता की स्थापना से हमारे समाज की विषमताएँ दूर हो सकती हैं। श्रद्धा मनु-पुत्र से कहती है :

हे सौम्य! इड़ा का शुचि दुलार,
हर लेगा तेरा व्यथा भार;
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय;
तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब सन्ताप निश्चय,
हर ले, हो मानव-भाग्य उदय।
सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत, सुन माँ की पुकार।

निश्चय ही, इस समरसता का अर्थ यह भी हो सकता है कि प्रसादजी सामाजिक स्तर पर समता के पक्षपाती थे। जिस आवेग से, जिस जोश से, जिस तीव्र संवदेना से, प्रसादजी ने (अपने भाववादी तरीके से) विषमताओं पर आघात किया है, उससे तो यही अर्थ सूचित होता है।

किन्तु इस समरसता की द्वि-अर्थ शालिता के पीछे, वस्तुत: प्रसादजी का यह विश्वास है कि समाज के सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक अतिचारिता ही बन्द हो सकती है। इस प्रकार की विषमताएँ तो रहेंगी ही। इसीलिए प्रारम्भ में ही श्रद्धा कहती है:

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान।
यही दुख-सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

पूँजीवाद के अन्तर्गत शोषकों के विरुद्ध जनता के संघर्षों के बारे में प्रसाद जी का विश्लेषण न केवल अवैज्ञानिक था, वे जन-चेतना को भौतिक सभ्यता द्वारा (पूँजीवाद द्वारा) निर्मित कृत्रिम दु:ख-भावना का ही रूप मानते थे।

प्रसादजी का यह कहना था कि इस भौतिक सभ्यता ने, इस यन्त्र-युग ने, जनता के हृदय में अपने योगक्षेम से अधिक संचय के लोभ को जाग्रत किया। जनता द्वारा (उसके द्वारा माने हुए) सुख की खोज उसकी संवेदनशीलता के कारण है- और यह संवेदनशीलता वस्तुत: भौतिक सभ्यता ने, यन्त्र-युग ने, उत्पन्न की है। और उनके दुख बनावटी हैं, उनके दुख कृत्रिम हैं, फलत: उनके जीवन में कष्ट-ही-कष्ट हैं।

प्रसादजी के मन्तव्य का स्पष्ट अर्थ यह है कि नयी भौतिकवादी (पूँजीवादी) सभ्यता ने जनता में एक अवांछनीय संवेदनशीलता निर्माण की, जिसके फलस्वरूप जनता ने अपने बनावटी दुखों का निर्माण किया, और इसके फलस्वरूप उसका जीवन कष्टमय हो गया। इस संवेदनशीलता के साथ है एक विशेष प्रकार का लोभ। वह कौन-सा है? अपने योगक्षेम के लिए जितना आवश्यक संचय है, उससे अधिक संचय करने का लोभ।

प्रसादजी का अभिप्राय यह है कि आज जितने जन-संघर्ष चल रहे हैं, उनके पीछे ऐसा धन-लोभ काम कर रहा है जो अहितकर है। अपने लिए आवश्यक जितनी सामग्री है उससे अधिक संग्रह करने की लालसा जनता में पैदा की गयी। प्रसादजी के अनुसार जनता की यह लालसा गलत है।

प्रसादजी का यह मन्तव्य कितना जन-विरोधी, कितना प्रतिक्रियावादी और कितना पूर्वाग्रहपूर्ण हैं, इसका अन्दाज नहीं लगाया जा सकता। जो लोग जनता के खुले-छिपे शत्रु हैं -चाहे वे साधु-सन्त के रूप में ही क्यों न आयें - वे सब यही सोचते हैं कि हिन्दुस्तान का शोषित-वर्ग अपनी वास्तविक आवश्यकताओं से अधिक चाहता है। ऐसे विचारक पूँजीवाद का चाहे जैसा और चाहे जितना विरोध क्यों न करें, उनके सामाजिक दर्शन का मेरुदण्ड जन-बिरोधी उच्च शासक-वर्गीय प्रवृत्तियाँ ही हैं।

भारत की जनता हमेशा से बहुत ग़रीब रही है। हमारे यहाँ भूख, अकाल, महामारी के अलावा, लगातार कष्ट के भयानक-से-भयानक उदाहरण हज़ारों-लाखों की संख्या में प्रतिदिन

मिलते हैं। आज तो हालत यह है कि मध्यवर्ग में सामान्य रूप से त्राहि-त्राहि मची हुई है। प्रसादजी के जमाने में भी ग़रीब मध्यवर्ग की स्थिति ख़राब ही थी। इतनी सारी जीवन-दृश्यावली प्रसादजी के सामने प्रस्तुत होते हुए भी, एक घनघोर भयानक प्रतिक्रान्तिवादी की तरह वे यह कहते हैं - पीड़ित प्रजा मनु को बतलाती है :

तुमने योग क्षेम से अधिक संचय वाला,
लोभ सिखा कर इस विचार-संकट में डाला।
हम संवेदनशील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख।

वास्तविक बात तो यह है कि प्रसादजी जनता की वास्तविकताओं तथा अपने प्रतिक्रियावादी विचारों के बीच झूलते थे। नहीं तो क्या कारण है कि प्रसादजी उपर्युक्त पंक्तियों को लिख चुकने के तुरन्त अनन्तर ये दो पंक्तियाँ भी लिखते :

प्रकृत शक्ति तुमने यन्त्रों से सबकी छीनी,
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

प्रथम पंक्ति का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि यन्त्रों ने मनुष्य की स्वाभाविक शक्तियों को नष्ट कर दिया, उसे यन्त्र बना दिया। उसकी शारीरिक शक्ति का नाश किया और शोषण के जरिए उसकी ज़िन्दगी उद्ध्वस्त कर दी।

इन दो पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसादजी प्राक्-पूँजीवादी अर्थात सामन्ती अथवा सामन्तपूर्वी, ग्राम-समाज-व्यवस्था की दृष्टि से यह आलोचना कर रहे हैं। वे इस प्रकार अपनी बात रख रहे हैं, मानो पूँजीवादी के पहले हमारे समाज में शोषण होता ही न हो। इतिहास का विद्यार्थी यह जानता है कि आर्य जब भारत पहुँचे तब उनका समाज वर्ग-विभक्त था। किन्तु प्रसाद यह ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय तथ्य बिल्कुल भूल गये हैं। वे शोषण को पूँजीवादी सभ्यता की ही विशेषता मानते हैं, जिसका वे विरोध कर रहे हैं। उनके सामने जन-जीवन के ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें दुख और कष्ट के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसीलिए वे कहते हैं :

यहाँ शासनादेश घोषणा
विजयों की हुंकार सुनाती।
यहाँ भूख से विकल दलित को,
पद-तल में फिर-फिर गिरवाती।

यह सब ठीक है। किन्तु जन-संघर्षों को यह कहकर बदनाम करना कि जनता अपने जीवन की आवश्यकताओं से अधिक सामग्री के लोभ में संघर्ष कर रही है, न केवल यह बतलाता है कि प्रसादजी का यह रुख़ जन-विरोधी है, वह यह भी सूचित करता है कि प्रसादजी प्राक्-पूँजीवादी समाजों के अपने किसी काल्पनिक नमूने पर जनता के जीवन की ऐसी रूपरेखा निर्मित करना चाहते हैं, जिसमें जीवन-धारण के लिए मात्र आवश्यक सामग्री के अलावा उसको कुछ भी न मिल पाये। इसका निष्कर्ष इस बात के अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि प्रसादजी जनता को उसके सीमित असंस्कृत जीवन की चहारदीवारी में ही बन्द रखना चाहते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि बिना सुख-साधन-समृद्धि के जनता को अपने सांस्कृतिक विकास का अवसर नहीं मिल सकता। किन्तु प्रसादजी तो उन्हें पुराने, आत्म-सन्तुष्ट, अज्ञान-ग्रस्त, अराजनैतिक जीवन की चहारदीवारी में क़ैद करना चाहते हैं।

कहाँ तो प्रसादजी तथा उनकी वह श्रद्धा जो आरम्भ में यह कहती थी :

काम मंगल से मण्डित श्रेय
सर्ग, इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भव धाम।

और कहाँ ये प्रसादजी यह कहते हैं। :

तुमने योग क्षेम से अधिक संचय वाला,
लोभ सिखाकर इस विचार-संकट में डाला।
हम संवेदनशील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख।

जब जनता की बारी आयी, तब यह कहा गया कि तुम व्यर्थ संवदेनशील हो गये हो, ये तुम्हारे दुःख बनावटी हैं। ओह! तुम लोभी हो, जरूरत से ज्यादा चाहते हो। ठीक है, पूँजीवाद तुम्हारा शोषण करता है, लेकिन तुम भी तो आवश्यकता से अधिक माँगते हो!

इस विश्लेषण को पढकर कौन न इस नतीजे पर पहुँचेगा कि श्रद्धावाद और उसके प्रणेता प्रसादजी, अन्तिम निष्कर्षों में, नितान्त जन-विरोधी हैं। अपनी प्रतिक्रियावादी प्रकृति के अनुसार ही तो प्रसादजी ने यह कहा :

श्रम भाग वर्ग बन गया जिन्हें,
अपने बल का है गर्व उन्हें।

इस श्रद्धावाद के भीतर नारी के सौकुमार्य, सहज सरलता-कोमलता, मानवोचित सौहार्द का सन्निवेश कर प्रसादजी ने वास्तविक प्रतिक्रियावाद को ढाँक दिया है, तथा पात्र रूप में उपस्थित श्रद्धा को श्रद्धावाद का प्रतीक बनाकर उन्होंने अपने जनविरोधी मन्तव्यों पर भावनात्मक तथा रहस्यवादी वायवीयता की कुहरीली रंगीन चादर बिछा दी है। चोरी के माल को छोटी सन्दूक में बन्द कर, उस पर सुन्दर चादर बिछवा, उसे देव-सिंहासन का रूप देते हुए, उस पर अपने मनोहर-भव्य इष्टदेव की सुशिल्पित प्रतिमा की स्थापना करना, चोरी के अस्तित्व को समाप्त नहीं कर सकता। ठीक यही बात प्रसादजी के सम्बन्ध में भी है। अपनी विचारधारा पर वे चाहे श्रद्धा की मूर्ति स्थापित करें या अश्रद्धा की, उसका मूलबद्ध प्रतिक्रियावादी स्वरूप छिप नहीं सकता। उसमें पाश्चात्य ह्रासकालीन पूँजीवादी सभ्यता के निराशावादी विचारकों की भ्रामक आलोचनात्मक धारणाओं की छाप तो है ही, उस पाश्चात्य प्रतिक्रियावाद का भारतीय प्रतिक्रियावाद से यह योग बहुत ही चमत्कारपूर्ण है।

आपत्ति यह नहीं है कि प्रसादजी ने पूँजीवादी सभ्यता की आलोचना क्यों की। आपत्ति यह है कि उन्होंने जिन धारणाओं के वशीभूत होकर अपनी सभ्यता-समीक्षा प्रस्तुत की, उसमें समाज के मूल सक्रिय द्वन्द्व चित्रित न हो सके। यही नहीं, वरन् यह कि उनकी धारणाएँ, अपने अन्तिम निष्कर्षों में, जन-विरोधी रहीं।

सच तो यह है कि प्रसादजी नवीन वास्तविकताओं की विकास-शक्तियों के न पूरे जानकार थे, न उन यथार्थताओं से वे अपनी संगति स्थापित कर सके थे। नवीन वास्तविकताओं के आत्मविरोधों ने अपना लम्बा-चौड़ा मुँह फैला दिया। इस परिस्थिति को उच्चतर विकास में परिवर्तित किया जा सकता था, किन्तु पीछे की ओर मुड़कर नहीं, आगे की तरफ बढ़कर। प्रसादजी में यही कमज़ोरी आ गयी।

किन्तु प्रसादजी की सभ्यता-समीक्षा तथ्यों पर आधारित है। यह बात अलग है कि हम अपने दृष्टिकोण से उन तथ्यों को एक प्रकार से व्यवस्थाबद्ध करें, और प्रसादजी दूसरे प्रकार से करें। किन्तु इस बात का श्रेय तो प्रसादजी को देना ही होगा कि उन्होंने आधुनिक वास्तविकता के जीवन-तथ्यों को उभारा, और उन्हें इतने सशक्त रूप से प्रस्तुत किया कि वे बरबस हमारा ध्यान उन सच्चाइयों की तरफ़ खींच लेते हैं जो आज हमारे समाज की दारुण वर्तमान वास्तविकता है।

# 4. 'राम की शक्ति-पूजा' : मिथक मंत्र और नाटक का जादू

डॉ० रमेश कुंतल मेघ

कविश्री निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' एक ऐसी रचना है जिसे आज की भाषा में 'संश्लिष्ट कविता' (टोटल पोएट्री) कह सकते हैं। कलावस्तु के रूप में यह एक विलक्षण रूप (यूनिक फार्म) वाली भी है। इसमें खुले वातास वाले रंग-मंच की तरह एक विशाल रंगफलक है जिसमें 'आज' की समरभूमि के युद्ध का पर्दा गिरते ही 'आज की अमानिशा' में राम की मनोभूमि का द्वन्द्वयुद्ध शुरू हो जाता है। सारा काव्य मिथक के प्रभामंडल में लिपटा हुआ होकर भी यथार्थता के सूर्य से ज्योतिर्मय हो उठता है। काव्य में प्रधान मिथक में शक्ति-पूजा के रूप में रहस्यवाद गुँथ जाता है, तथापि मिथक अन्तर्लीन नहीं हो पाती। अलबत्ता मिथकीय चेतना खंडित हो जाती हैं। मिथकीय चेतना के खंडित होने के साथ-साथ 'शक्ति' के धार्मिक अर्थों के अलावा सामाजिक, ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञानिक अर्थकदंब खिल उठते हैं। इस तरह यह कविता मिथक और रहस्य, धर्म और अतिप्राकृतिक पर आरूढ़ होकर भी समसामयिक यथार्थता का आख्यान करती है।

इसमें कथा का आख्यान अभिनय तथा कार्यव्यापार के तत्त्वों द्वारा हुआ है। इसलिए इसमें कुदरतन नाटकीयता का प्रचुर समावेश हो गया है। कुशल नाटकीयकरण का सूत्र है - ''बताओं नहीं; दिखाओ और अभिनीत करो!'' इसलिए इसमें काव्य और नाटक, दोनों बखूबसूरत उभर आए हैं। फिर भी, 'शक्ति-पूजा' न तो महाकाव्य है और न ही काव्यात्मक नाटक, बल्कि एक महाकाव्यात्मक कविता (एपीकल पोएट्री) के रूप में इसमें नाटकीयता की खूबियाँ पाई जाती हैं। इस कविता की इतिवृत्त-पद्धति में तो नाटकीय कार्य गुँथते हैं तथा विवरण-प्रवाहों में चित्रात्मक फलक। इस वजह से 'शक्तिपूजा' में नाटक और काव्य, चित्रकला और शब्दसंगीत, विद्वत्ता और भावुकता, रोमांटिकता और आधुनिकता के सौन्दर्य-तत्त्वों की रंगारंग छटा छिटकी है। अत: 'राम की शक्ति-पूजा' काव्य-भूमि पर चित्रकला, काव्यकला, नाट्य-कला, संगीतकला आदि का निवेदन करने के कारण एक संश्लिष्ट कविता बन गई है।

संश्लिष्ट-कविताधर्मा 'शक्ति-पूजा' के विलक्षण रूप होने के भी कुछ अन्य कारण हैं। नाटक की नाटकीयता में प्लाट (अर्थात् कथा का सुनियोजित कार्य-व्यापार में रूपायन) के अंतर्गत आकर्षण, रोमांच एवं प्रतिफलन का चक्र घूमता है जो 'संधियों' के विरामों

में बहुविध संवेगों को गहराई से अनुभूत कराते हैं। इन्हीं आधारों पर संस्कृत आचार्यों ने संधियाँ रची हैं। 'शक्ति-पूजा' की कथा कथानकधर्मा होकर भी क्लासिकल बंधन में नहीं जकड़ती, प्रत्युत यह रोमांटिक रूप में क्लासिकल भव्यता को धारण करने का ज़बर्दस्त प्रमाण होती है। रोमांटिक रूप के विन्यास के कारण इसमें एक ओर कवि की आत्मा की कथा प्रक्षेपित हुई है, दूसरी ओर मिथक में समसामयिक चेतना गुँथ गई है, और तीसरी ओर दिवा-स्वप्नों, फान्तासियों, विवरणों, संवादों की सिद्धहस्त तकनीकों का इस्तेमाल हुआ है। अत: कविता का रूप चेतना के खंडों में पिरोया गया है और 'पूर्वदीप्ति' (फ्लैश-बैक) प्रणाली द्वारा चिंतन और संदर्शन का साक्षात्कार हुआ है। इसके विलक्षण रोमांटिक रूप की ही यह खूबी है कि इसके लगभग हरेक खंड में कला का नया प्रयोग है। पहला खंड दिन में घटी घटनाओं को पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत करता है। यह प्रस्तुति बहुब्रीहि-समास श्रृंखलाओं से गुम्फित है और हिन्दी में संस्कृत शब्दावली के ध्वनि-सौंदर्य को धारण करने की कुशलता का अद्‌भुत प्रमाण भी है। यमक की झमक से गमकते हुए छन्द चरण श्रीहर्ष के प्रभाव की याद दिलाते हैं जहाँ कला का परिपाक बौद्धिक चिंतन से होता है। इसी खंड में लौटती हुई वानर सेना भारवि के, जैसे अर्थगौरव से गर्भित है। दूसरे खंड में लंका में बिताई गई रात के कालिदासीय भावोन्माद दिवास्वप्न-चित्र हैं। तीसरा खंड हनुमान की अतिमानवीय (सुपरह्यूमेन) शक्ति तथा अतिप्राकृतिक (सुपर-नेचुरल) कार्यों से जुड़ा है और तुलसीदासीय कौशल से व्यंजित है। चौथे खंड में विभीषण तथा जाम्बवान की आत्मीय सलाहें हैं जिनमें छायावादी वैयक्तिकता की भी झाँकी है। और अन्तत: पाँचवें खंड में राम द्वारा शक्ति की सांस्कृतिक कल्पना एवं तांत्रिक साधना का अंकन है। इस तरह इस सम्पूर्ण कविता की भाषा की अभिव्यंजनाओं में अकादमीय परंपरा का एक अभ्यासी इतिहास मिलता है जो कवि निराला के अनुशीलन का भी सबूत है। इस रचना के विलक्षण रूप के अन्तर्गत हम देखते हैं कि कई ढंग के मिथकीय पात्र कई ढंग से आए हैं। दो पात्र तटस्थ-क्षेत्र में आसीन हैं। वे विचारपक्ष का भव्य एवं उदात्त उत्कर्ष करते हैं। वे हैं विभीषण तथा जाम्बवान्। दो पात्र कार्य के अतिरंजित क्षेत्र में समासीन हैं। वे हैं हनुमान और दुर्गा। दो पात्र नेपथ्य क्षेत्र में रहते हैं : रावण और सीता। वे क्रमश: भावना-क्षेत्र का तीव्र एवं ललित उन्मूलन करते हैं। इनमें से खलनायक रावण आराधना से शक्ति को सिद्ध करके उसके माध्यम से सारे वातावरण में अन्धकार-धर्मी होकर हावी है। सीता विद्युत्-रेखा-सी कौंधकर राम में सौंदर्योदात्त लालित्य तथा धीर करुणा का अभ्युदय कराती है। इस तरह नायक श्रीराम के अलावा छह पात्र विचार-चरण, भावना-चरण तथा सौन्दर्य-चरण की मैत्री करते हैं। खलनायक रावण और महाशक्ति ने अति प्राकृतिक (सुपरनेचुरल) तत्त्वों का संधान किया है जो मिथकीय जादू से बँधे हैं। किन्तु इसे समतोल करने के निमित्त

अतिमानवीय (सुपरह्यूमेन) तत्त्व को उभारा गया है। इसका अद्‌भुत एवं अलौकिक पक्ष है हनुमान; तथा मानबीय एवं रहस्याराधक पक्ष है राम। इस भाँति राम एवं हनुमान (नर-वानर) के मेल से एक पूरे धीर नायकत्व द्वित्व की प्रतिष्ठा होती है, तो रावण एवं शक्ति के मेल से अन्याय और अन्धकार फैलता है। संपूर्ण कविता में सूर्य और उद्धार तथा अन्धकार और पतन के बीच भी एक निरन्तर संघर्ष मचा हुआ है। इस संघर्ष में विचार-तत्त्व की प्रधानता होने के कारण नाटकीयता रंगमचीय कार्य को अन्तर्मुखी संदर्शन में तब्दील कर देती है। इसीलिए 'शक्ति-पूजा' राम के मनोद्वन्द्व की आधुनिक पुनर्व्याख्या-सी हो जाती है। ऐसे मौकों पर कविता के संवाद या विवरण चित्र-एवं-प्रतीक-युगल हो जाते हैं। हनुमान के आरोहण के मौके पर शिव द्वारा पार्वती को सावधान करना, विभीषण द्वारा राम की उदासीनता के प्रति चिंता व्यक्त करना, माया-अंजना द्वारा हनुमान को प्रबोध देना, राम द्वारा अपने मंत्रपूत बाणों की असमर्थता का प्रत्याख्यान करना, राम द्वारा शक्ति की मौलिक कल्पना की उद्‌भावना आदि विचार-चरण के प्रसारकर्त्ता प्रसंग हैं जहाँ पात्र या घटनाएँ प्रतीक (सिम्बल) में भी रूपांतरित हो जाती हैं। प्रतीक होकर वे एक ओर तो संपूर्ण मिथक-चक्र की आधुनिक तथा कविमुखी व्याख्या करती हैं तो दूसरी ओर सम्पूर्ण पौराणिक कथा के परिपार्श्व में दर्शन की एक परोक्ष धारा प्रवाहित करती चलती हैं। यह इस कविता के रूप की द्विविध-भ्रांति (एम्बिग्विटी) है। इसका मूल कारण तो राम का निरूपित शील है। अगर 'सरोज स्मृति' (1935) में नायक स्वयं कवि निराला हैं और वे **पिता** तथा **पति** रूप में आये हैं, तो उसी तनाव की सामाजिक यंत्रणा तथा आधुनिक फूहड़ता (एब्सर्डिटी) को भोगने वाले निराला ने अब 'राम की शक्ति-पूजा' (1936) में राम को चुनकर उस सबको अभिव्यक्त किया है। इस कविता में राम **योद्धा** तथा **साधक** रूप में आए हैं। पहले के निरर्थक एंव हारते रहने वाले निराला के नवीन पुरुषोत्तम राम अब शक्ति के सिद्धसाधक तथा विजयी हो जाते हैं। इस तरह 'शक्ति-पूजा' में मिथकों की स्वभावतः नई व्याख्याएँ हुई हैं तथा अन्यायपूर्ण शक्ति (श्यामा) को मंगलमयी शक्ति (दुर्गा) में बदलने का रास्ता भी पाया गया है : रावण के बजाय पुरुषसिंह राम के माध्यम से। इस तरह कृति को मिथकों के आधुनिक संदर्भ मिल जाते हैं।

सारांश में 'राम की शक्ति-पूजा' एक **संश्लिष्ट कविता** है, जिसका एक **विलक्षण रूप** है, तथा जिसमें नायक **राम** और कवि **निराला** का अंतरावलम्बन हुआ है और जिसमें मिथकों के व्याख्यात्मक प्रतीक आधुनिक संदर्भों में झिलमिला उठे हैं।

निराला ने श्रीराम को वैष्णव तुलसी के माध्यम से, तथा लगभग उसी भाव से अभिनंदित किया है। किन्तु 'शक्ति-पूजा' में एक शाक्तराम तथा तांत्रिक-यौगिक साधनाओं का भी समावेश है। यहाँ हनुमान वैष्णव भक्ति का तथा राम शक्तिसाधना का विधान करते हैं। महादुर्गा तथा महाकाली (श्यामा) की उपासना को (बंगाल में) वेदांत तथा वैष्णव साधना से जोड़ने वाले रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द रहे हैं। अत: निराला ने यहाँ राम को इसी रूप में अवतरित किया है। इस कविता की मिथक के मूलाधार तुलसी या वाल्मीकि के महाकाव्य न होकर बँगला की 'कृतिवासीय रामायण' है। 'कृतिवास' में रावण काली के कृपापात्र के रूप में अंकित हुआ है जिससे राम चिंतित हो उठते हैं कि उनके द्वारा रावण-संहार नहीं हो सकेगा और जनकनंदिनी सीता का उद्धार नहीं हो पाएगा।[1] अत: विभीषण रामचन्द्र को चंडी-आराधना करने का सुझाव देते हैं।[2]

---

1. असित वरणी काली कोले दशानन
   रूपेर छटाय घन तिमिर नाशन ।.....
   आमा होइते ना होइल रावण संहार
   जनकनंदिनी सीता ना होइल उद्धार । .....

2. कांदेन करुणामय प्रभु परात्पर,
   कातर हइया तबे कन विभीषण,
   एक कर्म करो प्रभु निस्तार कारण
   तुषिते चंडीर मन करह विधान,
   अष्टोत्तर शत नीलोत्पल कर दान
   देबेर दुर्लभ पुण्य यथा तथा नाइ।
   .... .... ....
   विभीषण कय बीर हनुमान काछे।
   अबनीते. देबीदहे नीलपद्म आछे।
   एक बत्सरेर पथ हइबे निश्चय।
   हनु कहे आनि दिबो नाहिक संशय।

विभीषण ही हनुमान को देवीदह जाकर वहाँ से नीलपद्म लाने का विमर्श देते हैं। जब राम दुर्गोत्सव करते हैं तब महेश्वरी छल से एक पद्म हर लेती हैं। तभी राम निश्चय करते हैं कि जब सर्वजन उन्हें नीलकमलाक्ष कहते हैं तो क्यों न वे अपना नीलोत्पल देवी को अर्पित करके संकल्प पूरा कर लें।[1]

'राम की शक्ति-पूजा' में आराधना करने का सुझाव विभीषण के बजाय जाम्बवान की ओर से आता है तथा यहाँ शक्ति की कल्पना धार्मिक एवं शाक्त न होकर 'मौलिक' अर्थात् सांस्कृतिक एवं प्रतीकात्मक है। इसी लड़ी में 'देवी भागवत' में रावणवध के अंतिम दिन के पहले देवी पूजा का उल्लेख है। यहाँ 'शक्ति-पूजा' के जाम्बवान तथा 'कृत्तिवास' के विभीषण के बजाय नारद राम को देवी के नवरात्रपूजन का व्रत-विधान बताते हैं क्योंकि इसमें ही रावणवध का उपाय है। तब अष्टमी की आधी रात को सिंहारूढ़ देवी प्रसन्न होकर प्रकट होती हैं।''[2] इसके अलावा 'शिव महिम्नस्तोत्र' में पुण्डरीकाक्ष विष्णु द्वारा शिव की भक्तिपूजा करते समय जब तक एक हजार कमलों में-से एक की कमी हो गई तब उन्होंने अपना एक नेत्र अर्पित करने का प्रयत्न किया। इस आराधना पर शिव प्रसन्न हो गए। 'शक्ति-पूजा' में एक हज़ार के बजाय एक सौ आठ कमल तथा शिव की आराधना के स्थान पर दुर्गोत्सव का विधान हुआ है, किन्तु 'शिव महिम्नस्तोत्र' के समाधियोगी शिव का एक संवाद अवश्य शामिल कर लिया गया है जहाँ वे हनुमान के पौराणिक देव प्रतीक का भाष्य करते हैं।

---

1. पुलकित चित विधीर रचित, मूलमंत्र उच्चारणे।
क्रमे नीलोत्पल सहस्त्रेक दल, सँपे शंकरी चरणे।
करिलेन छल, बुझिते सकल, देबी हर मनोहरा।
हरिलेन आर एक पद्म तार महेश्वरी तत्परा।....
जन्माबधि दुःख मोर कि कहिब आर.....
निश्चय बुझिनु सीता ना होइलो उद्धार...
भाबिते भाबिते राम करिलेन मने
नील कमलाक्ष मोरे बले सर्बजने
जुगल नयन मोर फुल्ल नीलोत्पल,
संकल्प करिब पूर्ण बुझिबे सकल
एक चक्षु दिब आमि देबीर चरण
.... .... ....
चक्षु उपाड़िते राम बसिला साक्षाते,
हेन काले कात्यायनी धरिलेन हाते।
रावणे छाड़िनु आमि, विनाश करह तुमि,
एत बलि हैला अंतर्धान।

2. "विधिवत् पूजनं तस्याश्चकार व्रतवान् हरिः
संप्राप्ते चाश्विने मासि तस्मिन् गिरिवरे तदा।
अष्टम्यां मध्यरात्रे तु देवी भागवती हि सा,
सिंहारूढ़ा ददौ तत्र दर्शनं प्रतिपूजिता
गिरिशृंगे स्थितोऽवाच राघवं सानुजं गिरा।
हत्वाऽथ रावणं पापं कुरु राज्यं यथासुखं।
एकादशसहस्त्राणि वर्षाणि पृथिवीतले।''

-'देवीभागवत', तृतीय स्कंध, अध्याय 30।

अतएव उपर्युक्त तीनों आधारों से निराला ने नायक के अंतर्द्वंद्व तथा चिंता के बोध को ग्रहण करके उसे नाटकीय बना दिया है। इसमें दो केन्द्रीय द्वन्द्व हैं जिनके दुहरे स्तर हैं। पहले में अतुल-बल शेष-शयन (शेषशायी विष्णु के अवतार) राम को रावण-जय -भय का संशय हिला रहा है। इस द्वंद्व को अधिक मुखर करने में जानकी की यादों का वैयक्तिक एवं रोमांटिक संसार झिलमिलाया है। 'एक ओर राम जानकी के बाबत ललित-ललाम **दिवास्वप्न** देखते हैं, तो दूसरी ओर विभीषण खल रावण द्वारा जानकी को दिये जाने वाले आगामी दु:खों की अनुमितियाँ करके **संत्रास** का आभास देते हैं। दूसरा द्वंद्व है दिग्विजय अर्थ का। राम में दिग्विजय की भावना उभरती और डूबती है। वे अपनी खिन्न वानर-वाहिनी के साथ असमर्थ और शंकित होकर चल रहे हैं, उनके धनुष की डोर गिर चुकी है और वे विकल हो रहे हैं। अब उनमें विश्वास नहीं रहा कि वे रावण को हरा सकेंगे। ऐसे स्थिर राघवेंद्र को जानकी स्वयंवर में धनुर्भंग की याद आती है जब उन्होंने रावण को हराया था। अत: उनका हाथ पुनर्वार धनुर्भंग को उठता है और उनके हृदय में विश्वविजय की भावना फिर भर आती है और पुन: उन्हें समग्र नभ को आच्छादित करने वाली भीमामूर्ति दिखाई देती है जिसके सम्मुख उनके हाथ बँध गये थे। अत: एक ओर उन्हें रावण का खलखल अट्टहास सुनाई देता है तो दूसरी ओर वे रो पड़ते हैं (भावित नयनों से सजल गिरे दो मुक्ता-दल)। वे जानते हैं कि विजय समर से प्राप्त होगी। समर में निर्णायक 'शक्ति' है। उसके लोकमंगल विधायक तथा मिथकीय, दो रूप उभरे हैं। राम की शक्ति में गौरव के साथ गर्व भी समा गया है तो महाशक्ति रावण के आराधन में बँधकर अन्यायी साधक का पक्ष ले रही हैं। इस प्रसंग में 'शक्ति' का सामाजिक (अन्याय जिधर, है उधर शक्ति) तथा धार्मिक (देखा है, महाशक्ति रावण को लिये अंक) अर्थात् दुहरा प्रतीकीकरण द्वंद्व को दो परिवेश दे देता है। शक्ति द्वारा राम की परीक्षा नाटकीय नियताप्ति की ओर बढ़ती है तथा 'पुरुष-सिंह' रूप में राम द्वारा आत्मसाधना उनकी आराधना को गर्व से विमुक्त करती है। यहाँ वैष्णव **महाभाव** का बोध अनुस्यूत है (लख महाभाव-मंगल पद-तल धँस रहा गर्व, मानव के मन का असुर मन्द हो रहा खर्व')। इस तरह रावण को गौरवशाली राम के गर्व का प्रतीकत्व देकर निराला ने संपूर्ण मिथक को अन्यापदेश (एलीगरी) में ढाल दिया है। इस भाँति 'शक्ति' की कल्पना मिथकीय स्रोत से हासिल की जाने पर भी मनोवैज्ञानिक चिति (साइके) का रूप हो जाती है, सामाजिक दर्शन में अन्याय तथा मंगल के प्रकार्यों के बीच विरोध में झूलती है और अन्तत: एक महत् सांस्कृतिक प्रतीक होकर विश्व में व्याप्त हो जाती है। इस प्रतीक के स्वरूप में भूधर पार्वती है, सिंधु सिंह है, दशदिक् दशहस्त हैं, अंबर दिगंबर शशिशेखर शिव हैं तथा मानवमन का गर्व ही महिषासुर है। यही मिथक की पुनर्रचना है जिसे कवि ने 'शक्ति की मौलिक कल्पना' कहा

है। इस क्रम में सूर्यकुल राम **पुरुषसिंह** (सिंह = सिंधु) रूप हो जाते हैं जो एक आर्केटाइपल बिंब है। यह बिंब दशभुजा दुर्गा के **जनरंजनसिंह** के धार्मिक प्रतीक में अर्थांतरित होता है और यही पर्वत पार्वती-चरण पर गरजता **सिंधुसिंह** अर्थात् जीवन-तत्त्व हो जाता है। इस प्रतीक-रचना का विश्लेषण स्वयं कवि ने भी किया है ('जन-रंजन चरण-कमल-तल धन्य सिंह-गर्जित ! यह **मेरा प्रतीक** मात: समझा इंगित; **मैं सिंह**, इसी भाव में करूँगा अभिनंदित् ! ')। अतएव दूजे छोर पर पौराणिक शक्ति की साधना के द्वारा हृदयोत्पन्न गर्व का दमन हुआ है। फलत: राम एक त्रासद नायक होने से बचकर सुखान्तिकी के नायक की तरह आनंद, मंगल और विजय की फ्लागमत्रयी को प्राप्त कर लेते हैं। एक साधक संन्यासी त्रासदी का नायक नहीं हो सकता। यहाँ राम शांत नहीं, अशांत और शंकालु हैं। वे सन्यासी जैसे होकर भी लोकमंगल के साधक नायक हैं । वे एक सांस्कृतिक नेता, निराला के व्यक्तित्व के आंशिक प्रवक्ता तथा वर्तमान समाज के सामाजिक विद्रोही भी हैं। इस तरह नायकमिथक (हीरोमिथ) में मिथक एवं इतिहास, इतिहास एवं समाजशास्त्र --सभी के प्रबोधों का सामंजस्य हो गया है। अत: मिथकीय स्रोत वाली 'शक्ति-पूजा' का रचना-संसार सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक गहराइयों में भी गोताखोरी करता है।

कविता में जिस तरह राम के सूर्यधर्मा गौरव और असुरधर्मा गर्व के बीच विरोध प्रकाशित किया गया है और मंगलमहाभाव के द्वारा गर्व का अवरोध किया गया है, उसी तरह मनोलोक में एक अन्य लीला को भी उद्‌बुद्ध किया गया है। जब आठ दिनों की समाराधना के उपरांत नवें दिन अंतिम जप तथा अंतिम नीलकमल अर्पण के समय दुर्गा हँसते हुए छिपकर पूजा का प्रिय इंदीवर उठा ले जाती हैं तो सहसा राम का 'स्थिर मन चंचल हो' उठता है और वे शोकार्त होकर अपने **जीवन** तथा **साधन** को धिक्कारने लगते हैं और आर्तनाद कर उठते हैं : 'जानकी ! हाय, उद्धार प्रिया का हो न सका ! ' उनका यह मन मायावरण में उलझा हुआ है अर्थात् यह आत्मलिप्त मन है। किन्तु कवि ने इसी समय एक समानांतर राम के मानवीय मन की कल्पना की है जो चिरंतन है तथा अपराजेय मानवता की चेतना का प्रतीक है जो तात्कालिकता तथा संकीर्णता का अतिक्रमण करके **अनुभव** को **दर्शन** एवं चिंतन में रूपांतरित कर सकता है। यही ऐतिहासिक चेतना है, यह मनुष्य का बौद्धिक ज्ञान तथा अनुभवयात्रा है। ('वह **एक और मन** रहा राम का जो न थका; जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय, कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय, बुद्धि के दुर्ग पहुँचा विद्युत्-गति हत-चेतन-)। इस तरह राम बौद्धिक मानवीय साधनों के अभ्यासी हो जाते हैं। यही राम की आधुनिकता है। इसके पूर्व हनुमान अलौकिक साधनों का व्यवहार कर चुके थे तथा स्वयं राम मंत्रपूत दिव्य शरों का संधान करते हैं।

अब राम अस्तित्व तथा भविता में सिहर जाते हैं। उन्हें बार-बार संशय हिलाता है; अस्तित्व का घाव तथा पराजय का भय उन्हें विकल करता है और क्षण में जीते हुए वे लघु होते जाते हैं। उन्हें श्रम में व्यर्थता का, तथा लक्ष्य में अप्रतिबद्धता का भाव भर जाता है। इस तरह पहली बार हमें अस्तित्ववादी (एक्जिश्टेंशियलिस्ट) राम की स्थिति का दिग्दर्शन होता है। पहली बार लगता है कि यह संपूर्ण संसार और समाज व्यवस्था महाशून्य तथा महाअंधकार जैसी है। अंधकार आकाश में व्याप्त हो जाता है। तमोगुण का प्रतीक हो जाता है और अन्ततः राक्षस से संबद्ध हो जाता है। यहाँ एक विरोधाभासपूर्ण समीकरण बनता है: अंधकार एक तत्त्व है; और वह क्रियाशील है; उसका संबंध आकाश से; आकाश का शिव से; और शिव का शक्ति तथा एकादश रुद्रावतार हनुमान से; शक्ति का संबंध रावण से है और रावण का अंधकार से। इस भाँति एक ओर रावणमाया की श्यामा-रात दूसरी ओर रामपूजन-प्रताप का तेज प्रसार हनुमान। रावण महिमा की श्यामा विभावरी इस राम-अर्चना के तेज के सम्मुख फटने लगती है तब शिव देवी को अंजनारूप में कपि के पास भेजकर उसे (कपि को) शांत करते हैं अर्थात् हनुमान का मन मायावरण ('विद्या') को नहीं भेद पाता, किन्तु राम का ('एक और') मन जय प्राप्त कर मायावरण भेद कर डालता है। इस तरह शक्ति अंजनारूप होकर अथवा हँसते हुए एक कमल चुराकर छल करती है। इसीलिए इस युद्ध का स्वरूप बदला हुआ है : यह नर-वानर का राक्षस से पौराणिक रण न होकर मानव के मन में एक ओर सूर्यमुखी गौरव तथा असुरधर्मी गर्व का शाश्वत युद्ध है तो दूसरी ओर ऐसा युद्ध है जहाँ साधक तथा वीर, पुरुषोत्तम तथा मनुष्य की विजय नहीं होती; बल्कि शक्ति उसके पक्ष में होती है जहां अन्याय होता है। इसीलिये यह युद्ध मिथक से विश्व-इतिहास-पटल पर अवतरित होकर मानों वर्ग-संघर्ष का व्याख्याता बन जाता है। इस युद्ध को जीतने का केवल एक ही रास्ता है: **राम भी पुरुषसिंह होकर यह शक्ति धारण करें, शक्ति की एक मौलिक रचना करें तथा जब तक सिद्धि न हो तब तक समर छोड़ दें।**[1] सामाजिक विकास का यही एक सार्वभौम नियम भी है। शाक्तों की 'शक्ति' ही विवेकानन्द की आत्मशक्ति तथा अंततोगत्वा निराला की सामाजिक 'शक्ति में ढल गई है। निष्कर्ष रूप में, इस संश्लिष्ट कविता के मिथकीय स्रोतों में कवि ने नवीन व्याख्याओं का अन्वयन किया है और आधुनिक समाज, कवि के

---

1. विचलित होने का नहीं देखता मैं कारण,
हे पुरूषसिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,
आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर,
तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर,.....
शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन,
छोड़ दो समर जब तब न सिद्धि हो, रघुनन्दन !

मनोद्वन्द्व तथा इतिहास में शक्ति की भूमिका का भी प्रकीर्ण विवेचन किया है।

● ● ●

इस कविता में मिथकीय स्रोतों की मौलिक रचना के अलावा नाटकीय परिस्थितियों को तीव्र तथा गहन बनाने का अप्रतिम कला-कौशल भी परिलक्षित होता है। ये दोनों तत्त्व ही इस कविता के जादू हैं। वस्तुत: स्थितियों (सिचुएशन्स) तथा परिस्थितियों (सर्कमस्टान्सेज़) के विविध रूपों के नाटकीय इस्तेमालों में भी इस रचना का जादू छिपा है। कतिपय विशेष स्थितियाँ-परिस्थितियाँ ये हैं: अमानिशा में घना अन्धकार उगलते गगन के वातवरण में राघवेंद्र को पुन:-पुन: संशय अस्थिर कर ('हिला') रहा है तभी कुमारी जानकी की छवि विद्युत् जैसी जागती है; विदेह के उपवन को याद करते-करते राम का मन क्षण-भर को भूलकर पुन: धनुर्भंग को हाथ उठा लेते हैं; फिर शंकाकुल राम को रावण का खलखल अट्टहास सुनाई पड़ता है और उनके नयनों से दो मोती जैसे आँसू गिर पड़ते हैं; रावण के अट्टहास का उत्तर देने एकादशरुद्ररूप हनुमान क्षुब्ध अट्टहास करते हुए महाकाश तक पहुँचते हैं; अंजनारूप की झिड़की सुनकर उद्धत हनुमान नम्र हो प्रभुपद गहकर दीन हो जाते हैं; गरजते हुए सिंधु को देखकर राम उसकी दुर्गा के सिंह के रूप में कल्पना करके स्वयं सिंहभाव से आराधन का संकल्प करते हैं; ज्योंही राम की साधना का अंतिम दिन आता है कि रात के दूसरे प्रहर में दुर्गा कमल चुराकर ले जाती हैं तथा त्योंही राम अपना दक्षिण लोचन अर्पित करने को प्रस्तुत होते हैं कि दुर्गा समूहावतार रूप में प्रकट हो जाती हैं; राम ज्यों-ज्यों युद्ध को क्रुद्ध होते हैं त्यों-त्यों वामा (शक्ति) के दृग में झक-झक वह्नि झलकती है और राम के हाथ बँध जाते हैं तथा उनका धनुष नहीं खिंच पाता; अंतिम कमल चुरा लिये जाने पर साधक राम का स्थिर मन चंचल हो उठता है, किन्तु एक और मन अथक, अदीन, अविनयी भी था जो मायावरण भेदकर विजय-सिद्धि पा गया; जाम्बवान कहते हैं कि अगर महाशक्ति रावण को अंक में लिये हैं तो राम भी शक्ति की मौलिक कल्पना करके उसे धारण करें; इत्यादि-इत्यादि।

उक्त स्थितियों-परिस्थितियों के ही कई नाटकीय इस्तेमाल हुए हैं। एक तो **वैषम्य** (कंट्रास्ट) के द्वारा परिस्थिति या पात्र के आपसी विरोध अथवा फर्क़ का उद्घाटन हुआ है जिससे दो विपरीत संवेग टकराते हुए भावित होते हैं। दूसरे **संयोग** (चान्स) द्वारा कथानक को अनुकूल अथवा प्रतिकूल दिशा में मोड़ा गया है। तीसरे लघु-लघु **चरमोत्कर्षों** (क्लाइमेक्सेज़) का विधान करके किसी चरित्र अथवा अवस्था की परिणति की गई है, अथवा किसी

तांद्वेषयक समस्या का समाधान कर दिया गया है। लघु चरमोत्कर्षों का नाटकीय प्रयोग इन्हीं हेतुओं के लिए किया जाता है। व्यापक तौर पर ऐसी इतिवृत्तपरक तथा नाटकीय कविता के मंडल में पाठक के मन में रुचि तथा प्रभाव उत्पन्न करके उसकी अधिष्ठापना का क्रम जारी रखने का काम ये कौशल ही करते हैं। ये कौशल मंडित परिस्थितियाँ पाठक या दर्शक को बार-बार 'धमकाती' हैं। कैसे? चरित्र के फलागम को संकट में डालने पर, भट्टनायकीय भावना व्यापार में निबद्ध पाठक के मन में, भय (फिअर) तथा करुणा (पिटी) उत्पन्न होती है। इस कविता में राम विरोधी पात्रों एवं विपरीत परिस्थितियों में रखे गए हैं। अत: पाठक के मन में भय और करुणा के संवेग संचारित होते जाते हैं।

जादुई प्रभाव का एक और कारण यह भी है कि 'स्थान' एवं 'काल' का यथासंभव एकता का निर्वाह करने के बावजूद यह कविता देश-काल के अक्ष का अतिक्रमण करती है क्योंकि पात्रों के दिवास्वप्नों तथा मिथक पुंज के द्वारा घटनाओं के स्मरण-संस्मरण का सिलसिला चलता है। इससे कथा राम के शैशव (कहती थीं माता मुझे सदा राजीव नयन), हनुमान के शैशव (तुमने जब रवि को लिया निगल जब नहीं बोध था तुम्हें; रहे बालक केवल) से शुरू होकर अनेक स्थलों में संचरण करते-करते पुन: घटित स्थल में केंद्रीभूत हो जाती है। यह केंद्रीयभवन इसकी नाटकीय संरचना (ड्रामेटिक कांस्ट्रक्शन) की ही खूबी है जिसमें प्राचीन मिथकों तथा प्रतीकों का काफी इस्तेमाल हुआ है। कवि ने शुरू में ही एक लम्बे एकान्त कथन द्वारा युद्ध के वास्तविक घटना-समूह को बताकर विष्कंभक की-सी अदाकारी की है। सक्रिय रंगपटल लौटती हुई उभय सेनाओं से दृश्यमान होता है। इस युद्ध के नतीजे को राम अपने वाणों की हतलक्ष्यता तथा खंडन द्वारा बताते हैं। तथापि कार्य के केंद्रीयभवन को सम्पन्न करने के लिए हनुमान, विभीषण तथा जाम्बवान आदि एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं – विश्वविजय के लिए राम शक्ति को धारण करें! स्वयं राम भी इसी लक्ष्य के लिए सप्तचक्र तक अपने मन का ऊर्ध्वगमन करते हैं। इस तरह संपूर्ण कविता में 'शक्ति' एक आर्केटाइपल बिंब होकर फैलती है। इसके साथ ही कार्यव्यापार के निवदेन में कवि ने नाटकीय अभिनेयता का – विशेष रूप से आंगिक मुद्राओं तथा अहार्य स्वरूपों का – ऐसा तराशा हुआ चित्रोपम (ग्रैफिक) अंकन किया है कि कई स्थल भावचित्रों तथा रसचित्रों और शिल्प की मूर्तियों जैसे हो गये हैं। ये शब्द माध्यम के अद्वितीय कीर्तिमान हैं। ये बिंब हैं उद्गीरित वह्नि के भीम पर्वत की तरह हनुमान; राक्षस पदतल पृथ्वी टलमल; चिंताकुल अस्तव्यस्त लौटते हुए रघुनायक (रघुनायक आगे अवनी पर ... .... ताराएँ हों ज्यों कहीं पार); अमानिशा में गरजते हुए सागर का चित्र (है अमानिशा

..... केवल जलती मशाल); विदेह के उपवन के लतांतराल में जानकी से राम का प्रथम मिलन (याद आया उपवन विदेह का .... प्रथम कम्पन तुरीय; हनुमान का ऊपर उड़ना ( हो श्वसित पवन उनचास ... हो स्फीत वक्ष); वामा के दृग में वह्नि के झकझक झलकने पर राम पर वशीकरण हो जाना (विचलित लखन कपिदल ..... में हुआ त्रस्त); लक्ष्मण के नेतृत्व में महावाहिनी की व्यूह रचना का चित्र (तब तक लक्ष्मण हैं ..... उनके प्रधान); शिविर में पर्वत के सानु पर बैठी राम सभा (बैठे रघुकुलमणि ..... मुख श्याम देश); शक्ति की मौलिक कल्पना देखो बन्धुवर, (सामने स्थित ..... मन्द हो रहा खर्व); साधक राम की छवि (है नहीं शरासन आज हस्त ..... स्तब्ध सुधी हैं ध्यान धार); ब्रह्मशर से नीललोचन निकालने की मुद्रा (कहकर देखा तूणीर ..... उद्यत हो गये सुमन); सामने श्रीदुर्गा का प्रकट होना (देखा राम ने, सामने श्री दुर्गा ..... मस्तक पर शंकर); इत्यादि । ये मुद्रा, बिंब कार्य के काव्यचित्र कवि निराला की उत्तमोत्तम उपलब्धि हैं।

'शक्ति-पूजा' में कुतूहल, तन्मयीभवन, आह्लाद, चमत्कार आदि के समुपरंजन के लिए भी स्थितियों-परिस्थितियों के साथ मिथकों का भी प्रचुर उपयोग हुआ है। ये कौशलकर्म सहृदय के प्राण को बाँध लेते हैं। इनका केन्द्रीय रहस्य **नाटकीय भ्रांतियों** (ड्रेमेटिक इल्यूज़न्स) की अल्पना है। ये नाटकीय भ्रांतियाँ ही **काव्यात्मक फान्तासियों** (पोएटिक फैंटेसीज़) को भी आलोकित करती हैं। इस तरह इन दोनों की कान्त मैत्री के प्रभावोत्पादक प्रयोग हुए हैं।

ये भ्रांतियाँ एवं फान्तासियाँ अतिप्राकृतिक और अलौकिक आह्लाद और चमत्कार, अवचेतन और दिवास्वप्न आदि की सृष्टि करती हैं।

पहली भ्रांति है रोते हुए राम के अश्रुओं के गिरने पर हनुमान द्वारा उन्हें नभ में चमकते तारादल अथवा श्यामा के चरण समझा जाना अथवा वे चरण समझना जिनके मध्य में दो कौस्तुभ मणियाँ शोभित हैं। किन्तु ध्यान का तार टूटते ही अर्थात् प्रबोध होते ही रुद्ररूप हनुमान महाकाश को ही ग्रसने ऊपर उड़ चलते हैं। इस तरह भ्रांति एवं फान्तासी के मेल से आश्चर्य तथा रोमांच, आह्लाद तथा क्रोध की समानुवर्ती उद्भावना हुई है। दूसरी भ्रांति है भयभीत शक्ति द्वारा अंजनारूप धारण करके हनुमान को शान्त करना। इसके द्वारा हनुमान के चेतन-अवचेतन के संबंध उद्घाटित हुए हैं। तीसरी भ्रांति है युद्धक्रुद्ध राम को वामा के दृग में झकझक झलकती वह्नि का दिखाई देना जिससे वे बँध जाते हैं (अवचेतन में स्थिर असमर्थता की प्रकाशक)। इससे राम जैसे पात्र के लिए भी मानवीय संवेदना, करूणा दया और क्षमा के सहज भाव उदित होते हैं। इस तरह तीनों भ्रांतियाँ एक साथ

अलौकिक तथा अवचेतन को आलोकित कर देती हैं। **मिथकीय होने के कारण** ये अलौकिक का चमत्कार प्रदान करती हैं, तथा **मानवीय यथार्थ होने के कारण** मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्‌घाटन करती हैं।

इसी तरह तीनों फान्तासियों की भूमिका ली जा सकती है। पहली है राम के जानकी विषयक दिवास्वप्नों की माला (कथा को पूर्वदीप्ति पद्धति द्वारा पीछे ले जाना)। वीरता तथा साधना की दशाओं वाली इस कविता में श्रृंगारोल्लास तथा उन्मादक राग का यह विचित्र तथा चमत्कारपूर्ण अनुकीर्तन है। दूसरी फान्तासी है हनुमान का महाकाश में आरोहण। इसमें अतिप्राकृतिक तत्त्व का मिथकीय प्रयोग राम की अर्चना तथा लीला के उद्‌घाटन के लिए भी हुआ है (जिसे शिव इंगित करते हैं)। अंतिम तीसरी फान्तासी है राम द्वारा अष्टचक्र समाराधना (रहस्यवादी साधना, भूमिका)। 'कामायनी' के रहस्यसर्ग की तरह यह सांप्रदायिक फान्तासी भी काव्य में दरार पैदा करके कलानुभतियों से प्रयाण कराती है।

अतएव इन स्थितियों-परिस्थितियों के तकनीकी उपयोग तथा भ्रांतियों एवं फान्तासियों पर अधिक ध्यान देकर ही हम कविता के उदात्त (सब्लाइम) तथा अद्‌भुत (वंडरफुल) बोधक कलात्मक महाभाव को समझने की ओर अग्रसर हो सकते हैं। हम यह भी उद्‌घाटन कर सकते हैं कि कविता का विलक्षण रूप **नाटकीय है**।

● ● ●

मिथक, जादू तथा नाटकीय कौशलों से प्रचुर इस कविता में कथोपकथनों का अतुल और अनूठा विधान हुआ है। यूँ भी काव्यात्मक संवाद वाली कविताओं में ही निराला अपनी कला के अभ्यस्त प्रमाण देते हैं – एक से एक बढ़कर !

संवादों में दो भावों की प्रमुखता है – आवाहन तथा उद्‌बोधन! फलत: पद-रचना रीति-सहजता तथा रहस्यात्मकता के ध्रुवान्तों के बीच संघटित हुई है। कई पात्र तो केवल एकालाप (मोनोलाग) करते हैं और दूसरा पात्र मात्र सुनता है; जैसे शिव द्वारा देवी को चेतावनी देना; अंजना द्वारा हनुमान को रोकना। इस दशा में श्रोता मात्र कार्य का अनुकर्त्ता हो जाता है। अत: कविता में इतिवृत्त से अविलंब विवरण में ऊँची उड़ान लगाने का माहौल मिल जाता है।

अन्य दशाओं में विभीषण तथा राम के बीच संवादों में परिस्थितियों का लेखाजोखा हुआ है तथा उपस्थित समस्या का गोपनीय रहस्य खोला गया है। इस लड़ी में राम तथा जाम्बवान के बीच के कथोपकथन बेहद प्राणवन्त है। वे परमप्रेयान तथा समाधानमूलक भी हैं। अत: विभीषण राम समस्याएँ उठाते हैं; जाम्बवान राम उनका समाधान करते हैं। इस

संवादचतुष्टय द्वारा कवि ने शाश्वत संघर्ष वाली अपनी कल्पना तथा जीवनदर्शन को भी स्पष्ट किया है।

अतएव कवि निराला का मंतव्य आधुनिक तथा व्यक्तिवादी भी रहा है, अर्थात् राम में गर्व के उदय से, तथा अन्यायपक्ष की ओर शक्ति के हो जाने से क्रमश: मानवीय प्रारब्ध और सामाजिक संघर्ष, दोनों का ही चरित्र बदल गया है। एक और तो अतुल-बल शेष-शयन राम लघु हो जाते हैं तथा दूसरी ओर मूल मिथकीय युद्ध की प्रकृति, विजय के साधन एवं युद्ध का दर्शन ही बदल जाता है। इन परिवर्तनों से मिथक से यथार्थ की ओर, तथा परंपरा से आधुनिकता-बोध की ओर भी पेशकदमी होती है। 'आज' के अपराजेय समर में भी शक्ति अन्यायपक्ष के साथ है, युद्ध का चरित्र बदल गया है। अत: शक्ति की मौलिक कल्पना के द्वारा ही विजय के साधन मिलेंगे। इसके लिए साधनों (साधना) को दृढ करना है, और शक्ति को न्याय पक्ष तथा मंगल-महाभाव की ओर ले आना है। इसी तरह युद्ध का दर्शन वैयक्तिक दिग्विजय की अपेक्षा मानवमन के असुर (गर्व और वर्गस्वार्थ) का नाश हो गया है। यही इस कविता की समकालीन चरित्रार्थता तथा कवि का जीवनदर्शन भी है।

लेकिन अकेला निराला स्वयं इस दर्शन को सामूहिक अमल में नहीं बदल सका। अत: वह आगे असमर्थ होकर नीलकमल से कुकुरमुत्ता की तलाश में मुड़ गया – आधुनिक युग की अधिक क्रूर तथा सच्ची फूहड़ता (एब्सर्डिटी) को परखने के लिए।

●●●●●

अत: 'राम की शक्ति-पूजा' निराला की गहरी मानसिक यत्रंणा तथा आधुनिक युग के आंतक के तनावों से भी ओतप्रोत है।

यह कृति पद्यनाटिका या संगीतनाटिका तो नहीं है, किन्तु नाटकीयता की प्रचुर संभावनाओं से गठित-गुंफित है।

वीरत्व के धैर्य के बजाय अधीर राम के संशय तथा असमर्थता से शुरू होने वाली यह कविता वीर रस का भंग करती हुई शक्ति की साधना की ओर मुड़ती है और शुरू के खंड के बाद ही योद्धा राम साधक राम में रूपांतरित हो जाते हैं।

इसीलिए 'राम की शक्ति-पूजा' एक संश्लिष्ट कविता है जिसका विलक्षण रूप है जिसमें मिथक के माध्यम से यथार्थता का चिरंतन अनुसंधान हुआ है। यह मानवीय प्रारब्ध की शाश्वत यातना अर्थात् आत्मनिर्वासन और आत्मस्थापन दोनों को निर्भीक संदर्भों में पेश करती है।

# 5. 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा'

डॉ. रामविलास शर्मा

'तुलसीदास' में निरालाजी ने इतिहास पर नई दृष्टि डाली है। मध्यकाल में समाज का जो पतन हुआ और पतन में शूद्रों पर जो अत्याचार हुए, वह इस कथा की पृष्ठभूमि है। मूलचित्र गोस्वामी तुलसीदास के अन्तर्द्वन्द्व का है। वे अपनी साधना से समाज को मुक्त करना चाहते हैं लेकिन मन की दुर्बल वासना इसमें बाधक होती है। अन्त में गृह त्यागने पर उन्हें नारी का तेजोमय रूप दिखाई देता है और बाधक होने के बदले वह उनके जीवन की महान् प्रेरणा बन जाती है। निरालाजी की रचनाओं में यह एक अत्यन्त सुगठित कविता है और इतनी लम्बी कविता उन्होंने पहली बार लिखी थी। छंद भी ऐसा चुना है कि पढ़ने पर तरंगों-से भंग पाठकों को आगे बहाते चलते हैं। दो पंक्तियाँ छोटी और तीसरी बड़ी मिलकर आधा छन्द बनाती हैं। इसी को दोहराने से एक पूरा छन्द बनता है। मुक्त छंद के अलावा छंद-बद्ध कविता में निरालाजी ऐसा ओजगुण पहले न ला सके थे। उनकी कला में एक नया विकास था। चित्र-सौंदर्य में यह कविता अनूठी है। इतिहास और मनोविज्ञान, दोनों से ही भाव लेकर उन्हें सुरंग मूर्त रूप दिया गया है।

आरम्भ में शताब्दियों के सांध्यकाल का चित्रण किया गया है। बादलों की तरह भवें टेढ़ी किये यह सांध्यकाल भारत के आकाश पर छाया हुआ है। पंजाब, कोसल, बिहार, धीरे- धीरे सभी प्रान्त इस कालिमा के नीचे आ गये। मूसलाधार वृष्टि में मुगलों और पठानों के आक्रमण की तुलना सांध्यकाल की पृष्ठभूमि में सार्थक बैठती है। बादलों में वज्र टूटकर गिरता है और नीचे जल-प्रवाह का प्रखर वेग असह्य है। बुन्देलखंड, कालिंजर आदि का पूर्व गौरव नष्ट हो गया है। वीर बन्दी बने हुए हैं और किंपुरुष आनन्द मना रहे हैं। जो सच्चे राजपूत थे वे स्वर्ग गये; जो रह गये हैं, वे नृपवेश सूत बन्दीगण हैं। इनका कार्य आक्रमणकारियों का कीर्ति-गान ही रह गया है। जातीय जीवन की नदियाँ एक नई संस्कृति के सागर की ओर बह चलती हैं।

पहली मूसलाधार वृष्टि के बाद धरती पर शांति छा गई। बादलों के बरस जाने से आकाश धुल गया। हवा सबको स्नेह सुखद स्पर्श देने लगी। चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों से पृथ्वी का चुम्बन करने लगा। समय सुन्दर छन्दों में बँधा हुआ लघु गति और नियंत्रित पदों से चलने लगा। संस्कृति का सूर्य डूबने पर सुन्दरियाँ अपने कर-कुमुदों से समय की गति पर ताल देने लगीं। बिरला ही कोई ऐसा होगा जो हाथ मल रहा हो। विलास की धारा में अशक्त होकर देश बह चला। नदी का जल छल-छल शब्द करके लोगों को सावधान करता था लेकिन वे किनारे के पाषाण की तरह मंत्रमुग्ध होकर कल-कल शब्द ही सुन रहे थे।

इसी समय राजापुर में सुन्दर प्रतिभा और पुष्ट शरीर वाले युवक तुलसीदास काव्य-शास्त्र का अध्ययन करके जीवन में प्रवेश कर रहे थे। एक दिन मित्रों के साथ वे चित्रकूट गये और वहाँ मन में कुछ नये ही भाव पैदा हुए। जैसे उषा को कुहरे का जाल घेरे हो, उसी तरह प्रकृति भी एक ऐसी भाषा में बातें कर रही थी जो पूरी तरह समझ में न आती थी। तुलसीदास को अपने मन में संस्कारों का नि:शब्द सागर दिखाई देता है जिसके उस पार सत्य की अस्फुट छवि दीख रही है। प्रकृति कहती है कि सूर्य का प्रचण्ड ताप उसे जला रहा है। ऋतुएँ आती हैं, अपना प्रभाव छोड़कर चली जाती हैं; उन्हें उसके सुख-दुख से ऐसे ही वास्ता नहीं है, जैसे पेट भरने वाले लोग देश में आते-जाते रहते हैं और अपने स्वार्थ के आगे उन्हें प्रजा के कष्टों का ध्यान नहीं रहता। जातीय संस्कारों की पृथ्वी पर असुर चल रहे हैं। कवि को चाहिए कि वह त्याग, साधना और मुक्ति के गीत गाये। जैसे राम ने अपने स्पर्श से अहल्या का उद्धार किया था। वैसे ही तुलसीदास को अपनी साधना से जड़ भारत का उद्धार करना है। उस चेतना के स्पर्श से ही पाषाण-खंड हार बनते हैं, नहीं तो प्रकृति में झरने, झाड़ी, नदी, कगार, पशु-पक्षियों के विहार को छोड़कर और कुछ नहीं है। देश में ऐसा युग आया है जब कामदेव के बाण से झरती हुई केशर पृथ्वी और आकाश को रँगे हुए है। प्रत्येक मानस पर उसी की छाया है। इसलिए छवि की मूर्ति दिखाई नहीं देती। लोग भ्रमवश सुप्ति को ही जागरण समझ बैठे हैं।

प्रकृति की वाणी सुनकर तुलसी का मन-विहंग आकाश में उड़ चलता है। अपनी उड़ान में वह रंग-रंग की तरंगें पार करता है। ये सब सामाजिक और व्यक्तिगत संस्कार हैं। इन्हें पार करने पर उन्हें भारत की वास्तविक दशा दिखाई देती है। जैसे सूर्य को राहु ने ग्रस लिया हो और उसकी आभा मन्द पड़ जाय, वैसे ही कुसंस्कारों की छाया में देश-काल बँधा हुआ है। देश में छोटे-छोटे सम्प्रदाय, मत-मतांतर परस्पर संघर्ष में लगे हैं। वर्ण-व्यवस्था विश्रृंखल हो गई है। क्षत्रिय रक्षा नहीं कर सकते, ब्राह्मण चाटुकार हो गये हैं। शूद्र वर्ण-व्यवस्था के चरण बनकर दूसरे वर्णों को ऊँचा उठाये हैं। इसके बदले उन्हें केवल अपमान मिलता है।

'चलते फिरते पर निस्सहाय
वे दीन क्षीण कंकाल काय
आशा केवल जीवनोपाय उर उर में;
रण के अश्वों से शस्य सकल
दलमल जाते ज्यों दल के दल
शूद्रगण क्षुद्र जीवन संबल, पुर पुर में।

वे शेष-श्वास, पशु, मूक भाष,
पाते प्रहार अब हताश्वास;
सोचते कभी, अजन्ता ग्रास द्विजगण के
होना ही उनका धर्म परम,
वे वर्णाधम, रे द्विज उत्तम,
वे चरण, चरण बस, वर्णाश्रम रक्षण के।''

इन शूद्रों पर वर्ण-व्यवस्था के चरण उच्च वर्गों के अत्याचार के ही कारण थे। देश का सांस्कृतिक पतन हुआ और भारत के नभमंडल में दासता का अन्धकार छा गया। तुलसीदास ने समझ लिया कि इस अन्धकार को पार किये बिना सत्य के दर्शन नहीं हो सकते और न जीवन में नया प्रवाह आ सकता है। इसलिए विरोध से द्वंद्व-समर करने के लिए वे तैयार होते हैं।

कवि की चेतना की ऊर्मियाँ भारत का अन्धकार दूर करने के लिए उमड़कर कवि के मनोद्वारों से टकराती हैं। लेकिन इसी समय उस छाया के ऊपर तारिका-सी चमकती हुई रत्नावली दिखाई देती है। तुलसीदास क्षण भर उसका सौन्दर्य देखते रह जाते हैं; फिर वह अदृश्य हो जाती है और मन धीरे-धीरे नीचे उतरने लगता है। रत्नावली की छवि में रँगी हुई प्रकृति अब सुन्दर दिखाई पड़ती है। वह मित्रों के साथ पंचतीर्थ होते हुए पयस्विनी में स्नान करते हैं और इसी तरह और कुछ दिन घूमने के बाद वह घर लौट आते हैं।

तुलसीदास को अब सारा संसार अबलामय दिखाई देता है। नीला आकाश उसका अलक जाल है, चन्द्रमा मुख, चन्द्रमा का कलंक भौंहें और उसका प्रकाश प्रेम की तरह कवि को ढँके हुए है। तुलसीदास का मनचकोर उसी चन्द्र-कवि को देखता रहता है। यहाँ पर 'सुकुल की बीबी' में निरालाजी के वे वाक्य याद आते हैं जिनमें उन्होंने संसार को अबलामय देखने की बात कही थी : "घोर सुषुप्ति के समय को छोड़कर बाकी स्वप्न और जागृति के समस्त दण्ड ब्रह्मांड को अबलामय देखता था।'' तुलसीदास भी नयनों की मुग्ध दृष्टि में बँधे हुए उस अर्थ को न जान पाये जो पलकों के उस पार छिपा था। सौंदर्य में बँधे हुए चन्द्र, सूर्य, तारे, ग्रह, उपग्रह एक-दूसरे के पीछे चलते दिखाई देते हैं। सौंदर्य बन्धन भले हो, लेकिन इस बंधन के बिना प्रगति असंभव है। फूल विकास-पथ की बाधाओं को पार करके दिन का मुँह देखता है। गन्धवाला फूल जड़ होने पर भी अपने गुण के कारण पृथ्वी में व्याप्त होता है। इसी प्रकार प्रिया के साथ बँधे होने पर भी तुलसीदास संसार में अपनी व्याप्ति देखते हैं। उन्होंने यह नहीं सोचा कि युवती के रूप में कामदेव पुरुष-देश को

जीतकर वहाँ अपनी विजय-पताका उड़ा रहा था। जैसे सूर्य की किरणों के बादल रंग-बिरंगे हो जाते हैं, उसी तरह रत्नावली के संसर्ग से युवक तुलसीदास के मनोभाव भी रंगीन हो उठे।

रत्नावली पति को प्रसन्न रखने वाली नामानुरूप सुन्दरी है। अज्ञान के अन्धकार में सत्य की यष्टि की तरह वह प्रिया को पार ले जानेवाली है। श्रद्धा की प्रतिमा की तरह वह माया के घर में प्रिय की निद्रा की सीमाएँ बाँधे हुए है। पति जब सोता है, वह जागती रहती है। पति जब प्रेम की फाग खेलता है, वह उसी में छिपी हुई त्याग की अग्नि-शिखा की तरह जलती रहती है। पति जड़ पृथ्वी के दो कगारों जैसा है और उसकी बाँहों में बँधी हुई रत्नावली आकाश की गंगा की तरह प्रवाहित है।

रत्नावली के भाई आकर उससे माता-पिता का संदेश कहते हैं। माता उलाहना देती है और पिता कहते हैं : "जोगी रमता मैं अब तो।" भाभी ने कुंकम-शोभा को लाने को कहा। सबने अपने मन की बातें कहीं लेकिन माँ का करुण विलाप अकथनीय था। समाज में उसके भाई और पिता का अपमान भी होता है। क्या पैर इसीलिए पूजे थे कि वे उस देहरी की ओर फिर लौटकर न आयें? रत्नावली को अपने धर्म और मर्यादा का ज्ञान होता है। भावों के घने बादलों ने पति-स्नेह के उपवन को ढँक लिया। वह चलने को तैयार हो गई मानो सीता जिस पृथ्वी से निकली थीं, मर्यादा की रक्षा के लिए फिर उसी में विलीन होने को चली हों।

तुलसीदास बाज़ार में खड़े सोच रहे थे कि इस बार साले को किस घाट उतारें। एक बार कन्यादान कर दिया तो अब क्यों पीछे पड़े हैं? ऐसे आ धमकते हैं जैसे हम स्त्री दो दिन को उधार लाये हैं । पर लौटते समय अनेक रंगों के फूल खिले हुए देखे। प्रातःकालीन सूर्य आकाश में चढ़ रहा था। लेकिन उनका गृह-पद्म मुरझाया हुआ था। सांसारिक व्यवहार का ज्ञान न रहा; ससुराल की ओर पैर उठ ही तो गये। रास्ते में प्रकृति सुख में डूबी हुई दिखाई दी। किसी को गायें चराते हुए देखकर वृन्दावन में कृष्ण और गोपियों की याद आई। ससुराल में बड़ी खातिर हुई। लोग कानाफूसी भी करने लगे। भाभी ने कहा, यह रत्नावली से अपने प्रेम का परिचय दिया है। भाभी के व्यंग्य से रत्नावली जल उठी परन्तु अपनी ज्वाला को भीतर ही छिपाये रही। उसे लगा कि पति के मन में बैठा हुआ चोर उसे निरावरण करना चाहता है; वह ईश्वर से लाज बचाने की प्रार्थना करने लगी। घर में आँधी उठने से पहले की निस्तब्धता छा गई। भोजन कराके भाभी तुलसीदास को शयन-गृह में छोड़ आई। प्रिय का चंद्रमुख देखकर रत्नावली के हृदय में आज उल्टा ज्वार बह चला। जिस तरह हवा से उड़ाई हुई मेघमाला अन्तर में बिजली छिपाये पर्वत के पास

आकर ठहरती है, उसी तरह रत्नावली पति के पास आई। जैसे चक्रों से अंकित पूँछ फैलाकर मोर नाच उठता है, वैसे ही मेघमाला-सी रत्नावली को देखकर तुलसीदास का मन-मयूर नाच उठा। रत्नावली के बाल खुल गये, आँखों की पलकों ने गिरना बन्द कर दिया। उसके मोह के बन्धन टूट गये; वह अरूप का ध्यान करती हुई योगिनी की तरह उठकर खड़ी हो गई। कमल पर बैठी हुई लक्ष्मी की तरह रत्नावली बोली:-

"धिक धाये तुम यों अनाहूत
धो दिया श्रेष्ठ कुलधर्म धूत
राम के नहीं, काम के सूत कहलाये।
हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ-हाड़-चाम !
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आये।''

तुलसीदास के पूर्व संस्कार जागे। उसी क्षण उनका काम भस्म हो गया। उन्हें सामने स्त्री नहीं, आग की जलती हुई प्रतिमा दिखाई दी। वह उन्हें विश्व-हंस पर स्थित नीलवसना शारदा-सी लगी। उसकी दृष्टि से बँधकर एक बार उनका मन फिर ऊपर उठा; आकाश के बहुरंगी स्तर एक क्षण में पार कर गया। और संस्कारों के धूसर समुद्र के ऊपर फिर एक नवीन तारिका चमक उठी। उसी में शारदा का वह रूप लीन हो गया। केवल अरूप की महिमा रह गई। आकाश निस्तब्ध रह गया। ज्ञान से खुले हुए नेत्र बाहर से मुँद गये। जिस कली में कवि का मन बन्द था, वह सरस्वती बनकर छंद की सुरभि लिये हुए उसी के भीतर खुल गई।

जब अपनेपन का बोध हुआ तब बाहर चलने का विचार आया। अवरोधों से मुँह मोड़कर जीवनधारा प्रतिकूल दिशा में बह जली। पुन: लहरों का शब्द सुन पड़ने लगा। नये भावों से पूर्ण शब्द सुनाई देने लगे। असुरों से पीड़ित ऋषियों को हर्ष हुआ। पार्थिव ऐश्वर्य और अज्ञान की रात बीत गई। पूर्वांचल पर ज्योति का प्रपात झरने लगा। तुलसीदास की चेतना का, अन्धकार से प्रकाश का, पराधीनता का स्वाधीनता से संग्राम होगा। एक ओर कवि की सरस्वती होगी, दूसरी ओर प्रजा-पीड़कों का छल-प्रपंच। जैसे सूर्य एक-एक बिन्दु जल जोड़कर वर्षा के बादल बनाता है, वैसे ही मत-मतान्तरों में बँटे हुए जनों को मिलाकर कवि नये समाज का निर्माण करेगा। आज देश काल के शर से बिद्ध होकर अशेष छविशाली कवि जागा है। पाप की रागिनियां निस्पंद होकर सो रहेंगी। संसार की वीणा के पुराने तारों पर नये प्रकाश की धारा पड़ी है। कवि के स्पर्श से नवजीवन के गीत साकार होकर जनमात्र की सम्पत्ति बनेंगे।

कहाँ क्या हो रहा है, कवि ने कानों से कुछ न सुना। वह अपना भाव मन में ही गुनता रहा। सामने देखा, पत्नी खड़ी है, आँखें छलछला आई हैं। भाव-वीणा की सभी तानों से वह अधिक भावमयी थीं। कवि ने अपने दाम्पत्य जीवन का अन्तिम वाक्य कहा, "तुमने जो प्रकाश दिया है, उससे अब घर में रहने का तनिक भी अवकाश नहीं। मैंने इस समय जीवन का जो व्रत लिया है, उससे फिर इस ओर कभी देखूँगा भी नहीं।"

धीरे-धीरे वह बाहर आये। हृदय में वही परिचित मूर्ति थी। अपना क्षुद्र रूप छोड़कर वह विश्व का आश्रय बन गई थी। सुख के जल पर तिरती हुई कमला के रूप में सामने आई। कविता के आरम्भ में भारत का जो सांस्कृतिक सूर्य अस्त हो गया था, वह पुन: उदित हुआ और रत्नावली ही "प्राचीदिगन्त उर में पुष्कल रवि रेखा" बन गई।

इस कविता में निराला ने नये चरित्र-चित्रण और नाटकीय घटना-संगठन का परिचय दिया है। इसके पहले किसी भी छायावादी कवि ने इस तरह की गाथा न लिखी थी। चरित्र-चित्रण के साथ उन्होंने ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि का ध्यान बराबर रखा है। मध्यकालीन समाज की मूल समस्या को उन्होंने अच्छी तरह पहचान लिया था। मुगल आक्रमण के पहले ही जातीय जीव नष्ट-भ्रष्ट हो गया था। तृष्णोद्धत सगर्व क्षत्रिय देश की रक्षा करने में असमर्थ हुए। शूद्रों का विशाल वर्ग उच्च वर्गों द्वारा इस तरह रौंद डाला गया था जिस तरह लहलहाते पौधों को फौजी घोड़े रौंद डालते हैं।

इस परिस्थिति में तुलसीदास का जन्म होता है। परिस्थिति अनुकूल या प्रतिकूल होने पर भी उनके व्यक्तित्व का विकास होता है। विलासिता का वातावरण उन्हें भी मोहित कर लेता है। रत्नावली में उनकी आसक्ति व्यक्तिगत कामुकता न होकर सामाजिक ह्रास का प्रतीक बन जाती है। चित्रकूट में जाकर जब वह प्रकृति का नया संदेश सुनते हैं, तब मानो सामाजिक कष्टों से द्रवित होकर भारतीय संतों के ज्ञान-नेत्र खुलते हैं। रत्नावली के शब्दों में तुलसीदास को नहीं, वरन् साहित्य और संस्कृति की समस्त रीतिकालीन परम्परा को धिक्कारा गया है। उसके योगिनी रूप में मध्यकालीन नारी का नायिका-भेद वाला रूप जलकर भस्म हो गया है। तुलसीदास सन्त और भक्त होते हुए भी बहुत बड़े समाज-सुधारक थे, इसमें आज किसी को संदेह नहीं रह गया । लेकिन उनके हृदय में मनुष्य के दलित वर्ग के लिए कितनी सहानुभूति थी, इसे हम अपने वर्तमान संस्कारों के कारण बहुधा भूल जाते हैं। यदि किसी को निरालाजी की कविता में उनका चरित्र अस्वाभाविक लगे, तो उसे रामचरितमानस में "बिन अन्न दुखी सब लोग मरै" आदि कलियुग का वर्णन पढ़ लेना चाहिए। इसलिए कविता में शेष-श्वास, पशु मूकभाष आदि का उल्लेख नितान्त सार्थक है और तुलसीदास ही ने लिखा था -

"कत विधि सृजी नारि जग माँहीं
पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।।"

किस मध्यकालीन कवि ने नारी के प्रति ऐसी संवेदना प्रकट की है जैसी तुलसीदास ने ? और कौन कह सकता है कि

"मानहु मदन दुन्दुभी दीन्हीं।"
"खंजन मंजु तिरीछे नैननि।।"

आदि पंक्तियाँ लिखते हुए तुलसीदास के ज्ञान-नेत्रों के सामने प्रेम-मूर्ति रत्नावली ही का चित्र नहीं था ? इसलिए जब निरालाजी कहते हैं कि तुलसीदास अन्तर में रत्नावली की छवि लिये हुए घर से निकले और उसकी मूर्ति विश्व का आधार बन गई तो वह एक सार्थक कल्पना करते हैं।

कविता के आदि और अन्त में कथा की जैसी चित्रमय पृष्ठभूमि है, वैसा ही उदात्त चरित्र-चित्रण भी है। कथोपकथन में वैसा ही ओजगुण और स्वाभाविकता है। छन्द का प्रवाह लगभग छः सौ पंक्तियों में पाठक के मन को कविता के साधारण स्तर से बराबर ऊँचा उठाये रखता है। भारतीय स्थापत्य कला में अलंकरण के लिए सुन्दर मूर्तियों के समान उपमाओं और रूपकों की छटा देखते ही बनती है। वे जितनी सुन्दर हैं, उतनी ही सार्थक। रत्नावली के केशजाल को मेघमाला बनाकर तुलसीदास के मन को मयूर बनाना निरालाजी का ही काम था। आरम्भ के बन्द में सांस्कृतिक सूर्यास्त के चित्रण के अन्तिम बन्द में पुष्कल रवि रेखा की झाँकी तक संपूर्ण कविता एक विशाल रूपक में बँधी हुई है। ऐसा निर्माण-सौंदर्य नई हिन्दी कविता के लिए अद्‌भुत था। शब्दावली कठिन है, भावों में जहाँ-तहाँ दुरूहता है, लेकिन कवि का प्रयास यह रहा है कि मध्यकालीन समाज के सत्य तक हमें पहुँचाये। निःसन्देह छायावादी कला को उसने यहाँ अत्यन्त पुष्ट और विकसित रूप में दिखाया है।

'तुलसीदास' से मिलती-जुलती कविता 'राम की शक्ति-पूजा' है। पहली रचना में रामचरित्र के निर्माता कवि तुलसीदास का चित्रण था; इस कविता में राम ही नायक हैं। पहली कविता में उन्होंने मध्यकालीन समाज का सत्य दिया था, इस कविता की पृष्ठभूमि पौराणिक है परन्तु उसका सत्य कवि के इसी जीवन का है।

'धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध'', यह पंक्ति पूरी कविता का सूत्र है। कहना न होगा कि यह पंक्ति स्वयं कवि के जीवन पर खूब घटित होती है। राक्षस, वानर, लंका,

समुद्र-तट, यह सब एक विशाल सेटिंग मात्र हैं; वास्तविक **संघर्ष** राम के हृदय में है। वह शक्ति की साधना कर रहे हैं और प्रश्न है कि वह विजयी होंगे या नहीं। 'तुलसीदास' में कवि एक हद तक तटस्थ है; 'राम की शक्ति-पूजा' पर कवि की अपने व्यक्तित्व की छाप है।

रवि अस्त हो गया लेकिन ज्योति के पत्र पर राम-रावण के अपराजेय समर का इतिहास सदा के लिए अंकित हो गया है। इस युद्ध में प्रति पल व्यूह परिवर्तित किये गये हैं; वानरगण भयानक 'हूह' शब्द करते हुए राक्षसों पर टूट पड़े हैं; रामचन्द्र रावण पर छोड़े हुए अपने बाणों के व्यर्थ होने से अग्निनयन हो उठे हैं। लंकापति उद्धत होकर वानर-दल का मान मर्दन कर चुका है; सुग्रीव, अंगद, गवाक्ष, नल आदि मूर्छित हो गये हैं; युद्ध के समुद्र-गर्जन में केवल हनुमान की चेतना स्थिर रही है; वही जानकी के हृदय को आशा बँधाये हुए है।

संध्या होने पर दोनों दल अपने शिविरों को लौटे हैं। 'तुलसीदास' में असुरों द्वारा संस्कारों की पृथ्वी मली गई थी; यहाँ भी राक्षसों की पद-चाप से पृथ्वी हिल उठती है। तमोगुण का प्रतीक आकाश–जो रावण के इष्टदेव शंकर का निवास है – दानवीय विजय से उल्लसित और विह्वल हो उठता है। वानरों की सेना वैसे ही खिन्न हो रही है। राम के धनुष की प्रत्यंचा ढीली पड़ गई है। जटा-मुकुट खुलकर पृष्ठ पर, बाहुओं और वक्ष पर इस तरह फैल गया है जैसे दुर्गम पर्वत पर रात्रि का अंधकार फैल गया हो। इस निराशा की तमिस्त्रा में दूर चमकती हुई तारिकाओं की तरह उनके दो नेत्र दीप्त हो रहे हैं।

समुद्र के किनारे पर्वत है; वहीं पर वानरी सेना एकत्र हुई है। अमावस्या की रात में आकाश मानों अँधेरा उगल रहा था। हनुमान के पिता पवनदेव स्तब्ध थे। विशाल समुद्र अप्रतिहत स्वर में गरजकर शान्ति भंग कर रहा था। पर्वत ऐसे निश्चल था मानो ध्यानमग्न हो। प्रकाश के लिए केवल एक मशाल जल रही थी। रामचन्द्र के मन में संशय हो रहा था कि रावण को जीत पायेंगे या नहीं। जो मन आज तक अशान्त न हुआ था, वही असमर्थ होकर अपनी हार मान रहा था। तुलसीदास ने मनोदेश में ऊपर उठते हुए जैसे रत्नावली की छवि देखी थी, वैसे ही राम को अचानक स्वयंवर के दिनों की जानकी का स्मरण हो आता है। उपवन का वह मिलन, नयनों का नयनों से संभाषण, जानकी का वह प्रथम कम्पन – वह सब याद आते ही क्षण भर को वह अपनी स्थिति भूल जाते हैं और शिव का धनुष-भंग करने के लिए उनका हाथ फिर अपने आप उठ जाता है। फिर उन्हें अपने दिव्य शर याद आते हैं जो देवदूतों के सामने उड़ते हुए ताड़का, सुबाहु

आदि राक्षसों को भस्म कर चुके हैं। उन्हें वह शक्ति की मूर्ति याद आती है जो आज युद्ध में समस्त आकाश को छाये हुए थी। राम के सभी अस्त्र उस महानिलय में बुझकर लीन हो गये। उनके नेत्रों में सीता के राममय नेत्रों की छवि अंकित हो गई। तभी उनके दैन्य को तिक्त करने के लिए रावण भयानक स्वर में अट्टहास कर उठा, पराजित राम के नेत्रों से मुक्ता जैसे दो अश्रु-बिन्दु ढुलक पड़े।

महावीर हनुमान अस्ति और नास्ति के रूप राम के दोनों चरणों को देख रहे हैं। अश्रु-विन्दु देखते ही उनका मन अस्थिर हो उठा। पिता-पक्ष से उच्चासों पवन डोल उठे। समुद्र में पहाड़ जैसी तरंगें उठकर गिरने लगीं। हनुमान अट्टहास करते हुए महाकाश में पहुँच गये। रावण की महिमा अमावश के अन्धकार के समान थी और हनुमान रामभक्ति के तेज के समान उसे छिन्न कर रहे थे। रावण के इष्टदेव शंकर के निवास महाकाश को समेट लेने के लिए महावीर पहुँच गये। इस महानाश को देखकर एक क्षण को शिव भी चंचल हो गये। महावीर के वेग को सँभालने के लिए उन्होंने शक्ति का स्मरण किया। जिसका मन कभी श्रृग्ङ्गाररत नहीं हुआ, वह राम की मूर्तिमान अर्चना शिव के सामने आ पहुँची। उन्होंने शक्ति को सावधान किया कि इस ब्रह्मचारी पर प्रहार करने से तुम्हारी ही हार होगी। उसे विद्या से ही प्रबोध देना चाहिए। सहसा आकाश में अंजना रूप में शक्ति का उदय हुआ। उन्होंने हनुमान को मीठी फटकार बतलाई – बचपन में सूर्य को निगल लिया था, वही भाव तुम्हें आज भी विकल कर रहा है। यह महाकाश शिव का निवास स्थान है जिन्हें रामचन्द्र भी पूजते हैं। उसे नष्ट करने के लिए क्या रामचन्द्र ने आज्ञा दी है ? फिर सेवक होकर यह अनाधिकार चेष्टा कैसी? यह फटकार सुनकर महावीर का मन नम्र हो गया और उन पर फिर वही सेवा-भाव छा गया।

इधर विभीषण को चिन्ता हो रही थी कि रामचन्द्र की यही दशा रही तो लंका राज कैसे मिलेगा ! उन्हें उत्साहित करने के लिए विभीषण ने अनेक वीर-वचन कहे लेकिन राम के मन पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने शान्त मन से उत्तर दिया, "मित्रवर, यह लड़ाई मुझसे न जीती जायगी। स्वयं महाशक्ति रावण का समर्थन कर रही है। उन्हें कौन परास्त कर सकता है ?'' एक बार लक्ष्मण को सहज क्रोध हो आया, जाम्बवान स्थिर रहे सुग्रीव व्याकुल हुए और विभीषण आगे का कार्यक्रम सोचने लगे। रामचन्द्र आज श्रीहत हो गये ! महाशक्ति रावण को अपने अंक में वैसे ही लिये थीं, जैसे चन्द्रमा कलंक धारण करता है। वानर-दल को विचलित होते देखकर वह जब-जब शर-संधान करते थे, महाशक्ति के नेत्रों में तब-तब अग्नि दीप्त हो उठती थी। फिर महाशक्ति ने राम को इस दृष्टि से देखा कि उनके हाथ बँध गये और धनुष खींचते ही न बना।

निरालाजी ने स्वामी सारदानन्दजी महाराज वाले लेख के अन्त में अपने स्वप्न का उल्लेख किया था, – "ज्योतिर्मय समुद्र है, श्यामा की बाँह पर मेरा मस्तक, मैं लहरों में हिल रहा हूँ।'' इस स्वप्न के साथ उनके जीवन का एक सत्य यह भी था

"पश्चात् देखने लगीं मुझे बँध गये हस्त,
फिर खिंचा न धनु, मुक्त ज्यों बँधा मैं हुआ त्रस्त्र।''

'राम की शक्ति पूजा' में इस तरह की असमर्थता का अद्वितीय चित्रण हुआ है।

जाम्बवान ने सलाह दी कि शक्ति की आराधना करने से ही रावण को पराजित करना संभव होगा। यह प्रस्ताव सभी को पसन्द आया। हनुमान एक सौ आठ कमल लेने चले। रात बीत गई और नभ के ललाट पर प्रथम किरण फूटी। समर भूमि में फिर कोलाहल होने लगा लेकिन रामचन्द्र मन को एकाग्र किये दुर्गा का जप कर रहे थे। इसी प्रकार पाँच दिन बीत गये। छठे दिन उनका मन योगियों के आज्ञा नामक चक्र तक पहुँचा। जप के महाकर्षण से अम्बर थर-थर काँपने लगा। देवी को कमल अर्पित करते हुए राम एक ही आसन पर स्थिर बैठे रहे। आठवें दिन एक इन्दीवर रह गया और मन सहस्त्रार को पार करने की बाट जोहने लगा। दो पहर रात बीतने पर साक्षात् दुर्गा आकर पूजा का अन्तिम फूल उठा ले गईं। हाथ बढ़ाने पर फूल न मिला तो राम का मन चंचल हो उठा। ध्यान छोड़कर पलकें खोलीं और वह विचार आते ही आसन को छोड़ने से असिद्धि होगी, वे अपने जीवन को धिक्कारने लगे। विरोध और निरन्तर विरोध, साधनों का अभाव और सदा ही अभाव ! जानकी का उद्धार कैसे करें ? तभी उनके अविनीत मन ने कहा, माता मुझे राजीव-नयन कहती थीं । दो नील कमल तो अभी शेष हैं। इसलिए,

"पूरा करता हूँ देकर मात: एक नयन''

यह कहकर उन्होंने महाफलक वाला प्रदीप्त ब्रह्मशर हाथ में ले लिया। ज्यों ही अपना दक्षिण नेत्र अर्पित करने को हुए, देवी ने साधुवाद देते हुए उनका हाथ पकड़ लिया।

"साधु, साधु साधक धीर, धर्म-धन धन्य राम।
कह, लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम।''

रामचन्द्र ने शक्ति को प्रणाम किया और वे विजय की भविष्यवाणी करके राम के मुख में लीन हो गईं।

'राम की शक्ति पूजा' जैसी नाटकीयता निरालाजी की और किसी भी कविता में नहीं। यहा उन्होंने अपने जीवन की अनुभूति, निराशा, पराजय, संघर्ष और विजय-कामना को नाटकीय रूप दिया है। आकाश और समुद्र के सम्मिलित गर्जन में राम का व्यक्तित्व कुछ क्षण को मानो खो जाता है। यह क्रियाशील तमोगुण जीवन की परिस्थितियाँ हैं जिन्हें परास्त करने के लिए राम सदा साधनों की खोज करते रहे हैं। राम शक्ति की साधना करते हैं। यह साधना और भी महत्वपूर्ण हो उठती है जब हम उस चित्र का स्मरण करते हैं जहाँ राम समुद्र के किनारे अँधेरे में अकेले बैठे हैं, सिर पर एक मशाल जल रही है और समुद्र के गरजने के साथ रावण का उन्मत्त अट्टहास सुनाई देता है। यह राम तुलसीदास के मर्यादा पुरुषोत्तम नहीं हैं। इनमें ब्रह्म की पूर्णता के बदले मनुष्य की अपूर्णता है। वह अधीर हो जाते हैं, सीता की स्मृति से मोहित हो जाते हैं, आँखों से आँसू भी गिरने लगते हैं, इसीलिए शक्ति की साधना इतनी महत्वपूर्ण है। राम के रूप में कवि ने जीवन की परिस्थितियों को एक बार फिर चुनौती दी है। उसके नायक युद्ध के लिए फिर तैयार होते हैं। लेकिन यह महाशक्ति एक दैवी शक्ति है। शक्ति का आकर राम का हाथ पकड़ना एक मनोमुग्धकारी चमत्कार मात्र है। राम के संघर्ष का चित्र जितना प्रभावशाली है, उतना उनकी विजय का नहीं। कवि के जीवन में संघर्ष ही सत्य रूप में आया है। विजय की कामना अपूर्ण रही है।

यहाँ तुलसीदास की अपेक्षा चरित्र-चित्रण में विविधता है। विभीषण, हनुमान आदि के चित्र महाकवि बाल्मीकि और मिल्टन की याद दिलाते हैं। थोड़े-से शब्दों में रेखाचित्र बनाने में कवि ने नई क्षमता का परिचय दिया है। योग दर्शन में काव्य के लिए जो सुलभ उपकरण मिले, उन्हें कवि ने मूर्त रूप दिया है। आज्ञा, सहस्रार आदि चक्रों पर राम के मन के चढ़ने की क्रिया के अतिरिक्त हनुमान का समुद्र को विलोड़ित करते हुए महाकाश में चढ़ना ओजपूर्ण वर्णन में अनूठा है। प्रकाश और अन्धकार का ऐसा चित्रमय सम्मिश्रण उन्होंने पहले कभी न किया था। इसकी प्रतीक-व्यंजना अद्भुत है। रावण समस्त तमोगुणी विघ्न-बाधाओं का प्रतिनिधि मात्र दिखाई पड़ता है। उसके साथ शिव, आकाश और शक्ति सभी क्रियाशील जान पड़ते हैं। इस अनन्त तमोगुण में राम के दिव्यशर श्रीहत होकर कहीं खो जाते हैं। मनुष्य का मन पराजित होकर भी पराजय स्वीकार नहीं करता। युद्ध के लिए, विजय के लिए वह पुनः चेष्टा करता है। 'राम की शक्ति पूजा' का यही महान् आशावादी सन्देश है।

इस कविता के पीछे जीवन की कौन सी अनुभूति छिपी थी, इसे हम तब अच्छी तरह समझेंगे जब साथ 'सरोज-स्मृति', 'वनबेला' और 'गीतिका' के कवि-जीवन सम्बन्धी अन्य

गीतों पर दृष्टि डालेंगे। इन रचनाओं का उत्कट आत्म-निवेदन नाटकीय रूप से यहाँ प्रस्तुत किया गया है। कवि अपने प्रति इतना तटस्थ हो गया कि सहसा मुख्य पात्र से उसके तादात्म्य को हम समझ नहीं पाते।

'सरोज-स्मृति' में एक दूसरा नायक है जो 'राम की शक्ति पूजा' के राम की तरह अपने से प्रबल शत्रु का युद्ध-कौशल देखता है। यहाँ भी एक समर का वर्णन है जिसमें

"एक साथ जब शत घात पूर्ण
आते थे मुझ पर तुले तूर्ण।
देखता रहा मैं खड़ा अपल
वह शर-क्षेप वह रण-कौशल।"

'राम की शक्ति-पूजा' में पहले दो बन्दों के बाद जैसे युद्ध के बाद स्तब्धता छा जाती है, वैसे ही यहाँ भी—

"व्यक्त हो चुका दीत्फारोत्कल
क्रुद्ध युद्ध का रूद्र कण्ड फल।"

'राम की शक्ति-पूजा' में श्यामा अवतारित होकर राम के बदन में लीन हो गई, लेकिन यहाँ उनकी छवि उस व्यक्ति पर पड़ती है, जो लाञ्छित है। 'सरोज- स्मृति' में —

"वांछित उस किस लाञ्छित छवि पर
फेरती स्नेह की कूची भर,--"

पढ़ते ही बरबस 'राम की शक्ति-पूजा' में

"लाञ्छन को ले जैसे अशांक नभ में अशंक "

की याद आ जाती है।

'सरोज-स्मृति' हिन्दी की एकमात्र प्रसिद्ध 'एलेजी' या शोकगीत है। इसे कवि ने अपनी कन्या के निधन पर लिखा था। सरोज सवा साल की ही थी कि वह मातृ-विहीन हो गई। बाल्यावस्था से नानी ने उसे पाल-पोसकर बड़ा किया था। कवि के साथ-साथ वह भी जीवन के थपेड़े सहती रही। कान्यकुब्ज समाज की रूढ़ियों की परवाह न करते हुए निरालाजी ने पण्डित शिवशेखर द्विवेदी से उसका विवाह किया। इसके बाद भयानक बीमारी में उसका देहान्त हुआ। उस समय निराला जी 'सुधा' के प्रूफ-संशोधन से लेकर सम्पादन

तक के सभी कार्य करते थे। मासिक वेतन 50 रु मिलता था। कविताएँ छापना संचालकजी कवि पर अपार अनुग्रह करनां समझते थे। "मैंने निराला को बनाया'' सभा-समाज में उनका यह दावा था। 'तुलसीदास' कविता छपने पर उन्होंने यह शिकायत भी की कि 'सुधा' की बिक्री कम हो गई। मुझे याद है 'वनबेला' पर निरालाजी को पारिश्रामिक मिला था लेकिन तब तक सरोज का दुखान्त नाटक समाप्त हो चुका था। 'सरोज-स्मृति' की हर पंक्ति में यह भाव बोलता है कि मैं पुत्री के लिए कुछ न कर सका।

निरालाजी सरोज को गाँव भेज चुके थे। जीवन के और सब कार्य करते हुए भी उनका चित्त उद्विग्न बना रहता था। एक दिन नीचे से पोस्टकार्ड उठा कर ऊपर वापस आये और इतना ही कहा, "सरोज नहीं रही।'' दुख से उनका चेहरा स्याह पड़ गया था। उसे सहन करने के प्रयास में वे कुछ देर तक कमरे में टहलते रहे; उसके बाद अचानक घर से निकल कर घूमने चले गये। दो दिन तक सरोज की कोई चर्चा नहीं हुई। इस बीच उनका चित्त कुछ स्थिर हुआ। कविता में उस समय का दुख ही नहीं, एक आलम्बन पाकर सोलह साल पहले की समस्त वेदना उमड़ आई। इस कविता में निरालाजी ने चार पंक्तियाँ ऐसी सच्ची लिखी हैं जिनमें उनका सारा जीवन केन्द्रित हो गया है। उनका एक रूप उद्धत और उत्साही वीर का है, जो दारुण मार्ग में नियति को भी चुनौती देता है।

"खण्डित करने को भाग्य-अंक
देखा भविष्य के प्रति अशंक ।''

ये पंक्तियाँ हिन्दी में निरालाजी ही लिख सकते थे और भविष्य के प्रति अशंक होकर देखना उन्हीं को शोभा देता है। परन्तु वह भाग्य-अंक खण्डित नहीं कर पाये। इसलिए कविता के अन्त में, उस उदात्त गर्जन के बाद उनका दुख-जर्जर हृदय बोल उठता है,

"दुःख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज, जो नहीं कही।''

सन् '34 से '38 तक उन्होंने अनेक रचनाएँ ऐसी की हैं, जिनमें एक ओर भाग्य से अंक खण्डित करने का प्रण है तो दूसरी ओर जीवन की अनकही कथा अपने आप फूट निकलती है।

'सरोज-स्मृति' का अन्त 'राम की शक्ति-पूजा' के आशावाद से नहीं होता। निराला मस्तक झुकाकर अपने कर्म पर वज्रपात सहने के लिए तत्पर होते हैं। शीत से भ्रष्ट होते हुए शतदल के समान वह अपने विफल कार्यों से कन्या का तर्पण करते हैं। यथार्थ जीवन की यह एक नई और कटु अनुभूति थी जो निराला हिन्दी को दे रहे थे। यह एक ऐसा

उन्नीस वर्ष पार करने पर कन्या पिता से विदा लेकर जीवन सिन्धु पार कर गई। पिता अक्षम था, मानो यही सोचकर उसे मार्ग दिखाने के लिए उसने पहले ही प्रयाण किया था। शुक्ल पक्ष की प्रथमा श्रावण का स्तब्ध अन्धकार पार कर गई। पिता को बारम्बार यह स्मृति कचोटती है, "कुछ भी तेरे हित न कर सका।" धन कमाने का उपाय तो समझा लेकिन दीन के मुँह से कौर न छीन सकने के कारण स्वार्थ की लड़ाई में हमेशा परास्त हुआ। इस पराजय को हिन्दी का रत्नहार समझकर उसने गर्व से धारण किया। साहित्यिक जीवन के आरम्भ में उसकी व्यस्तता व्यर्थ जान पड़ती थी। पत्रिकाओं से लौटी हुई रचनाएँ लेकर वह एकान्त में सम्पादकों के गुण गाया करता था। कुण्डली में दो शुभ विवाह लिखे थे लेकिन कन्या की ओर देखकर उसने ग्रहों को असिद्ध करने का निश्चय किया। उसने कुण्डली के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और कन्या उनसे खेलने लगी। वयस्क होने पर विवाह के लिए प्रस्ताव आने लगे परन्तु कान्यकुब्ज शिव से गिरजा विवाह न करने का उसने निश्चय किया था। बारात बुलाये बिना साहित्यिकों के समाज में सरोज पर कलश का शुभ जल पड़ा। सरोज ने स्वर्गीया माता का रूप ग्रहण किया। मातृहीन बालिका को माँ की कुछ शिक्षा पिता ने दी और स्वयं उसकी पुष्प-सेज रची। जिस नानी की स्नेह-गोद में वह सवा साल से पली और बढ़ी थी, उसी की गोद में उसे अन्तिम शरण मिली।

इस प्रकार सरोज की जीवन-गाथा स्वयं कवि की दुख-गाथा बन जाती है। साहित्यिक जीवन में वापस की हुई रचनाओं से निराशा, आगे चलकर अर्थोपार्जन न कर पाने से निराशा, और अन्त में रुग्ण कन्या की परिचर्या न कर पाने से निराशा, वह इस कविता की भाव-भूमि है। इसमें निराला का व्यक्तित्व उद्धत, पराजित फिर भी संघर्षरत दिखाई पड़ता है। अन्त में कवि ने स्पष्ट शब्दों में यह नहीं कहा कि कन्या को परिचर्या के लिए अर्थाभाव रहा। वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते मानो लेखनी जवाब दे जाती है। वह सहसा कविता को समाप्त कर देता है। जो कहा और अनकहा रह गया, दोनों से इस कविता में ऐसा तिक्त और यथार्थ सत्य अंकित किया गया है कि व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धी रचनाओं में यह रचना सहज ही ऊँचे-से-ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेती है

आत्मनिवेदन के लिए निरालाजी ने मातृ-रूप की कल्पना की। मातृवियोग ने कविता में भव्य रूप धारण किया। इस कल्पित माता से वे शक्ति के लिए प्रार्थना करते और उससे अपना दुख भी निवेदन करते। अपने मनुष्य-जीवन के समस्त स्वार्थ वे उसके चरणों पर बलि करते हैं। वे उससे प्रार्थना करते हैं कि जीवन के रथ पर चढ़कर मृत्यु-पथ पर बढ़ें और महाकाल के तीक्ष्ण शरों को सह सकें। वह उन्हें इसकी क्षमता दे। माता की

अश्रुसिक्त मूर्ति हृदय में विराजती रहे। भले ही बाधाएँ आयें लेकिन यह शरीर क्लेद-युक्त है। उसे देकर ही वे वन्दिनी माँ को मुक्त करेंगे।

जीर्ण-शीर्ण प्राचीन को वह भस्म कर देंगी। निर्जीव शरीर का धारण करना व्यर्थ है। भारत का कल्याण तभी होगा जब यह महाशक्ति यहाँ के निवासियों के रूप में अवतरित होगी। कभी कवि सोचता है : जीवन में कुछ न हुआ, न हो। अगर संसार धोखा है तो इसमें रोना क्या। छाया की तरह नीला आसमान दिखाई देता है। मनुष्य घटता-बढ़ता आता-जाता रहता है। वह चलता है, थकता है, रुककर बकवास करता है, लेकिन दुनिया ही कमज़ोर हो तो वह क्या कर सकता है। यदि कहीं प्रकाश हो उसे दीप्त करने का प्रयास व्यर्थ होगा। फिर कहता है कि समर्थ होकर मनुष्य किनारे बैठा हुआ लहरें क्यो गिन रहा है। जिस जल के भीतर बाडव-वह्नि जल रही है, उसे पार करके न जाने कितने लोगों ने अर्थ प्राप्त किया, तब कवि ही क्यों असफल होगा? महाशक्ति से प्रार्थना करता है, संसार में तृष्णा की विषाग्नि बुझे और भाषा में अमृत के निर्झर फूटें। कवि के स्वर पृथ्वी से उठें और आकाश पर छा जायें। परस्पर कर्षण से जो द्वंद्व मचा हुआ है, वह मिट जाय और क्षुद्रता तोड़कर लोग अपना विश्व-परिचय पहचानें।

महाशक्ति की वंदना का अर्थ है, मृत्यु को वरण करना। वही जीवन के दुख दूर कर सकती है। महाशक्ति के चरणों से रंजित मृत्यु को वरण करने की वह प्रार्थना करता है। उसके हृदय में अपमान की अग्नि प्रज्जवलित रहे और इसी प्रेरणा से वह जीवन के प्रलोभनों को ठुकरा दे। शक्ति के सिन्धु में लहरें उठ रही हैं। वह प्रतिज्ञा करता है कि समीर की भाँति वह उन्हें पार करेगा। कभी उसे मालूम होता है कि लांछना और अपमान का अन्त हो गया है और विघ्न बाधाओं को पार करके वह सफलता प्राप्त कर चुका है। वह मातृ-मूर्ति से कहता है, मैं राम में अँधेरा पार करके तुम्हारे द्वार पर आ पहुँचा हूँ। रास्ते में पत्थर लगे। लेकिन वे फूल जैसे जान पड़े। उपल खिलकर मानो उत्पल बन गये। शरीर अवसन्न हो गया, फिर भी वर की प्राप्ति से कवि प्रसन्न हो गया है। शत्रुओं का स्मरण करके वह उनका उपहास करता है, यह तेज-हत निशाचर, वन्य, भीरु और मलिन मन क्या समझेंगे कि कवि ने कौनसा वर प्राप्त किया है। वह अमर पदों को गह कर प्रभात धन पा गया है।

प्रातःकाल किरण नीले आसमान पर सहस्रों रूप धारण करती है और संसार में आकर उसे रंगीन बनाती है। रात्रि के समय वही शरत् चन्द्र की किरण बन जाती है। कवि का हृदय उस मुँदे हुए कमल के समान है जिस पर आँसू की बूँदें ढुलक रही हैं। कवि चाहता है कि उसकी दुख-रात्रि में वही किरण स्वप्न की जागृति बनकर उसके नेत्रों में शयन करे।

अन्य गीतों में इस दुख की रात्रि की बात है। एक गीत में वह प्रश्न करते हैं ' **कौन** तम के पार रे कह?" इसका उत्तर भी **यही है कि अन्धकार के आगे कुछ** नहीं। जो जड़ है वही प्रवाहपूर्ण जल का रूप धारण करता है। आकाश तत्त्व ही घन की धारा बनकर गीतशील संसार बनाता है। इसी तत्त्व से गन्ध गुण की सृष्टि होती है। आनन्द का भौंरा लहर-रूपी बालों और कमल-रूपी मुख पर गूँजता है। यह परिवर्तनशील प्रकृति का रूपक है जो जल होने पर भी आनन्द से सम्बद्ध है। फिर कवि पूछता है कि अन्धकार को भेदकर जो सूर्य रूपी नेत्र खुलता है, वह निशा-प्रेयसी के हृदय पर जब मुँद जाता है तब वह सार-तत्त्व पाता है या असार बन जाता है। संसार में आतप ही जल बनकर बरसता है; कलुष से ही कमल सुहृत बनते हैं; जो अशिव और उपलाकार है,वही नीहार के रूप में मंगलमय होकर द्रवित होता है। तब इस जड़ प्रकृति के परे क्या है ? इस गीत में निरालाजी ने ज्ञानजन्य सृष्टि के सिद्धान्त को अस्वीकार किया है। मनुष्य का ज्ञान, उसकी चेतना, उसका आनन्द जड़ प्रकृति के विकास से ही सम्भव हुए हैं। प्रकृति में गुणात्मक परिवर्तन होते हैं; आतप जल बन जाता है, उपल द्रवित नीहार बनता है; इसी प्रकार एक गुणात्मक परिवर्तन से चेतना और आनन्द की भी सृष्टि हुई है। इसका कारण बताने के लिए प्रकृति से परे किसी दैवी सत्ता की कल्पना करना आवश्यक नहीं है।

दिन-पर-दिन निराला जी की रचनाओं में यह भावना दृढ़ होती दिखाई देती है कि पृथ्वी का यथार्थ सत्य ही नहीं है, वह आकाश की कल्पना से सुन्दर भी है। इस भाव को उन्होंने 'वनबेला' और 'नरगिस' में बड़ी अच्छी तरह व्यक्त किया है। 'वनबेला' के आरम्भ में उन्होंने पृथ्वी और सूर्य के प्रणय-व्यापार का वर्णन किया है। ग्रीष्म के ताप ने पृथ्वी को सर्वस्व दान कर दिया है। प्रस्वेद, कम्प, निश्वास, इनकी परिणाति लू में हुई है। संध्या के समय पीताभ, अग्निमय, निर्धूम दिगन्त का प्रसार प्रलयकाल का दृश्य उपस्थित करता है। ऐसा लगता है कि समस्त विश्व जल गया है; धूल में देश अदृश्य हो गया है। कवि विरक्त और घाम से पीड़ित होकर नदी के किनारे विचार करता चला जा रहा है।

"हो गया व्यर्थ जीवन
मैं रण में गया हार।"

पराजय का भाव लेकर वह एक जगह आकर चुपचाप बैठ जाता है। वह राजपुत्रों की बात सोचता है, जो बड़े-बड़े विद्वानों को अपना अनुचर बना लेते हैं। वह उन धनी युवकों की बात सोचता है जो समुद्र पार से शिक्षा पाकर देश में राष्ट्रपति चुने जाते हैं और जिनकी प्रशंसा में पैसे में दस गीत रचकर लोग गर्दभ-मर्दन स्वर में उन्हें गाकर बेचते

फिरते हैं। साहित्य सम्मेलन में भी तब धाम जम जाती है। उधर सांध्य नभ का मस्तक तप कर रक्ताभ हो गया था; इधर कवि के मस्तक की भी कुछ ऐसी ही दशा थी। तभी आँखे खोलकर उसने देखा कि प्रेयसी की अलकों से आती हुई गन्ध की तरह बेला की खुशबू उसे तृप्त कर रही है। जीवन का समस्त ताप और त्रास अपने मस्तक पर लेकर मानो अतल की साँस ऊपर उठी थी, मानो कर्म-जीवन के दुस्तर क्लेश भेद कर सुन्दर सिद्धि ऊपर उठी थी, अथवा क्षीर-सागर पार करके सिक्त-तन-केश अप्सरा ही बहुजन दर्शन से चकित होकर लहरों पर खड़ी हो। वह वन के गीत की तरह खिली हुई है। ताप प्रखर होने पर अपने लघु प्याले में अतल की शीतलता भरकर कवि को सुगन्ध की सुरापान कराती है। कवि उसके समीप पहुँचता है। फिर

"झुक झुक, तन तन, फिर झूम झूम हँस हँस झकोर,
चिर परिचित चितवन डाल, सहज मुखड़ा मरोर,"

बेला कवि के पराजय और ईर्ष्या के भावों की ओर संकेत करके उससे दूर ही रहने को कहती है। कवि अपने स्पर्श को अपवित्र समझकर रुक जाता है। उस अग्नि-शिखा को देखकर वह सोचता है, कहीं कविता में भी ऐसे दुग्ध जैसे धवल दल खुलते। बेला उसे सुझाती है, आपा खोकर उसने जीवन का खेल खेला है। जीवन का मेला दिखाऊ वस्तुओं से ही चमकता है। इस तड़क-भड़क में आत्मा की निधि पत्थर बन जाती है। इसीलिए नगर में एक बड़ा है तो उसके बड़प्पन की रक्षा करने के लिए शेष सभी छोटे हैं। कवि सामाजिक विषमता से उत्पन्न होने वाली अपनी ग्लानि भूल जाता है। वह दो पंक्तियों में बेला के जीवन की सार्थकता व्यक्त कर देता है :

"नाचती वृन्त पर तुम, ऊपर
होता है जब उपल प्रहार प्रखर !"

बेला की यही सार्थकता कवि के जीवन में उसकी कविता बन जाती है।

'नरगिस में यह ईर्ष्या भाव तिरोहित हो गया है। नरगिस के पार्थिव सौंदर्य ने उसे अभिभूत कर लिया है। छोटे-बड़े के भाव उठते ही नहीं। हृदय में गंगातट की निर्जन शान्ति और नरगिस का सौंदर्य छा गया। शीतकाल बीत चुका था और पश्चिम में वैभव का दीर्घ दिन अस्त हो चुका था। तारक प्रदीप लिए हुए संध्या प्रिय की समाधि की ओर चली गई है। नीड़ों में पक्षियों का स्वर भी बन्द हो गया है। केवल बीते हुए गौरव के समान गंगा का शब्द निरन्तर सुनाई पड़ता है। चैत का कृष्ण पक्ष है, तृतीया की ज्योत्स्ना पृथ्वी पर ऐसे उतरी है जैसे नन्दनवन की अप्सरा पृथ्वी को निर्जन समझकर रात्रि के समय गंगा-स्नान

करने आई हो। तट पर बैठा हुआ कवि **विश्व का सघन तारतम्य देख रहा था। वह** सोचता था कि तत्व सूक्ष्मतम होता हुआ ऊपर को चला गया है और लोगों ने **मान लिया** है कि पृथ्वी से स्वर्ग बड़ा है। ज्योत्स्ना स्वर्ग की श्रेष्ठ सृष्टि के सामने सशरीर खड़ी है।

युवती धरा का यह वसन्तकाल था; हरे-भरे स्तनों पर कलियों की माला पड़ी थी। पवन पृथ्वी की सुरभि से दिक्कुमारियों को प्रसन्न कर रहा था। ऐसा लगता था कि पृथ्वी और स्वर्ग की होड़ हो रही है। तभी कवि ने देखा कि प्रणय के एकटक नयन जैसी नरगिस खिली हुई है। वह कहती है, स्वर्ग से आने से ही क्या ज्योत्स्ना अधिक सुन्दर हो गई ? वह स्वयं अन्धकार को पार कर प्रकाश में आई है; क्या उसने स्वर्ग नहीं प्राप्त कर लिया ? पृथ्वी स्वर्ग पर चढ़े तो उसकी अधिक शोभा है या उस स्वर्ग की जो नीचे पृथ्वी पर उतर आये? हवा बही और नरगिस की सुगन्ध कवि के प्राणों में छा गई। यही स्वर्ग है, यह कहकर उसने आनन्द से नेत्र बन्द कर लिये। भौतिक रूप पर इससे अच्छा और किसी छायावादी कवि ने नहीं कहा :

"स्वर्ग झुक आये यदि धरा पर तो सुन्दर
या कि यदि धरा चढ़े स्वर्ग पर तो सुघर ?
बही हवा नरगिस की, मंद छा गई सुगन्ध,
धन्य, स्वर्ग यही, कह किये मैंने दृग बन्द।"

इन कविताओं में महाकाव्य के गुण हैं। इनमें वह उदात्त भावना है जिसे अंग्रेज़ी में 'एपिक क्वालिटी' कहते हैं। इनका नायक वास्तव में धीरोदात्त है, परन्तु उसके नायकत्व की परिणति रसराज में नहीं होती। वह दुख की कालिमा से घिरा हुआ है, जलती-बुझती प्रकाश की लौ अपराजित रहती है। ग्रीक नाटकों के हीरो की तरह वह हमारे हृदय में संवेदना का संचार करता है; संघर्ष की भयानकता दिखाकर वह विषाद, भय, कुतूहल के भावों को जाग्रत करता है। भावों के अनुरूप कवि की ओजपूर्ण शैली है, जिसके लिए मैथ्यू आरनौल्ड ने 'ग्रैण्ड स्टाइल' शब्दों का प्रयोग किया था। भाषा और छन्द पर ऐसा अधिकार निराला में भी कम मिलता है। छायावाद ने हिन्दी कविता को गीतात्मक बनाया था। रीतिकाल की रूढ़िग्रस्त तटस्थता से हटकर उसने अपने व्यक्तित्व को मुखर किया था। गीतिकाव्य में नई भावुकता, नया अपनपौ, पाठक से नया परिचय स्थापित किया गया। निराला के गीतों और मुक्तकों में आत्म-निवेदन के साथ नाटकीयता भी है। वह अपने प्रति तटस्थ होकर अपनी अनुभूतियों का चित्रण कर सकता है। आत्मीयता और नाटकीयता का यह सम्मिश्रण अद्‌भुत है।

'सरोज-स्मृति', 'राम की शक्ति-पूजा', 'वनबेला' आदि रचनाओं के चित्र और अलंकार छायावाद के ही हैं परन्तु उनकी व्यंजना नवीन है। उदाहरण के लिए प्रभात और कमल को लेकर छायावादियों ने ही नहीं, भारत की पूरी कवि-परम्परा ने रूपक बाँधे हैं। लेकिन 'तुलसीदास' में सांस्कृतिक सूर्य के अस्त से आरम्भ करके जिस प्रकार "प्राची दिगन्त उर में पुष्कल रवि रेखा" से कविता का अन्त किया गया है, यह निबाह अनूठा है। छायावाद के प्रतीकों को यह अनुभूति पहले न मिली थी जो उन्हें ऐसा प्रभावशाली बनाती। निराला ने उन्हें अपनी अनुभूति से नया जीवन दिया और इसीलिए उनमें ऐसी पूर्णता है। एक ओर उनमें छायावादी अलंकरण-सौंदर्य अपने चरम-विकास को प्राप्त हुआ है तो दूसरी ओर उनमें एक दूसरे युग के आविर्भाव की झलक है। 'सरोज-स्मृति में' कवि ने संकेत किया था कि दीन-दुखियों का अन्न छिनकर वह स्वार्थ-समर में विजयी नहीं होना चाहता था। उसके लिए स्वाभाविक था कि अपनी वेदना के चित्रण के बाद इस स्वार्थ-समर का भी वर्णन करे, जिसके कारण इन दुखियों की दशा सुधरने के बदले दिन-पर-दिन और गिरती जाती है। उसने ग़ालिब की मस्ती और उसके दर्द का परिचय दिया था। उसने नाटकीय सेटिंग में वीर नायकों का चित्रण किया था। अब उसके लिए आवश्यक था कि मैक्सिम गोर्की की तरह जनसाधारण का भी चित्रण करे। सन् 33-34 में हिन्दी में एक नये आन्दोलन का सूत्रपात हो रहा था। छायावाद की परिणति जिस निराशावाद में हो चुकी थी, उसके बाद यह अवश्यम्भावी था। चोटी के कलाकारों में प्रेमचंद के बाद निराला का ध्यान सबसे पहले इस ओर गया। निरालाजी ने गोर्की का अध्ययन किया और अपनी कला को एक नया रूप दिया। 'कुल्लीभाट' में गोर्की का उल्लेख भी है। उनके हृदय में समाज के निम्न वर्ग के प्रति पहले से ही जो सहानुभूति थी, वह गोर्की से एक नया संकेत पाकर उनकी कला को एक नया रूप देने लगी। हिन्दी साहित्य में 'देवी' और 'चतुरी चमार' का यह महत्त्व है कि जब सुधारवाद का भरम बना हुआ था, तब निराला ने यथार्थ जीवन के चित्र देकर हिन्दी पाठकों को झकझोर दिया। सन् 33 में इन रचनाओं की सृष्टि यह सिद्ध करती है कि हिन्दी के साहित्य को एक नई दिशा की ओर गति देना ऐतिहासिक आवश्यकता थी। एक युग की भूमि पार करके निराला उसकी सीमा तक पहुँच गया था, अब दूसरे युग की भूमि पर कदम उठाना ज़रूरी था। निराला ने यह कदम उठाया।

# 6. सुमित्रानन्दन पन्त : एक विश्लेषण

गजानन माधव मुक्तिबोध

यद्यपि पन्तजी आज हिन्दी के ज्येष्ठतम कवियों में से हैं, मुझे प्रतीत होता है कि वे अभी भी तरुण हैं। तरुण व्यक्तित्व में कृतित्व का जो साहस होता है, और अपने को सतत विकासमान बनाये रखने के लिए जो संवेदनशील जागरूकता रहती है, वह पन्तजी में भरपूर है। इसका मुख्य कारण यह है कि पन्तजी में ऐतिहासिक अनुभूति है, जो हिन्दी के वर्तमान काव्य-क्षेत्र में कम दिखायी देती है। ऐतिहासिक अनुभूति वह कीमिया है जो मनुष्य का सम्बन्ध सूर्य के विस्फोटकारी केन्द्र से स्थापित कर देती है। यह वह जादू है जो मनुष्य को यह महसूस कराता है कि विश्व-परिवर्तन की मूलभूत प्रक्रियाओं का वह सारभूत अंग है। ऐतिहासिक अनुभूति के द्वारा मनुष्य के अपने आयाम असीम हो जाते हैं – उसका दिक् और काल उन्नत हो जाता है। ऐतिहासिक अनुभूति के कारण ही, पन्तजी विश्व-परिवर्तन के वर्तमान क्षणों को 'ब्रह्म अहम्' की संज्ञा दे सके। उनके लिए ऐतिहासिक प्रक्रिया एक कास्मिक प्रोसेस हो गयी। किन्तु, पन्तजी की इस ऐतिहासिक अनुभूति के पीछे उनकी मनोरचना सम्बन्धी कौन-सी मूलभूत प्रवृत्ति छिपी हुई है?

पन्तजी में वास्तव के प्रति विशेष उन्मुखता रही आयी। प्राकृतिक सौन्दर्य उन्हें केवल उपमाएँ और रूपक ही नहीं देता रहा, वह पूरे रूपाकार के साथ उनके सम्मुख उपस्थित होता आया। उनके यौवनोन्मेषकाल में, प्राकृतिक सौन्दर्य उनके लिए एक वातावरण स्थिति और परिस्थिति लेकर आया। नि:सन्देह, पन्तजी में कोमल संवेदनाओं से आप्लुत एक विशेष प्रकार की अन्तर्मुखता थी। शायद, वह कल्पना-वृति की कोमल और आत्यन्तिक तीव्रता के कारण रही हो, अथवा बाह्य से संवेदनाएँ प्राप्त कर, फिर उन्हें मात्र मनोमय बनाकर, उनमें लीन रहने की वृत्ति के कारण रही हो-कहा नहीं जा सकता। किन्तु यह सत्य है कि संवेदनाओं के मूल बाह्य स्रोतों के प्रति वे उन्मुख थे। जिस विशेष अर्थ में पन्तजी प्रकृति-सौन्दर्य के कवि हैं, उस अर्थ में, उदाहरणत:, प्रसादजी नहीं। प्रसादजी प्रकृति के रूप-सौन्दर्य को आत्मसात् करते हैं, किन्तु मुख्यत:, मानव-प्रसंगों के बीच उद्‌भूत भावनाओं के वर्णन में वे उन प्रकृति-रूपों को खींचकर ले जाते हैं, क्योंकि 'प्रकृति-सौन्दर्य' मुख्यत: उनका कार्य-विषय नहीं, मानव-भाव कार्य-विषय है। प्रकृति-सौन्दर्य, साधारणत:, प्रसादजी के लिए काव्य का उपादान है। पन्तजी के लिए सर्वत्र ऐसा नहीं है। प्रसादजी, वस्तुत:, अन्तर्मुख कवि हैं। वे भावों को इस प्रकार अनुभूत करते हैं, इस तरह पहचानते हैं, जैसे हम अपने घर की भीत, टेबिल, दवात, छड़ी, आदि वस्तुएँ अच्छी तरह जानते हैं। भाव मानव-प्रसंगों के बीच पैदा होते हैं। जिस प्रकार मानव-प्रसंग उलझे हुए होते हैं, उस तरह

भाव भी। भाव चाहे जितने ग्रन्थिल क्यों न हों, प्रसाद में ऐसी विश्लेषणप्रधान मर्म-दृष्टि थी कि जो उन भावों को, सारी जटिलता और समग्रता के साथ, किन्तु फिर भी जहाँ तक बने वहाँ तक सरलीकृत रूप में, विश्लेषित और संश्लेषित रूप में, चित्रित करती थी। प्रसादजी की अन्तर्मुखता इतनी गहन थी कि वे अपने अन्तर्जगत् में उपस्थित भावों को, उनके भेद और अभेद को, रूपों और गुणों को बहुत अच्छी तरह पहचानते थे। इसलिए वे समष्टि-चित्रों द्वारा उन्हें संश्लेषित रूप में, अथवा उपमा-विधान, प्रतीक-विधान द्वारा विश्लेषित रूप में, अंकित कर सकते थे।

मैं प्रसादजी और पन्तजी की तुलना इसलिए कर रहा हूँ कि मेरी बात स्पष्ट हो, और इन दो प्रभावशाली कवियों के काव्य-स्वभावों की विशेषताएँ सामने आ जायें। मैं दोनों के काव्यगुणों के उत्कर्ष-स्तर की बात नहीं कर रहा हूँ। काव्य में प्रकट कवि-स्वभावों पर प्रकाश डालने का यह प्रयास है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि प्रसादजी जिस अर्थ में अन्तर्मुख कवि हैं, उस अर्थ में पन्तजी नहीं। अन्तर्मुखता के बिना अपने ही भावों का स्पष्ट दर्शन, उनकी जटिलता और समग्रता का आकलन, तथा उनकी विश्लेषित और संश्लेषित अभिव्यक्ति, असम्भव है। ऐसी अभिव्यक्ति प्रसादजी के पास है, जो पन्तजी के पास नहीं। पन्तजी अन्तर्मुख कवि नहीं हैं- अथवा उनकी अन्तर्मुखता बहुत क्षीण है। पन्तजी अपने भावों को न केवल सरल रूप में रखते हैं, वरन् उनकी मात्रा भी बहुत कम होती है, और साथ ही उनका आवेग भी। पन्तजी के काव्य में हमें संयम-असंयम दिखायी ही नहीं देता। हाँ, कहीं-कहीं कल्पना का अतिरेकपूर्ण आवेग हमें अवश्य प्राप्त होता है। वे मात्र निवेदन करते हैं। उनका काव्य अधिकतर निवेदनात्मक है। सच तो यह है कि पन्तजी अन्तर्तम के गहन भाव-दृश्यों के चित्रकार नहीं हैं। वैसी अन्तर्मुखता और विश्लेषणमयी दृष्टि उनके पास है ही नहीं। वे प्रकृति-चित्रों के अतिरिक्त मनोदशाओं और मन स्थितियों के गीतकार रहे हैं। वे सांकेतिक-सूचक अर्थप्रवण शब्दों और प्रतीकों द्वारा उन स्थितियों और दशाओं को इस प्रकार प्रेषित करते हैं कि पाठक उन्हीं मन:स्थितियों और मनोदशाओं की संवेदनमय धुन्ध में खो जाता है, उस संवेदनमय धुन्ध को आत्मसात् करता है। ऐसी कविताओं का स्वर, नि:सन्देह, मन:स्थितियों का संवाहक होता है। प्रसादजी ने कभी स्वर नहीं साधा। स्वर द्वारा मन:स्थिति अन्यों में संक्रमित होती है। अन्तर्तम के गहन भाव-दृश्यों में उलझने की क्षमता और फुर्सत हर एक में नहीं होती। पाठक, भाव-दृश्यों का विशेषज्ञ पण्डित नहीं होना चाहता। पन्त उसे सहज रूप से विश्लेषित और संश्लेषित भाव-दृश्य नहीं देते, वरन् मन:स्थिति और मनोदशाएँ प्रदान करते हैं। वह उनसे अभिभूत हो जाता है। पन्तजी की लोकप्रियता का यही रहस्य है। अपनी मन:स्थिति और मनोदशा को अन्यों में संक्रमित

करने की उनमें अद्‌भुत क्षमता है। प्रसादजी की बहुत-सी कविताओं के लिए (नि:सन्देह कुछ को छोड़) साहित्य-विशेषज्ञों की सहायता लेना आवश्यक है। इसीलिए आजकल, शायद यूनिवर्सिटियों में प्रसादजी को ज्यादा महत्व दिया जा रहा है।

पन्तजी के काव्य का यौवनोन्मेष काल प्रदीर्घ है। उनकी कविताओं में ताज़गी और नवीन भंगिमा रही आयी। किन्तु दसियों साल बाद, राष्ट्रीय स्वाधीनता के अनन्तर के काल में, उनकी कई कविताओं में पुरानी गूँजें दिखायी दीं। पुराने भाव संशोधित-परिवर्तित रूप में आये, और उनके साथ जुड़ी हुई पुरानी शैली और पुराने चित्र भी कुछ फेरफार के साथ अवतरित हुए। हाँ, यह सच है कि उन्होंने बहुतेरे नये प्रयोग किये, उनमें ताज़गी है। प्रयोगों में कवि का साहस और अग्रसर होनेवाली प्रतिभा की सूचना भी मिलती है। किन्तु प्रकृति-चित्रों मन:स्थितियों और मनादशाओं को प्रकट करने की क्षमता रखनेवाला उनका पुराना शिल्प नये का भार वहन न कर सका। सच तो यह है कि विशेष प्रकार के भावों को प्रकट करते रहने से उन भावों से अभिव्यक्ति की आदत पड़ जाती है। उन भावों से जुड़े हुए चित्र, भंगिमा तथा शब्द-सम्पदा आप-ही-आप आवृत्त और पुनरावृत्त होने लगती है। तब उनमें ताज़गी नहीं रह जाती। वे भाव और उनकी अभिव्यक्ति कण्डीशन्ड रिफ्लेक्स का रूप धारण कर लेती है। अभिव्यक्ति में यान्त्रिकता आ जाती है।

**चिदम्बरा** में संकलित बहुत -सी मनोदशात्मक या प्रकृति-चित्रात्मक कविताओं में वह पुरानी प्रभाव-क्षमता नहीं है। तब यह प्रतीत होता है कि मन:स्थिति-व्यंजक कविताओं में भी, भावों की केवल रूपरेखा उपस्थित करने के बजाय कुछ और चाहिए। केवल निवेदनात्मक शैली से काम नहीं चलने का। **चिदम्बरा** में एक मज़ेदार बात और हुई। भाव कई स्थानों पर मात्र एक दृष्टि, एक रुख़ एक झुकाव को प्रकट करने लगे। भावों से सम्बद्ध जो चित्रावली बहुत पहले से चली आयी, वह थोड़े हेरफेर के साथ (भावना से अधिक अर्थात् अन्त:समृद्धि से अधिक) केवल झुकाव प्रकट करने लगी। फलत: पन्त का बहुत-सा काव्य झुकाव का काव्य बनकर रह गया। वह मात्र दृष्टि-काव्य हो उठा, मर्म-काव्य नहीं। जहाँ-जहाँ इस प्रकार दृष्टि-काव्य प्रकट हुआ, वहाँ-वहाँ जीवन-तत्त्वों की रिक्तता-सी प्रकट होने लगी। **चिदम्बरा** में ऐसी बहुत-सी कविताएँ हैं, जो इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। इस श्रेणी की बहुत-सी कविताओं में मात्र शुभेच्छाएँ और कल्याण-कामनाएँ हैं, जो कवि द्वारा विकसित अपनी पुरानी सांस्कृतिक शब्दावली में प्रकट हुई हैं। इस श्रेणी में हम बहुत-सी उद्‌बोधनात्मक कविताएँ भी डाल सकते हैं। इन्हीं कविताओं को देखकर लोग यह कहते हैं कि विचारों की जो उच्चता है, वह काव्य की भी उच्चता है, यह नहीं कहा जा सकता। ध्यान देने की बात है कि इन्हीं कविताओं मे छन्दों का अनुरणन, चमत्कारपूर्ण भावसंगीत प्रस्तुत करने

का बजाय, उबानेवाली एकस्वरता उत्पन्न करता है। मैं यहाँ काव्य-प्रभाव की दृष्टि से बात कर रहा हूँ।

अन्तर्मुखता के आपेक्षित अभाव की पूर्ति के रूप में पन्तजी में वास्तव के प्रति सहज संवेदन-क्षमता है। शुरू में, प्रकृति-सौन्दर्य के चित्रण में तो वह प्रकट हुई ही, उस वास्तव अनुरोध ने कवि को बाह्य जीवन-जगत् के प्रति प्रेरित किया। प्रसादजी, एक अन्वेषक के रूप में, अपने ही उलझे मनोभावों के बाह्य सन्दर्भों को खोजते हुए, जीवन-जगत् के उलझाव का अध्ययन करते, चिन्तन द्वारा बाह्य-विश्लेषण और आत्म-विश्लेषण करते। जीवन-जगत् का अध्ययन करनेवाले अन्तर्मुख प्रसादजी के मन पर अपना खुद का बोझ था। पन्तजी वास्तव के प्रति संवेदनशील होकर, जब-जब तत्प्रति उन्मुख हुए, उनके मन पर अपना खुद का बोझ कभी नहीं रहा। प्रसादजी अपने खुद के बोझ के सन्दर्भ से ही जीवन-जगत् की तह में घुसने का प्रयत्न करते। प्रसादजी की संवेदन-प्रणाली ही भिन्न थी। अत्यधिक अन्तर्मुखता, तथा उस अन्तर्मुख लोक में विलासितापूर्ण गहन श्रृंगारिकता, और इसके एकदम विरुद्ध और विपरीत, आर्ष सांस्कृतिक अद्वैतवादी दर्शन, और उससे अनुप्राणित जीवन-मूल्य थे। उनके हृदय में इन दोनों प्रवृत्तियों की द्वन्द्व-स्थिति वर्तमान थी। बाह्य से प्राप्त उसकी सवेदनाएँ भी इतनी अधिक तीव्र थीं कि संवेदना स्वयं उनके लिए वस्तुत: एक समस्या बन जाती थी। फलत:, अपनी संवेदना और संवेदनात्मकता पर उन्हें सोचना पड़ता था। अपनी मूलभूत चिन्तन-प्रवृत्ति के द्वारा, वे उन तीव्र संवेदनाघातों को समस्यात्मक रूप देते थे। इसीलिए प्रसादजी की काव्याभिव्यक्ति उलझी हुई-सी लगती थी।

इसके विपरीत, पन्तजी पर अपने निज का इतना जबर्दस्त बोझ नहीं रहा। फलत; वास्तव से उद्‌भुत संवेदनाएँ और वास्तव के प्रति उनकी प्रतिक्रियाएँ अधिक सरल और सीधी थीं। वास्तव का (मान लीजिए, प्रकृति -सौन्दर्य का) पन्त-कृत चित्रण भावों और संवेदनाओं के उलझाव के कारण उलझा हुआ न होकर, वास्तव के रंग-बिरंगेपन के कारण उलझा हुआ हो सकता है। वास्तव की पूरी ताज़गी, इसीलिए, पन्तजी के काव्य में है, चाहे वे सोनजुही के बारे में लिखें या हिमालय के सम्बन्ध में। यह ठीक है कि मनोदशा को व्यक्त करने के लिए पन्तजी तरह-तरह की कल्पनाएँ लाते हैं अथवा वे प्रकृति के रूपों द्वारा संकेतित भावों को व्यक्त करने के लिए अनेकानेक कल्पना-चित्र प्रस्तृत करते हैं। बहुत सम्भव है कि ऐसी कुछ कविताओं में पाठक को उलझाव मालूम हो। किन्तु काव्याभिव्यक्ति की सांकेतिकता का यह अर्थ नहीं है कि कवि-मन में उपस्थित जो जटिल भाव-समुदाय है, वह सारा-का-सारा दृश्यमान होना चाहता है। इसके विपरीत, पन्तजी संकेतों द्वारा बात करके छुट्‌टी पा लेते हैं।

सच तो यह है कि निज का बोझ कम होने से, तथा अन्तर्मुखता के सापेक्षिक अभाव के फलस्वरूप, पन्तजी को, शायद, अन्त:स्थित भावों का आकलन-अध्ययन कम ही है। फलत:, जहाँ-जहाँ उनके काव्य में संवेदन की ताज़गी कम है, वहाँ वहाँ भाव-दृश्य भी दुर्बल हैं। किन्तु जहाँ-जहाँ उनके काव्य में संवेदना की ताज़गी है, वहाँ उनके शब्द बोलने लगते हैं, छन्द नाचने लगते हैं, भाव चमकने लगते हैं। ऐसे क्षणों में, जब वे छन्द की चौखट में सारभूत जीवन-तथ्य भी जमा देते हैं, तब भी उस कविता में एक ख़ास काट का ज्यॉमितिक सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है - इसीलिए कि उसमें भी एक ताज़गी होती है। मुझे बार-बार लगता है कि पन्तजी की संवेदन-क्षमता, अर्थात् नव-नवीन संवेदनाओं को उनकी अपनी प्रफुल्लता और ताज़गी में ग्रहण करने की उनकी ताक़त, ही ऐसी है जो उन्हें वास्तव की तरफ़ ले जाती है - बाह्य वास्तव की ओर। वे जब बाह्य वास्तव की ओर जाते हैं और जब वे उसका अध्ययन करने लगते हैं, तब उनके मन पर उनका अपना कोई बोझ नहीं होता। वे वास्तव के सौन्दर्य अथवा उसके प्रभावकारी रूप की ओर निरहम तथा मुक्त भाव से जाते हैं और उस वास्तव द्वारा दी गयी संवेदनाओं को खूब ग्रहण करते हैं । इसीलिए मैं कहता हूँ, पन्तजी बुनियादी तौर पर ऐस्थीट हैं।

यदि यह सच है तो क्या कारण है कि पन्तजी ऐकान्तिक-से प्रतीत होते हैं। यद्यपि उनके काव्य में प्रगतिशील भाव-धारा दृष्टिगत होती है, और वास्तवोन्मुखता भी प्रकट होती है, किन्तु साथ ही ऐकान्तिक वातावरण दिखायी देता है। यदि मान लिया जाय कि पन्तजी में वास्तवोन्मुख रहने की प्रवृत्ति है, तो उनका व्यक्तित्व अधिक सार्वजनिक और सकर्मक होना चाहिए। किन्तु, उक्त निष्कर्ष निराधार है। पहली बात तो यह है कि पन्तजी की वास्तवोन्मुखता की जितनी भी, जो भी, प्रवृत्ति है, वह लालन-पालन, परिवार, वर्ग, स्वयं के जीवनानुभव परिस्थिति आदि-आदि से सीमित तो है ही, साथ ही वह मनोरचना से भी सीमित है। जीवन-अस्तित्व की रक्षा तथा विकास के घनघोर संघर्ष में पड़कर यह मनोरचना अधिकाधिक वास्तवोन्मुख हो भी सकती थी। प्रसाद और उनसे अधिक निराला को जीवन संघर्ष के अपने-अपने ढंग के अनुभव हैं। प्रसाद-जैसा गहन अन्तर्मुख कवि भी ज़िन्दगी में पाये जानेवाले उतार-चढ़ाव के द्वारा, और अपने व्यवसाय के अनुभवों द्वारा, जीवन-जगत् से अधिकाधिक सम्बद्ध होकर, अपने युग के सारभूत मनोभावों को और सारभूत विशेषताओं को प्रकट कर गया। प्रसादजी का जीवन-चिन्तन उनके अपने ठोस अनुभवों पर आधारित है। जीवन के विविध क्षेत्रों का और अनेकानेक मानव-प्रसंगों का जितना अनुभव प्रसादजी को था, उतना पन्तजी को प्राप्त नहीं हो सका। फलत:, प्रसादजी की बुद्धि विश्लेषणप्रधान और कल्पना संश्लेषणप्रधान होती चली गयी। इन अनुभवों के ठोस आधार पर ही उनके अन्त:करण में एक ज्ञान-व्यवस्था निर्मित हुई, यद्यपि इस ज्ञान-व्यवस्था

के निर्माण में उनकी मूलभूत दर्शनिक जिज्ञासा का भी बहुत कुछ हाथ था। संक्षेप में, अत्यन्त अन्तर्मुख मनोरचना, जो प्रसादजी ने पायी थी, वह विशद होती गयी।

इससे पृथक्, पन्तजी में वास्तव के प्रति जो संवेदन-क्षमता है, उस पर, मूलत: अपना निज का बोझ नहीं होने से वह वास्तव के प्रति अधिकाधिक उन्मुख होती गयी। वास्तव की संवेदना ने ही पन्तजी के मनोजगत् को विशदतर किया। किन्तु, वास्तव का उनके अन्त:करण से जो सम्बन्ध रहा, वह अधिकतर मनोमय ही है। वास्तव से उनका सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक संघर्षात्मक नहीं रहा। इसके विपरीत, निराला और प्रसाद को अपने-अपने ढंग से, अपनी-अपनी दिशा में, द्वन्द्वात्मक स्थिति में आना पड़ा। वास्तविक जीवनानुभव की जितनी सम्पन्नता निराला और प्रसाद में हैं (महादेवी में भी), उतनी उस हद तक उस मात्रा में पन्तजी के पल्ले नहीं पड़ी। कर्म ही से बौद्धिक विश्लेषण-शक्ति बढ़ती है, इसमें सन्देह नहीं। प्रसादजी ने सारस्वत सभ्यता का निर्माण करनेवाली इड़ा को बुद्धिवादी बताया है। मुझे कहने दीजिए कि इस प्रकार के संघर्ष की, अर्थात् जीवन-संघर्ष की, आपेक्षित अल्पता ने तथा स्वाभाविक एकान्तप्रियता ने, बाह्य वास्तव से पन्तजी के सम्बन्धों के आस-पास एक गोल सीमा-रेखा खींच दी। पन्तजी के काव्य का जो विकास हुआ है, उस विकास की अपनी एक निश्चित सीमा है। उस सीमा के घेरे के भीतर, पन्तजी ने वास्तव के प्रति जो प्रतिक्रियाएँ कीं, और उस वास्तव ने उन्हें जो संवेदनाएँ प्रदान कीं, उनमें ऋजुता मंजुलता तथा एकरैखिकता है, जटिलता नहीं, वक्र-तिर्यक् रैखिकता नहीं, ग्रन्थिलता नहीं। बग़ैर झगड़े के, वह सीधा-साधा आमना-सामना है, परस्पर-उन्मुखता है।

व्यक्तिगत जीवन के भयानक उतार-चढ़ाव और पीड़ादायक संघर्षों द्वारा मन बुझ जाता है। बाहर के उलझाव भीतर के उलझाव बन जाते हैं। यद्यपि जीवन एक ओर अधिक अनुभवसम्पन्न हो जाता है, साथ ही बौद्धिक-शक्ति भी बढ़ जाती है, किन्तु आत्मजगत् ज्यादा उलझ जाता है। इसका कारण यह है कि ये व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष सोद्देश्य, सहेतुक, आत्मविकास के संघर्ष नहीं होते। प्रगतिमूलक प्रगतिकारक संघर्ष और होते हैं, स्थिति-रक्षा के संघर्ष में जीवन-शक्ति का अपव्यय होता है। निराला का संघर्ष स्थिति-रक्षा का संघर्ष है। प्रसाद को अपने जीवन क्षेत्र में जो संघर्ष करना पड़ा वह भी इसी प्रकार का है। पूँजीवादी समाज में व्यक्ति को अपनी स्थिति-रक्षा का संघर्ष करना ही पड़ता है। साम्यवादी समाज में ऐसा नहीं होता। स्थिति-रक्षा-सम्बन्धी संघर्ष की उग्रता से, अन्तर्जगत् में तीव्रभावनाओं, इच्छाओं, उद्वेगों, मनस्तापों और ज्ञान-तत्त्वों का ऐसा अद्भुत सम्मिश्रण हो जाता है कि बाह्य वास्तव के प्रति मन की प्रतिक्रियाएँ तीव्र किन्तु सम्मिश्र, आवेगात्मक किन्तु ग्रन्थिल, अनुभवात्मक किन्तु बौद्धिक, ज्ञान-सम्पन्न किन्तु कल्पनायुक्त, होने लगती हैं।

वास्तव-रूप को निरपेक्ष भाव से देखने और निरपेक्ष भाव से तद्द्वारा उत्सर्जित संवेदनाएँ ग्रहण करने के स्थान पर, मन उस वास्तव पर लद जाता है, थुप जाता है, अथवा उन संवेदनाओं को उनके यथार्थ रूप में ग्रहण करने के बजाय उन्हें सम्पादित और संशोधित करके स्वीकार करता है। चिन्तन तथा अनुभव के फलस्वरूप हृदय में जो ज्ञान-व्यवस्था निर्मित हो गयी होती है, वह ज्ञान-व्यवस्था भी, संवेदना-ग्रहण में हस्तक्षेप करती है, अर्थात् वह ज्ञान-व्यवस्था भी बाधास्वरूप बन जाती है। संक्षेप में, मन को उलझा देनेवाली परिस्थितियाँ पन्तजी के जीवन में भी आयी हों, तब भी उन परिस्थितियों ने अपनी एक सतत परम्परा क़ायम नहीं की थी। फलतः, पन्तजी पर निज का बोझ कम था। वास्तव के प्रति उनकी उन्मुखता अधिक मुक्त और स्वच्छ थी। इसका फल यह हुआ कि जहां-जहां संवेदनाएँ ताज़ी हैं, यानी जहाँ कवि ने उन संवेदनाओं को सीधे-सीधे उतारा है, वहाँ उनकी कविताओं में एक ताज़गी पैदा हो जाती है, हो गयी है। किन्तु इसके साथ ही एक बात और हुई है। वह यह कि व्यापक जीवन-जगत् के अनुभवप्रसूत आकलन में कवि पर छाये अपने निज के बोझ से जो ग्रन्थिलता उत्पन्न हो जाती है-चाहे आप उसे चिन्तनप्रधान दार्शनिकता का नाम दीजिए, चाहे और कुछ-वह ग्रन्थिलता भी पन्तजी में नहीं है, न तत्सम्बन्धी दार्शनिक ज्ञान-व्यवस्था का बोझ। दूसरे शब्दों में, मुक्त और निरहंकार भाव से, निर्मल और निःस्वभाव से, वास्तव की ओर जाने के जो फ़ायदे हो सकते हैं, वे सारे लाभ पन्तजी को मिले।

जिस प्रकार पन्तजी एक ओर ऐंस्थीट हुए, उसी प्रकार, दूसरी ओर, पन्तजी मार्क्सवादी विचारों के प्रभाव में आये। वास्तव के अपने रूपाकार से मोहित पन्त, वास्तव ही का तक़ाज़ा सुन भी सकते थे—अन्यमनस्क होकर नहीं, तन्मनस्क होकर। हाँ, ये दो वास्तव अलग-अलग श्रेणियों और स्तरों के वास्तव थे। अन्यमनस्क वह होता है जो अपने में खोया हुआ हो। अपने में गहरे अथाह खोये रहने का गम्भीर सामर्थ्य जो प्रसाद में था वह पन्त में नहीं-यह स्वयं दोनों का काव्य ही सूचित करता है। वास्तव का जो तक़ाज़ा था, उसे पन्त ने पूरा करना चाहा। पन्तजी की सहज कविसुलभ सहानुभूति थी जनगण के प्रति। पन्तजी का राष्ट्रवाद इसी प्रकार प्रकट हुआ। 'भारतमाता ग्रामवासिनी' से लेकर, तो आगे 'तुम हँसते-हँसते कृष्ण बन गये मन में, जनमंगल हित हे' तक जो जनोन्मुख भावनाएँ पन्तजी ने प्रकट कीं, वे उनकी सहज सहानुभूति ही का विस्तार थीं। वास्तव की संवेदना में पन्त ने अपनी ओर से कुछ नहीं मिलाया, उसका कोई रासायनिक घोल तैयार नहीं किया, उसका कोई मनः पूर्वक सम्पादन-संशोधन नहीं किया, और फिर उनकी यथामति यथावृत्ति यथाइच्छा व्याख्या और पुनर्व्याख्या करने नहीं बैठे, और तदनन्तर व्याख्याओं के कूटस्थ शीर्ष पर बैठकर उन संवेदनाओं की काट-छाँट करने

का खटराग उन्होंने नहीं किया। उन्होंने निर्मम और मुक्त भाव से वे संवेदनाएँ ग्रहण कीं, और इस प्रकार अपने हृदय का विस्तार किया। फलतः, वे कई दार्शनिक पूर्वग्रहों से बच गये। या यों कहिए, कि वास्तव के प्रति उनकी सहानुभूति के मार्ग में आने लायक़ उनके पास कोई दार्शनिक सम्भार नहीं था। यद्यपि पन्तजी के पास शुरू ही से अद्वैतवादी भावधारा थी, किन्तु, वस्तुतः, वह उनके भीतर बौद्धिक ज्ञान-व्यवस्था के ऐसे रूप में नहीं थी जो उनके दिमाग़ के दरवाजे बन्द कर सके, और दिमाग की सन्दूकची में दिल को दबा दे। संक्षेप में, पन्तजी का अद्वैतवादी रहस्य, मूलतः, एक दार्शनिक भावुकता का ही रूप हो सकता था।

वास्तव से पन्तजी का जो हार्दिक सम्बन्ध था, वह दार्शनिक कुण्ठाओं से रहित था। फलतः, वे मुक्त-मन और मुक्त-हृदय होकर वास्तव से समागम कर सके। इसीलिए मार्क्सवाद का पन्थ उनके लिए ऋजु पथ था। उन्हें चीजें साफ़ दीखती थीं। मार्क्सवाद के विरोध में तर्कों के चक्रव्यूह और दृष्टियों के विवर जो औरों को दीखते थे, उन्हें नहीं, क्योंकि वे वस्तु देख रहे थे। वस्तु स्वतःप्रमाणित है। वह है आज की पूँजीवादी सभ्यता, जिसका नाश आवश्यक है, तभी जन-मुक्ति सम्भव है। पन्तजी मार्क्सवाद के प्रति बौद्धिक ढंग से आकर्षित नहीं हुए, वरन् संवेदनात्मक मार्ग से चलकर. अर्थात् भावानुभूति द्वारा, आकर्षित हुए। भौतिक जीवन का पक्ष मार्क्सवाद द्वारा, और अन्तर्जीवन का पक्ष उच्च नैतिक-आध्यात्मिक गुणों द्वारा, अध्यात्मवाद द्वारा, निष्कण्टक और समृद्ध होगा, ऐसा उनका विश्वास रहा आया। पन्तजी का आध्यात्मवाद, वस्तुतः, आध्यात्मिक-गुणसम्पन्नता-वाद है, उच्च मानवीय गुणसम्पन्नतावाद है। वह बौद्धिक दार्शनिक ज्ञान-व्यवस्था का कोई शिकंजा नहीं है। उनका मार्क्सवाद जनगण के प्रति उनकी सहज सहानुभूति ही का वास्तववादी विस्तार है।

यदि मुझे क्षमा किया जाये, तो मैं यह कहूँगा कि पन्तजी, वस्तुतः, बुद्धि प्राण नहीं हैं, बौद्धिक नहीं हैं। इससे उन्हें लाभ भी हुआ है, हानि भी। इससे एक ओर यह हानि हुई है कि उनकी दृष्टि विश्लेषणप्रधान होकर भावभूमि में विचरण नहीं करती। भावों का जितना सूक्ष्म विश्लेषण प्रसाद में पाया जाता है, पन्त में नहीं। प्रसादजी की वह क्षमता निःसन्देह महत्वपूर्ण है। किन्तु दूसरी ओर, पन्तजी को यह लाभ भी हुआ कि वे वास्तव के आग्रह को तर्कों द्वारा झुठला नहीं सकते! सत्य और अहिंसा के नाम पर फूलने वाले वर्गीय स्वार्थों को वे अपनी आँखों से ओझल नहीं कर सकते। प्रसादजी **कामायनी** में मनु के अन्याय और अत्याचार से पीड़ित जनता के मुँह से ऐसे शब्द कहलवाते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि जनता की माँगों के सम्बन्ध में प्रसादजी के क्या ख़्याल थे। प्रसादजी की सहानुभूति

शोषितों के पक्ष में बहुत कम थी। यद्यपि उन्हें शोषण को बुरा तो कहना ही पड़ता था, फिर भी शोषितों के पक्ष में उनकी सहानुभूति इतनी गहरी न थी कि वे उनके जीवन का भी चित्रण करें, अथवा भावुक होकर उनकी दीन-दरिद्रावस्था पर प्रकाश डालें। इसके स्थान पर, वे तो यह कहते थे :

श्रम-भाग वर्ग बन गया जिन्हें
अपने बल का है गर्व उन्हें।

प्रसादजी दार्शनिक थे। उनकी दार्शनिक ज्ञान-व्यवस्था ही ऐसी थी जो वर्तमान सभ्यता-स्थिति की विषमताएँ कम करने का उपाय तो बताती थी, किन्तु आमूल क्रान्तिकारी परिवर्तन का ध्येय नहीं रख सकती थी। यह ठीक है कि प्रसादजी की मृत्यु बहुत पहले हुई। किन्तु यह भी सही है कि उनके जमाने में रूसी क्रान्ति हो चुकी थी, भारतीय साहित्यिक क्षेत्रों में टॉलस्टॉय का प्रभाव था, प्रेमचन्द मौजूद थे, राष्ट्रीय क्षेत्र में वामपन्थी समाजवादी विचार-धारा चल चुकी थी, कामगारों के संघर्ष वृहत्तर हो उठे थे, रवीन्द्र की कविताओं में कृषक-श्रमिकों के प्रति सहानुभूति व्यक्त हो चुकी थी। किन्तु मेरा अपना ख्याल है कि प्रसादजी की दार्शनिक ज्ञान-व्यवस्था इतनी दृढ़ और कठोर हो गयी थी कि वास्तव की ताज़ी संवेदनाओं, ताज़े भावों और प्रतिक्रियाओं में वह हस्तक्षेप करती थी। प्रसादजी की दृष्टि में, बाह्य वास्तव के तकाज़े से अपने भीतरी ज्ञान का तक़ाज़ा अधिक महत्वपूर्ण और निर्णयात्मक था।

इसके विपरीत, पन्तजी के भीतर की तत्व-व्यवस्था, बाह्य संवेदनाओं का सम्पादन-संशोधन न कर उन्हें उनके वास्तवितक रूप में सारी ताज़गी के साथ ग्रहण करती थी। वह उनके हृदय में विस्तार भरती चलती [थी]। हृदय के विस्तार का दूसरा नाम सहानुभूति है। पन्तजी में अद्‌भुत सहानुभूति-क्षमता है। जनगण के प्रति उनकी सहानुभूति बौद्धिक नहीं है, छिछली नहीं है, सतही नहीं है। वह बहुत गहरी है। उसी की यह शक्ति थी कि उसने पन्तजी को नये मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। पन्तजी की अपनी वर्ग-स्थिति तथा जीवन-यापन-पद्धति के फलस्वरूप, उनके और जनता के बीच में जो दूरी है वह उस सहानुभूति शैली में भी व्यक्त होती है। किन्तु उनकी सहानुभूति में निर्णय-क्षमता है, विवेक है, हार्दिक गुण है। उसी सहानुभूति के फलस्वरूप पन्तजी को वह दृष्टि मिली जिसे मैं ऐतिहासिक अनुभूति कहता हूँ। प्रसाद में, ऐतिहासिक नाटकों की रचना के बावजूद वह ऐतिहासिक अनुभूति नहीं थी। ऐतिहासिक अनुभूति बदलते हुए जगत् के विकास-क्रम तथा उसकी दिशा की अनुभूति है, जनता के पक्ष-समर्थन की अनुभूति है। पुस्तकों के अध्ययन के कारण पन्तजी में यह ऐतिहासिक अनुभूति उत्पन्न नहीं हुई; वरन् इस ऐतिहासिक

अनुभूति के कारण उन्होंने मार्क्सवाद के निकट रहना पसन्द किया। उनकी ऐतिहासिक अनुभूति उनकी सहानुभूति ही का विस्तार है, जो विश्व-घटनाओं के आकलन और मनन के फलस्वरूप और भी विशद हुई।

यह सहानुभूति तथा उसी का ही विशद विस्तार, अर्थात् ऐतिहासिक अनुभूति पन्तजी को जीवन के वैविध्यपूर्ण क्षेत्रों की ओर ले गयी। व्यापक जगत्-जीवन के विभिन्न प्रश्नों पर उन्हें मनन करना पड़ा। ऐसे प्रश्नों की ओर भी उनका ध्यान गया जो उनके अपने समाज-क्षेत्र में प्रचलित विचारधाराओं का अंग बन गये थे।

**ग्राम्या** में उनकी बहुत-सी कविताएँ वैचारिक थीं। परवर्ती विकास-दशा में ऐसी अनेक कविताएँ लिखी गयीं, जिन्हें हम वैचारिक कह सकते हैं। इनमें से कुछ में इस बात के दर्शन मिलते हैं कि पन्तजी अनेक दृष्टियों में से एक दृष्टि अपनाने के सिलसिले में, उन दृष्टियों में, वैचारिक धरातल पर, उलझ रहे हैं। रूपकों और अन्य कल्पना-चित्रों के प्रयोग के बावजूद, हमें यह कहना ही पड़ेगा कि काव्य में थीसिस लिखना अथवा थीसिस रूप में काव्य लिखना पन्तजी के बस की बात नहीं है। यह ठीक है कि रेडियो-रूपक के रूप में पात्रों द्वारा विचार प्रस्तुत किये जा सकते हैं। किन्तु प्रश्न है विचारों की काव्य-प्रभावोत्पादकता का ही। सच बात तो यह है कि पन्तजी में कवि स्वभावोचित चिन्तन है, जो वस्तुत: उस चिन्तन से पृथक् होता है, जिसे हम विश्लेषणमूलक बौद्धिक चिन्तन कहते हैं। पन्तजी के कवि-स्वभावोचित चिन्तन को हम भाव-दृष्टि ही कह सकते हैं।

जहाँ जिस क्षेत्र में, जीवनज्ञान मे युक्त भावना का प्रकाशपूर्ण आधार है, वहाँ विचारात्मकता प्रभावोत्पादक हो उठती है। उस परिस्थिति में, कि जब भावना का प्रत्यक्ष रसार्द्र आधार नहीं है, किन्तु सुस्पष्ट जीवन-तथ्यों के ठोस सन्दर्भ प्रधान और मूर्तिमान कर दिये गये हैं, वहाँ उन प्रभावोत्पादक सन्दर्भों से निष्कर्षित विचारात्मकता भी प्रभावोत्पादक हो जाती है। किन्तु जहाँ जीवन-तथ्यों के ठोस और प्रभावोत्पादक सन्दर्भों की मूर्तिमानता प्रत्यक्ष नहीं है, और जहाँ केवल वैचारिक ऊहापोह हो रहा है, वहाँ वैचारिकता काव्यरहित हो जायेगी। काव्य रूप में थीसिस लिखना बहुत बड़ी कला है। सन्त ज्ञानेश्वर की **ज्ञानेश्वरी** ऐसा ही एक थीसिस है, विस्तृत निबन्ध है। उसमें बौद्धिक दार्शनिक भाव विश्लेषित होकर बारीक-से-बारीक तत्त्वों में विघटित हो जाते हैं, और उन सूक्ष्म तत्त्वों को कल्पना के माध्यम से विशाल से विशालतर बनाया जाता है। आध्यात्मिक भावना से संयुक्त होकर वे रसोत्सर्जक हो उठते हैं। किन्तु इससे उनकी स्पष्टता और मूर्तिमानता फीकी नहीं पड़ती। बौद्धिक विश्लेषण-शक्ति भावनानुभूति से एकरस और एकरूप होकर जहाँ काम करती है,

वहाँ भावना की अथाह गम्भीरता के साथ-ही-साथ, विश्लेषित भाव, तथा **संश्लेषित भाव-दृश्य** सभी कुछ एक साथ प्राप्त होते हैं। संक्षेप में, पन्तजी में विचारात्मकता **अधिक है**, विश्लेषण-प्रधान दृष्टि (जिसे मैं बौद्धिकता कहता हूँ) बहुत कम। विचारात्मक भाव-दृश्यों के चित्रण के लिए, गहन गम्भीर जीवनानुभूति की सक्रिय सूक्ष्म आकलन-शक्ति और विश्लेषण-प्रधान बौद्धिकता चाहिए। विचार जब तक स्वानुभूति के अंगार में कुन्दनवत् न चमकें, तब तक उनमें वह शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती, जिसके बिना वे न केवल श्रीहीन हो जाते हैं वरन् पंगु भी।

कविता विचारात्मक भी हुआ करती है, पन्तजी ने स्वयं इसके उत्कृष्ट प्रभावोत्पादक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उस विचारात्मकता में जीवन-मर्म झलक उठते हैं। विचार **नहीं**, वरन वे जीवन-मर्म कवि की भाव-दृष्टि के रूप में अवतरित होते हैं। **चिदम्बरा** में से ऐसे दसियों उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनमें काव्य-प्रभावशाली विचारात्मकता है। उदाहरणतः, 'मृत्युंजय' नामक कविता' लीजिए। 'ईश्वर को मरने दो, हे, वह फिर जी उठेगा, ईश्वर को मरने दो।' इस कविता में जो विचारात्मकता है वह, वस्तुतः, एक भाव-दृष्टि की विचारात्मकता है। विचार स्वयं एक अनुभूति बनकर एक समष्टिचित्र प्रस्तुत कर रहा है। उस कविता में एक वैचारिक कल्पना है, जिसके भीतर एक भाव-दृष्टि झलकती है। सच तो यह है कि जहाँ-जहाँ भी पन्तजी ने सहानुभूति के क्षेत्र का विस्तार किया है, वहाँ-वहाँ उनकी वैचारिकता भी काव्य-गुण-सम्पन्न हो उठी है। पन्तजी की सहानुभूति का जिस क्षेत्र में सहज विस्तार है, उस क्षेत्र में पाये जानेवाले विचारों को पन्तजी चमकीले मूल्यवान मणियों की भाँति एकत्र कर लेते हैं। वे विचार उनके लिए कान्तिमान रंग-बिरंगे मनोहर मणि हैं, जिनमें से जीवन की नव-नवोन्मेषमयी किरणें विकीरित हो रही हैं। जो काव्य जहाँ कहीं गद्यात्मक प्रतीत होता है, वहाँ-वहाँ प्रकट होनेवाले विचारों में जीवन का ऐसा प्रचण्ड सन्दर्भ है कि वह सन्दर्भ ही दृश्यमान होकर उन विचारों में एक चमक भर देता है। किन्तु इस विचारात्मकता के बावजूद, पन्तजी में वह गहन बौद्धिक विश्लेषण प्रधान प्रवृत्ति नहीं है, जो अनुभूति के साथ एकप्राण एकरस होकर काव्य-दृश्यों के चमत्कार उपस्थित करती हो। संक्षेप में, पन्तजी की विचारात्मकता खतरे से खाली नहीं है।

यह कहना ही पड़ेगा कि बहुत-सी, विशेषकर प्रदीर्घ, कविताओं में जो विचारात्मकता है, उसने काव्य-सौन्दर्य पर आघात किया है। ख़ास तौर से उन कविताओं के साथ यह हुआ है, जिनमें पन्तजी किसी-न-किसी तरह ऊहापोह करने बैठ जाते हैं। पिछली बार, पन्तजी ने अपना काव्य-मार्ग बदला और नया टेकनीक अपनाया। जहाँ-जहाँ उनकी सहानुभूति

उन्हें ले गयी, उनकी गद्यात्मकता चमक उठी, छन्द नाचने लगे, भाव गूजँ उठे, और विचार जगमगाने लगे। उनमें नयी ताज़गी आ गयी। जहाँ उन्होंने पुरानी गूँजे दुहराना शुरू किया, वहाँ अंगार बुझने लगे, शिल्प में झोल पड़ गया, भाषा सुन्दर और जालीदार तो हुई, किन्तु बासी भी हो गयी। उपमाएँ, रूपक और प्रतीक-विधान, चमकीले मणियों कीं भाँति होकर रह गये। काव्य की घड़ी टल गयी, मुहूर्त निकल गया, किन्तु काव्य चलता रहा, यूँही, यूँही।

साहित्य-विशेषज्ञों की प्रतिष्ठित भद्र श्रेणी से पृथक, साहित्य-मर्मज्ञ पाठकों का दल भी हुआ करता है, जो काव्य का रस प्राप्त करने के लिए साहित्य-विशेषज्ञों की राय पूछने नहीं जाता, न कवि महोदय ही से राय पूछता है। ऐसा साहित्य-मर्मज्ञ वर्ग हिन्दी में बढ़ता जा रहा है। यह वर्ग साहित्य के भीतर से न केवल रस खींचना चाहता है, वरन् विवेक दीप्ति भी। मेरा ऐसा ख्याल है कि पन्तजी का काव्य जीवन-विवेक प्रदीप्त करता है। उससे हम सीख ले सकते हैं, कुछ प्राप्त कर सकते हैं-रस के अतिरिक्त, रस से कुछ अधिक ठोस और स्पष्ट। संक्षेप में, पन्तजी हमें दृष्टि प्रदान करते हैं। उनके काव्य में संयत भाव, प्रबुद्ध प्रेरणा और ज्वलन्त ऐतिहासिक अनुभूति है। इसके अतिरिक्त, कुछ ऐसी जीवन-समस्याएँ उन्होंने उठायी हैं जो हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हैं। पन्तजी का काव्य हमारे जीवन को समृद्ध बनाता है। क्यों बनाता है?

इसलिए कि उसमें न केवल ऐतिहासिक जागरूकता है, वरन् सामान्य मानव तक उठने की ऐसी क्षमता है कि जिस क्षमता में मानवी सुगन्ध है-व्यक्ति की नहीं, मनुष्य की। यह मनुष्य व्यक्ति नहीं है, व्यक्ति का सामान्यीकरण भी नहीं है, सम्नष्टि भी नहीं है। यह मनुष्य है साक्षात् जनगण, जो इस पृथ्वी पर सब क्षेत्रों में साहस और पराक्रम कर रहे हैं। जहाँ पन्तजी इस जनगण से एकीभूत होकर भावना-स्तर पर बात करने लगते हैं, तब जिस प्रकृति-सौन्दर्य का वे चित्रण करते हैं उस सौन्दर्य में भी जन-जन के मुख झलकने लगते हैं। पन्तजी मानवतावादी नहीं। मानवतावाद एक अरूपवाद है, एक ऐब्सट्रैक्शन है। पन्तजी मनुष्यवादी हैं, जनवादी हैं। उनका काव्य इस नयी भावना से उद्दीप्त हो उठा है।

ध्यान रखिए कि छायावाद के कवि-चतुष्ट्य में से, प्रसादजी समाज और सभ्यता की व्याख्या करते हुए अरूप आध्यात्मिक सामरस्यवाद की ओर निकल गये, संसारातीत रहस्यवाद की आनन्दमयी भूमि में विचरण करने लगे। महादेवीजी समाज और सभ्यता के प्रश्नों के चक्कर में ही नहीं पड़ीं, काव्य द्वारा। केवल निरालाजी संघर्षानुभवों द्वारा आज की जनस्थिति की ओर उन्मुख हुए। एक पन्तजी ही हैं (निरालाजी के अतिरिक्त) जो अपनी विशुद्ध ऐतिहासिक अनुभूति के फलस्वरूप जनता के साथ हैं। आज जबकि नयी प्रयोगवादी कविता के कुछ क्षेत्रों में 'जनवाद' शब्द काव्याभिरुचि के बाहर समझा जाता है, पन्तजी

दृढ़ता, धैर्य और साहस के साथ नये मार्ग पर अपने क़दम बढ़ा रहे हैं। मेरा अपना यह खयाल है कि पन्तजी को बहुत कुछ कहना और लिखना बाक़ी है। उनकी विकास-धारा अभी रुकी नहीं है। वह सतत प्रगतिमान है। ऐसी स्थिति में, मुझे कोई आश्चर्य नहीं होगा यदि वे अनवरत रूप से और-और लिखते चले जायें। क्योंकि यह सही है कि युग की पुकार उनके लिए अपनी आत्मा की ही पुकार है। वे हम प्रयोगवादियों से अधिक दूर तक देखते हैं। वे भविष्य के स्वप्नद्रष्टा हैं, इसलिए कि, वस्तुत:, पन्तजी तरुण हैं, अपनी आयु के बावजूद। उसका तारुण्य, नि:सन्देह, उन्हें नये मार्गों पर ले जायेगा, और आज वे जहाँ, वस्तुत:, द्वैत या द्विपक्षत्व देखते हैं, जहाँ वे द्विधा-पथ देखते हैं, वहाँ वे कल चलकर केवल एक पथ का ही अनुसरण करेंगे। और वह पथ मात्र जन-मार्ग होगा, इसमें सन्देह ही क्या है। आज का युग चमत्कारपूर्ण युग है, वह भव्य है, प्रेरणाप्रद भी। उसकी शक्ति और चमत्कार की विद्युत्-धाराओं से ऐतिहासिक अनुभूति वाले पन्त-जैसे कवि बच ही नहीं सकते, यह सन्देह के परे है।

(कृति, जुलाई 1960, में प्रकाशित। **नयी कविता का आत्मसंघर्ष** में संकलित)

# 7. नग्न कुमारिता वाले झीने आवरण : महादेवी की नारी-रहस्यवत्ता

डॉ० रमेश कुंतल मेघ

'भारतीय नारीत्व (वुमेनहुड) की जैविक, सांस्कृतिक और मनोकामुक भूमिका के लिए किसी ऐसे आर्केटाइपल बिम्ब की आविर्भावना कैसी हो ताकि हम आज के संदर्भ में कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा की 'नारी-रहस्यमयता', (फीमेल मिस्टीक) को भी किसी तरह से पहचान सकें?[1]

(I)

एक समांतर मिथक ऋषि अत्रि की पत्नी, अपार सुन्दरी और गुणशीला अनसूया का है जिसका संरचनात्मक विश्लेषण शायद हमारी कुछ बातों को खोल दे।

एक ईर्ष्याविहीन (अनसूया) और निश्छल (टैबू तथा ग्रंथि से विमुक्त) नारी-मूर्ति के प्रादर्श में ही नैतिकता और कामयता का सह-अस्तित्व है।

आर्ष मिथक के मुताबिक शिवकान्ता सती, विष्णुकांता लक्ष्मी और ब्रह्मा-पत्नी सरस्वती ईर्ष्या के कारण अपने देवपतियों से अनसूया के सतीत्व (उनसे विभिन्न प्रकार वाले नारी-शील) को भंग करने की प्रार्थना करती है। इसी के दूसरे आद्य मिथपाठान्तर के मुताबिक स्वयं पद्मयोनि ब्रह्मा (सृष्टि), पद्मनाभ विष्णु (स्थिति) और पद्मपाणि शिव (संहार) अनसूया की नारीशक्ति (सुरति) को परखने की इच्छा करते हैं। यहां ईर्ष्या से एक ज्यादा जटिल एवं विराट् फलक है अर्थात् इसमें सृष्टि-स्थिति-संहार के कारणों की खोज है। यहां एक प्रकार का क्षीण 'दोहरा विरोध' (बाइनरी अपोजीशन) परिलक्षित है। अत: दोनों ही बातें पूरी होती हैं अर्थात् देवकान्ताएं सतीत्व को भंग करा देती हैं तथा फलस्वरूप देवता भी संसृति-चक्र को समझ लेते हैं।

---

1. पार्वती (तपस्या), सीता (त्याग) और राधा (अनुराग) का अन्तर्लयन दिव्य आदर्श को सामने रख सकता है। सरस्वती, सती और लक्ष्मी की देवकान्ता-त्रयी भी अपूर्ण आध्यात्मिक चित्र बनाती है। मनोमिथकीय प्रादर्श (मॉडल) का दोहरा कर्म 'काम' की दो पत्नियाँ पूरा करती हैं-'रति' (शरीर से संबंधित अनुराग का भाव) तथा 'प्रीति' (हृदय संबंधित प्रेम का भाव)। यहाँ केवल यौनशील का हाशिया ही खुलता है। अनुसूया मिथक के बजाय अगर कोई दूसरी मिथकीय व्याख्या हो सके तो हमें कतई एतराज नहीं है; और इससे न ही हमारी अनुवर्ती स्थापनाएँ खारिज हो जायेंगीं।

नारी-शक्ति के रहस्य को समझने के लिए पहले-पहल वे निर्मल और निर्बंध नारी-शरीर को देखना-समझना तय करते हैं अर्थात् अनसूया को देखने के लिए वे तब पहुंचे जब वह भी आंगन (आन्तरिक (गृह) काया) में नंगी नहा रही थी। अब वे मनुष्य के मन की इच्छा और कर्मवाले 'दोहरे विरोध' के रूप में अर्थात् मुनिवेश (मनन रूप) में पहुंचते हैं।

एक पाठान्तर के अनुसार उन्होंने 'शिशुवत्' कौतूहल तथा कामुकता के कारण 'सूराखों' से देखा। उन्होंने भिक्षा (उर्वरक अन्न के दाने, विराज) लेने की शर्त यही रखी कि अनसूया नंगी ही दान देगी। संसृति-रहस्य का पहला द्वन्द्वन्याय यह खुलता है कि अनसूया द्वारा प्रतीकात्मक भिक्षा-दान की यथार्थता तो असल में उनसे (उसकी) भिक्षा-ग्रहण करने में है।

अत: अनसूया ने नारी-शक्ति के तेज से उन तीनों को 'शिशु' बना दिया ताकि वह (पाप-मुक्त और दोषहीन होकर) इन शिशुओं के सामने 'नंगी' होकर आ सके। छद्मवेशी देवताओं का कायाकल्प भोले शिशुओं में हो गया अर्थात् सृष्टि स्थिति और संहार के मूल आविर्भाव प्रकृत नारी शक्ति में, और 'पवित्र' तथा 'स्वच्छ' नारी-शरीर में ही, बारम्बार अभिव्यक्त होते हैं। शील-भंग करने वाले छलिया पुरूषरूपों की बाल्यकालीन मनोकामुकता भी खुल गयी: एक ईर्ष्याहीन शैशव के भोलेपन के कारण वे तीनों नन्हें बालकों में कायाकल्पित हो गये। नंगी अनसूया ने उन्हें उभरे 'स्तनों से दूध पिलाया' (भिक्षा?) और बालक गोद (गर्भ) में सुरक्षित (छिपकर) खेलने लगे। तो, यह रति की 'पवित्रता' और शरीर की 'स्वच्छता' के संदर्भों से जुड़ी हुई व्याख्या है।

एक समान्तर कथा-संस्करण के अनुसार भिक्षार्थी देवता गण स्वयं शिशु न बनकर अपने ही अंशों (वीर्य बीजों) का भिक्षा-दान करके अनसूया-गर्भ से चन्द्रमा (ब्रह्मा), दत्तात्रेय (विष्णु) तथा दुर्वासा (शिव) जैसे शिशुओं को जन्म दिलाते हैं। सृष्टि-स्थिति-संहार चक्र का रहस्योद्गम यही है अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु-शिव के विस्तारण में **सृष्टि** चन्द्रमा, ज्ञान और सत्वगुणपरक है; **स्थिति** सूर्य, इच्छा और रजोगुणपरक है; तथा **संहार** अग्नि, क्रिया और तमोगुणपरक है। ये सब गर्भस्थ होकर नाना आरम्भिक एवं द्वन्द्वहीन रूपों से उन्मीलित होते हैं। ये नारी-शक्ति द्वारा पुन:-पुन: नये होते हैं और नारी-शरीर द्वारा नये-नये प्रतीकात्मक रूपों में जन्म लेते हैं। ये शिशुत्रय मातृरेखाक पक्ष में अपनी अस्मिता प्राप्त करते हैं। **फलत:** यहां मातृ नारी परवर्ती पत्नी की पवित्रतावाले संभोग-निषेध से विमुक्त है। यहां यौन पवित्रता और शारीरिक स्वच्छता का सवाल भी नहीं उठता क्योंकि **गंगा** (राजधर्म से स्वच्छ रखने के लिए) अनसूया के 'घर' के पार्श्व में ही प्रवाहित है।

**यही अनसूया की नारी-शक्ति (सतीत्व) और नारी-शरीर (सृजन) का अर्थात नारीत्व (फेमिनीनिटी) का रहस्य है। 'देव' प्रभु ही युवा प्रिय है। किशोर 'प्रिय' (पुरूष) ही शिशुवत है। शिशुवत प्रिय ही 'पुत्र' बन जाता है। यही रति और प्रीति जैसी युवाकान्ताओं का भी चिरन्तर रहस्य है। यही सेक्स का सम्पूर्ण अनुभव है।** अत्रि-पत्नी होकर भी अनसूया में तीनों किशोरों के वीर्यांशों से सन्तान प्राप्ति करने पर भी लौकिक सतीत्व-भंग का संस्कारी बोध नहीं है; शिशुमन किशोरों के सम्मुख नग्न हो जाने में अलौकिक पाप की भावना नही है; और न ही पति के साथ विश्वासघात की अथवा तज्जन्य पाप या अपराध की कोई-कुण्ठा है। यह अनसूया आदिम और अनन्तर और अकुंठ भारतीय नारीत्व का आर्केटाइप हो सकती है जो अभिनव सतीत्व (पाप-भावना से तटस्थ) और महा सृजन (संस्कार से विमुक्त) का दोहरा संकल्प है। ऐसा 'नारीत्व' प्रेम (पति) और यौन (प्रेमी) को नैतिकता और नैसर्गिकता को, चेतन (अहं-आदर्श) और अवचेतन (रति-प्रतीक) को साफ़ ढंग से विभाजित कर देता है; तथापित उनका सामंजस्य भी करता है।

तो हमारी समकालीन शुरुआत देवप्रभु, किशोरप्रिय तथा प्रियशिशु (शैशव) के सामंजस्य से ही हो सकती है। यह एक संरचनात्मक 'पुलिन्दा' (स्ट्रक्चर्लिस्टिक बण्डल) भी है क्योंकि इसमें प्रभु/प्रिय, देव/मानव, किशोर/पुरूष, प्रिय/पुत्र, तथा शिशु/पुत्र के विरोधाभास (पैराडाक्सेज़) भी संकलित हैं और उनका अस्तित्व-वादी समाहार भी हुआ है।

अनसूया-मिथक के 'मिथक सारत्व' (माइथीम) में एक ओर देवता से लेकर मनुष्य तक की, तथा दूसरी ओर प्रभु, प्रिय, शिशु, पुत्र, किशोर तथा पुरूष तक की एकान्विति हो गयी है। इसमें सनातन नारी-शरीर और नारी-चिति (फीमेल साइके) की भी द्वन्द्वात्मक एकता कायम हुई है। एक-पतिव्रत (पत्नी) तथा बहु-प्रेमीव्रत (प्रिया) का यौन ध्रुवान्त अपनी आभ्यान्तर गोपनीयताओं को भी निरावृत कर डालता है।

एक बड़े लम्बे कालान्तर में "अमर भारतीय नारी" के छद्म में महादेवी ने भी सामन्तीय मूल्यों तथा संस्कारों का आदर्शीकरण किया। ऐतिहासिक दृष्टि से सामन्तीय सन्दर्भों में (काव्यशास्त्रीय तथा कामशास्त्रीय नायिका-भेदों को छोड़कर) 'नारी' के चिंतन, चेतना तथा चिति में बसे प्रभु और पति का शक्तिशाली आतंक व्याप्त हो गया; प्रिय और शिशु का सहज आह्लाद लुप्तप्राय होता गया। नारी-यौनता में शरीर अस्वच्छ तथा सुरती अपवित्र बन गई। 'कामातुरता-विहीन (अनइरोटिक) नारीत्व ही आदर्श हो गया। बहुपत्नी प्रथा, बाल-विवाह, बाल वैधव्य और वैधव्य जैसी संस्थाओं के कारण निर्मदता या निर्मादकता (फ्रिजिडिटी) को मर्यादा समझा गया। इस तरह आत्मसमर्पिता, पति-प्रभु सेविका,

आज्ञाकारिणी-अनुगामिनी (दासी), चरण-पुजारिणी, स्वामी-बन्दिनी जैसे सामन्तीय संस्कृति-चक्र ने उसे मात्र एक ऐसी "कर्त्तव्यपरायण नारी" बना कर अवनत कर दिया जिसके आत्म-विकास और सेक्स-परितृप्ति की लगभग कोई सम्भावना बाकी नही बची। अधिकांश मनोबन्दिनी नारियों के समूचे मनोविज्ञान में आज भी यही सामन्तीय संस्कार "भारतीय नारी की शाश्वत आत्मा" की मिथ्या चेतना बनकर पोर-पोर में रिसा हुआ है। वैवाहिक सम्बन्धों तक में नारी द्वारा यौन-अनुभव की स्वीकृति या प्रदर्शन 'अश्लील' माना गया। नारीत्व और पुरूषत्व के बीच के दाम्पत्येतर रिश्तों को अश्लीलता, अनैतिकता और अधार्मिकता की त्रयी में जकड़ दिया गया। इस तरह भारतीय नारी का आत्मपीड़न और आत्म-रहस्य शताब्दियों के संचित दमन तथा संत्रास के नाना उपरूपों में आदर्शीकृत हुआ: सेवा, समर्पण, दया, करूणा, विरह, वेदना, पीड़ा, साधना, सतीत्व, आदि में। इनका निर्धारण सांस्कृतिक और धार्मिक परिपाटियां करती चली आ रही हैं। उसके ऐसे समाजशास्त्र की वजह से उसका मनोविज्ञान तक वैसा बन गया। भारतीय नारीत्व की यह एक महत्तम त्रासदी है। इसे आध्यात्मिकता और रहस्यवाद के घने अंधेरे वाले अज्ञान पर्दो से ढांक दिया गया। अतएव प्रेमदीवानी मीरां और मस्ताने सूफियों (की प्रेम की पीर) के बाद/इलावा भारतीय नारी के 'मनोकामुक' (साइको-सेक्चुअल) विकास की समझ को तकरीबन नहीं गहराया गया।

श्रीमती महादेवी वर्मा ने व्यक्तिवादी तथा रोमांटिक दृष्टिकोण से अपनी अकेली नारी-त्रासदी और आधुनिक अभिशप्त नियति को भोगा। अपनी नारी-शक्ति तथा नारी-शरीर के द्वारा उन्होंने अपनी नारी के इतिहास को तथा नारी-सम्बन्धी सनातन (धर्मी) संस्कारों को **संवेगों** और **सौंदर्य** की धुरियों में आदर्शीकृत और अमूर्तीकृत किया। जब-जब वे तर्कशीलता और सामाजिक यथार्थता की चुनौती स्वीकार करके गद्यपन्थ अपनाती हैं तब-तब उनमें नारी-जातीय **विद्रोह** प्रकट होता है – अर्थात् बौद्धिक अक्ष में वे प्रौढ़ और आत्मोत्तीर्ण होती हैं, किन्तु जब वे अन्तर्मुखता और आत्मनिर्वासन की दशा में पद्यमार्ग में तन्मय होती हैं तब उनमें नारीजातीय **रहस्य** प्रकट होता है। यह अन्दाज लगाना कोई गलत नहीं होगा कि बौद्धिक अक्ष पर वे विकासमान और परिष्कृत हुई हैं किन्तु संवेगात्मक अक्ष पर वे बहुत दूर/देर तक शिशु जैसी, किशोरी जैसी, सुहागिन कुमारी जैसी उलझी साधिका जैसी दुखी छायामूर्ति बनी रहीं। महादेवी की चेतनता का यह अन्तर्विरोध है। कवि-महादेवी भारतीय नारीजातीयता (फेमिनीनिटी) के रूढ़ एवं सुविदित पैटर्नों का इस्तेमाल करने पर विवश हैं। उनके काव्य में 'पति-बिम्ब' लगभग नहीं हैं। उन्होंने स्वयं ही सम्पूर्ण दोषों को स्वीकार करके आत्म वेदना अंगीकार की है। उन्होंने पति-परमेश्वर अथवा विवाह-संस्था

की आधारभूत आलोचना भी नहीं की। विवाह के बाद की भीति (फोबिया) तथा 'विच्छेद' का प्रचंड मनोशारीरिक प्रभाव उन्हें आत्म-निर्भर तथा आत्म-गोपित की विपरीत द्रशाओं से अनुकूलित कर गया।

विवाह-पश्चात की भीति को प्रलय, झंझा, मेघ, अमा, विध्वंस आदि के घोर तिमिर सूचक भयानक बिम्बों द्वारा उभारकर वे 'करूणेश' और 'नाविक', अतिथि और देव आदि के माध्यम से 'पति' के विचार को ही 'देव' तथा 'प्रिय' के युगल भाव द्वारा प्रक्षेपित और प्रतिस्थापित करती हैं (नीरजा', 'सांध्यगीत')।

प्रभु और पति के युगल को अपनी चिति की लीला-भूमि से प्रतिस्थापित करके वे एक ऐसे "प्रिय'' (पुरूष) का निर्माण करती हैं जो उनकी मनोज्ञ नारी के आत्मविकास के अभावों एवं बाधाओं की, तथा यौन-विलास की अतृप्तियों एवं उलझनों की दिवास्वप्नमनोरथिक पूर्ति करे। इसके लिए वे "एक'' प्रिय के "वहु'' प्रिय (प्रेमी) मूलक सम्बन्धों की संज्ञाओं को मिटाकर, घुलाकर, छिपा कर, धुलाकर मानो अनजान, अपरिचित, अज्ञात सर्वनामों (तुम/वह/कौन/किस/उस/जो/जिसे आदि) में अमूर्तित और संघनित कर डालती हैं। उनके काव्य में यह भाषिक संरचना मनोभाषिकी के जरिए नारीत्व की रहस्यमयता को उन्मीलित करती है। इससे अभिव्यंजित अस्पष्टता का आश्चर्य एक आलम्बन (प्रिय) को अलौकिक बनाकर कविनारी को आध्यात्मिक रहस्यवाद के शिविर में भी सुरक्षित कर देता है। यदि कलियां और शूल, सीप और मोती, तीर और किरण आदि के अप्रस्तुत उनके लौकिक राग-अनुराग को संकेतित करते हैं तो शलभ और दीपक, क्षितिज और सूर्य, चन्द्र और दर्पण आदि के प्रतीक अथवा उपमान अक्सर धुँधलापन और अर्थभ्रांतियां फैलाते हैं।[1]

सम्पूर्ण कृतित्व में अतीत की 'सुधियों' और 'स्वप्नों' की अपार तथा प्रबल धारावाहिकता उनकी जीवनी तथा वेदनाजन्य अनुभूतियों को बेहद अवास्तविक अगोचर, अग्राह्य बना देती है। यदि इनकी कविताओं में नारी (मैं) के साथ दीपक और कमल, सुधियां और सपने, शूल और आंसू मिलने हैं तो चित्रों में रमणीमूर्तियों का दीपक और कमल, कांटों और हारों से कान्तसंयोग हुआ है।

---

1.....महादेवी के कुछ गीतों में विश्रृंखल बिम्ब मिलते हैं। .....इस विश्रृंखलता का एक कारण यह है, कि इनके बिम्ब नन्दतिक सूक्ष्मताओं के गोचर प्रत्यक्षीकरण से अधिक उन अतृप्त इच्छाओं का सम्मूर्तन प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें कवयित्री सरेआम प्रकट करना नहीं चाहती, फलस्वरूप अधीक्षक की भूमिका में रहने वाले 'सुपर ईगो' से प्रेरित अपहन्व के कारण इनके बिम्ब अपेक्षित साफगोई खो देते हैं।'' -कुमार विमल, "आधुनिक हिन्दी काव्य'' पृ० 80 अर्चना प्रकाशन, आरा, 1964।

इस तरह श्रीमती महादेवी वर्मा अपनी 'कुमारी नारी' को तो सती की तरह पवित्र और स्वच्छ (ओस तथा आंसू, स्वर्ण और रजत, तारे तथा दीपक) रखने का अभिमंत्र करती हैं तथा अपनी ही 'सुहागभरी प्रिया' को बाणों और किरणों से गुप्तवेधित, स्पर्शों और स्वप्नमिलनों से कंटकित, 'रज' के कण-कण से सनी-भरी और 'मधु' के अणु-अणु से गर्भित, स्नेह से भीगी और राग से भीनी कर डालती हैं। यह उनके विवाहोत्तर अनसूया-मन की पहेली तथा उलझन, अतृप्ति तथा प्यास, चाह तथा आग आदि के द्वित्व/द्वैत हैं। यह 'दिव्य' भी हैं; किन्तु प्रतीकात्मक रूपों के अन्तराल में लुके छिपे 'मानुषी' हैं। इतिहास-पूर्व की उस मिथक में अनसूया ने भी तो "त्रिदेव" के संग कुछ ऐसी ही मन की क्रीडाएं की थीं।

विवाहोत्तर अनुक्रम (1916-23) में कवयित्री की चिति में और भी कुछ गूढ़ घटा है जो "नीहार" (1924-28) तथा "रश्मि" (1918-31) से किंचित् अनुमानित हो सकता है। सन् 1907 में जन्मी और सन् 1916 में नौ वर्ष की उम्र में विवाहिता होने वाली इस बालिका का भारतीय नारी की दशा से जो नंगा साक्षात्कार हुआ वह 'अबला' तथा 'विधवा' शीर्षक किशोरी रचनाओं में अभिव्यक्त हुआ। सन् 1920 में जब पंत की "ग्रन्थि" छपी तभी तेरह साल की कली-जैसी मुग्धावस्था में इस महादेवी नामक किशोरी ने सौ छंदों में एक करूण खंडकाव्य लिखा। सन् 1924 में सत्रह वर्ष की उम्र में जब वह मैट्रिक पास करके एक "कालेज की लड़की" बनीं तो "नीहार" की रचनाएं लिखी जाने लगीं और उन्हें वह इक्कीस साल की उम्र तलक लिखती रहीं। "रश्मि" में एक कमलवत् पूर्णयुवती महादेवी की चौबीस साल की उम्र तक की (1928-31) कविताएं संकलित हैं जब, बीच में वह दो-तीन साल तक वैवाहिक विसंगतियों से जूझती हुई, बी०ए० तक पहुंच चुकी होंगी। इस तरह 'नीहार' से 'रश्मि' चरण तक सत्रह से चौबीस साल तक की इस संघर्षशील युवती कालेज छात्रा की सृजनात्मक और अनिर्वचनीय अनुभवों वाली कविताओं में शुद्ध वेदान्ती रहस्यवाद तथा उच्च दार्शनिक अध्यात्मवाद थोप देना जबर-जुलुम नहीं तो भला क्या है? बस, तब वह लड़की मैट्रिक के बाद, इण्टर और बी.ए. कर रही थी।[1]

---

1. इसी तरह की एक और बिडम्बना को केवल रामकुमार वर्मा ने समझा है-"किन्तु जब हम महादेवी के काव्य-सृजन की मूल प्रेरणा को सामने रखकर उनके काव्य विकास का विवेचन करते हैं, तब उनकी छिटपुट रूप में प्रकाशित-अप्रकाशित पूर्ववर्ती रचनाओं और परवर्ती सुनियोजित प्रकाशित रचनाओं के विकास क्रम को देखते हुए ऐसा प्रश्न उठता है, कि महादेवी के काव्य विकास और चिन्तन की दिशा में यह आकस्मिक परिवर्तन कहां से उत्पन्न हो गया और क्यों? महादेवी के काव्य-विकास और चिन्तन की दिशा में वह आकस्मिक परिवर्तन कहाँ से उत्पन्न हो क्या और क्यों? ..... महादेवी जो कि कविताओं की कोई सतह नहीं है एक तरह से उन्हें भुला दिया गया है। यदि उनका संग्रह कहीं होता है इस महान अन्तर के प्रारम्भिक सूत्र उनमें खोजे जा सकते थे। यह 'छायावादी अन्तर' उनमें सहसा किन मार्गों से आविर्भूत हुआ, यह एक मनोवैज्ञानिक समस्या है।"

अतएव यह ज्यादा न्यायसंगत लगता है कि उनके नारी जीवन की मनोकामुक, मनोसामाजिक तथा समाजसांस्कृतिक समस्याएं ही "नारीत्व की रहस्यमयता'' बनीं जिन्हें उनकी कवयित्री ने प्रतीकों और अप्रस्तुतों द्वारा अस्पष्टत:-अटपटी नयी संध्या भाषा में --अभिव्यंजित किया। नारी-रहस्यमयता तथा सामाजिक यथार्थता की विभ्रांति को प्रकट करने में गोपनीय अस्पष्टता के संयोग से ही "अलौकिकता'' की छायाएं तथा धुँधलके और अर्थभ्रांतियां झिलमिल होती गयीं। 'नीहार' सन् 1930 में छपी। तब तक "पल्लव'' (1927), "परिमल'' (1930) और "आंसू'' (1930) निकल चुके थे। तब महादेवी तेईस वर्ष की एक कालेज छात्रा थीं, पंत तीस वर्ष के थे, निराला की उम्र बत्तीसे पर चढ़ रही थी तथा प्रसाद इकतालीसवें साल में चल रहे थे। तो फिर "नीरजा'' से पहले और बाद के 'अंतर' में कौन सी मनोवैज्ञानिक समस्याएं हो सकती हैं? स्वयं कविदेवी तो मौन हैं।

इस चरण में उनके काव्य-संसार में देव/प्रिय, नाविक/अतिथि, चितेरे/गायक हैं; मां और अलि/सजनि भी हैं; बावली और भोली युवती/कवयित्री भी है; कलीमन तथा कमलहृदय भी है; तथा जलते छोटे दीपक तथा मुरझाते सुमन भी हैं। इस जमाने की एक दुर्लभ अति-शिक्षित उत्तरप्रदेशी युवती के रूप में वह अपने आत्म संघर्ष और आत्म-सार्थकता के 'पथ' खोज रही हैं। बचपन में घर के धार्मिक वातावरण के कारण मां वाले भक्ति के पावन तथा पुनीत संस्कार पडे। किशोरावस्था और युवावस्था तक पालन-पोषण एक सम्पन्न तथा सुसंस्कृत परिवार में हुआ। किशोरावस्था तक वे आधुनिक तथा पुरूषजातीय (मैसकुलिन) वेशभूषा भी धारण करती रहीं। इस तरह उनमें नारीजातीय हीनता की सर्वसामान्य ग्रन्थि वैसी नहीं पड़ी। वे बुद्धिजीवी पिता की दुलारी पुत्र जैसी सयानी तथा आत्मसम्मानी बेटी रही होंगी। इससे उनका नैतिक मन (सुपर ईगो) बेहद सजग हो गया। पिता और पितामह ने बालिकावस्था में ही उनका विवाह करके उनमें दमित यौन समस्याओं की आंधी और चिनगारी सदा के लिए रख दी। लम्बी यातना तथा वेदना की इस दशा में उनका 'ऐतिहासिक अतीत' सीधा और स्पष्ट नहीं रहा, बल्कि स्मृतियों और स्वप्नों में अस्पष्ट हो गया। अत: वे अपने सामाजिक तथा यौनपरक भविष्य (पंथ) को नहीं पहचान सकीं। न वे 'प्रिय' को पहचानीं और न ही 'पन्थ' को ही पा सकीं। सुसंस्कृत पिता और परिवार ने उनके एक "बौद्धिक नारी'' तथा "पवित्र युवती'' के रूप में विकास को प्रोत्साहित किया। अत: महादेवी में पच्चीस वर्ष के बाद से, अर्थात् 'नीरजा' और 'सांध्यगीत' के चरण में, अर्थात उन्तीस साल की उम्र तक आते-आते शीतल चुम्बन, हिमअधर आदि के संकेतक मिलने लगते हैं जो निर्मादकता (फ्रिजिडिटी) के स्पष्ट इशारे कहे जा सकते हैं।

कालेज की किशोरियाँ और युवतियां जब किसी संकट पर प्रतिक्रिया करती हैं तो बहुधा उनमें शमन और दमन और निराश्रित की प्रवृत्तियां उभरती हैं। वे अरक्षित जीवन से वापसी के तौर पर शरण के लिए शादी करा लेती हैं (दि० कार्ल बिन्जर का लेख: 'इमोशनल डिसटर्बेंसेज एमंग कालेज वुमन', "इमोशनल प्राब्लेम्स आफ दि स्टुडेन्टस", सं० ग्राहम बैलाइन, न्यूयार्क, डबलडे, 1961)। अतिशिक्षित नारी और बुद्धिजीवी युवती के स्वरूप में महादेवी आत्मनिर्भर होनेमें सक्षम थीं। सो, वे सन् 1934 में एम० ए० (संस्कृत) पास करने के बाद छब्बीस साल की उम्र में ही प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रिंसिपल बन गयीं। किन्तु वे अनसूया या अनुराधा की तरह परिपूर्ण या परितुष्ट नहीं हुईं। आत्म-निर्भरता को उन्होंने मुख्यत: आत्म-अभिव्यंजना के लिए अंगीकार किया। अत: विवाहोत्तर 'संघात' और 'भीति' ने उनमें प्रबल संवेगात्मक झंझा/प्रलय मचाये; आत्मयातना ने उनमें (वेदना, दुख और आंसू के रूपों में) "करूणा" को मूर्तिमान किया। इस तरह महादेवी वर्मा बाल विवाहिता होकर भी आजन्म कुंवारी जैसी रहीं और अपने लोक वैभव में स्वतन्त्र जीवनयापन करती हुई भी एकाकिनी, तपस्विनी, उन्मादिनी (हिस्टीरिकल जैसी), अभिमानिनी बनी रहीं। ऐसी दशा में उनके स्वभाव की आद्यंत 'अत्यन्त रहस्यमयता' (इलाचन्द्र जोशी के संस्मरण) भी अन्तर्निहित है। आर्थिक आत्मनिर्भरता और सामाजिक आत्मविश्वास के संयोग से उनमें स्वयं **अभिमान** ही आत्मरक्षा, आत्मरंजन और आत्मद्वार की भूमिकाएं अदा करने लगा (क्योंकि उन्होंने अपने बालविवाह को कभी स्वीकार नहीं किया)। तारूण्य-पूर्व की **आत्मरति** (नार्सिसिज्म) उनके सामाजिक जीवन और बौद्धिक पक्ष में यौवनावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक चलती रही। यह उनके 'विद्रोह' की भूमिका बनी। किन्तु अन्तर्मुखी संवेग-पक्ष तथा व्यक्तिगत जीवन में किशोरावस्था से उनमें **आत्मपीड़नरति** (मेसोशिज्म) परिव्याप्त होती गयी। यह उनकी 'वेदना' की महांत भूमिका बनी।

अब तक "प्रिय" और "पंथ" की दो महाधुरियों पर उनकी मनोसामाजिक जीवनी की पुनर्रचना हुई है जो उनकी नारीजातीय रहस्यमयता (मिस्टीक) के एक प्रमुख आयाम को आलेखित करती है।

(2)

हम महादेवी को समकालीन भारतीय नारी की दुविधा का एक प्रादर्श (मॉडल) मानते हैं। कवि और विदुषी श्रीमती महादेवी वर्मा के प्रति हमारे मन में न तो श्रद्धा का भाव है; और न ही असम्मान का। हमें उनकी **निज़ी ज़िन्दगी** मालूम नहीं है। हमें उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार भी नहीं है। हमारा सम्बन्ध तो उनके नारीजातीय व्यक्तित्व से है।

हम उनकी **सृजनात्मकता** तथा **रहस्यमयता** का विश्लेषण तथा उद्घाटन कर रहे हैं। अब हम (मनोकामुक अक्षांश के बाद) **मनोसामाजिक आयाम** को ले सकते हैं।

तब के उत्तर प्रदेश की पिछड़ी, सामंतीय तथा उपनिवेशवादी संस्कृति में कायस्थ जाति सर्वाधिक उदार, बुद्धिजीवी पेशा और श्रेष्ठ मध्यवर्गीय आत्मप्रदर्शनों वाली थी। हिन्दी-भाषी हिन्दुओं के सांस्कृतिक पैटर्न में अबला तथा भोग्या नारी महत्वहीन, व्यक्तित्वहीन तथा सामाजिकता-विहीन रही है। भारतेन्दु-युग में नारियां 'आंगन' से बाहर निकलकर सामाजिक-राजनैतिक-सास्कृतिक 'पंथ' में नहीं आयीं। उस समय में वेश्याओं और तवायफों से ही मुहब्बत और ऐश की पौरूषेय अनुमतिमूलकता (पर्मिसिवनेस) थी। द्विवेदी-युग में भी नारियों की विशेष भूमिका दृष्टिगोचर नहीं हुई। किन्तु स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गांधी के नारी-स्वतंत्रता के आरंभिक अभियानों का कर्मफल ऐनी बेसेंट, सिस्टर निवेदिता के बाद सरोजिनी नायडू, कमला नेहरू, तारूदत्त, अमृताशेरगिल, अमृता प्रीतम और महादेवी वर्मा के सांस्कृतिक वैचारिक प्रसुमन में मिला। संस्कृति के दीपों और नारी-व्यक्तित्व के कमलों की तरह-से ये नारियां अपनी आधुनिक 'अस्मिता' खोजती हैं और सांस्कृतिक आन्दोलनों में अपने पहले-पहल योगदान करती हैं। सन् 1920 के आस-पास श्रीमतियां महादेवी वर्मा (तेरह साल), तोरणदेवी शुक्ल 'लली' (चौबीस साल), और सुभद्राकुमारी चौहान (सोलह साल) का आगमन होता है। सन् 1930 तक ('नीहार' के छपने पर) तो रामेश्वरी देवी 'चकोरी' (सत्रह साल), विद्यावती 'कोकिल' (सोलह साल) और तारा पांडेय (सोलह साल) के अन्य नारी-कंठों के नये स्वर गूंज उठते हैं। इस तरह रोमांटिक आन्दोलन ने सचमुच "नारी" को मानवी के रूप में प्रतिष्ठित किया। उसे सखी और प्रिया, पूज्यदेवी और प्रेरणा-शक्ति के नये अंतर्बाह्य सामाजिक सम्बन्धों से जोड़ा। विद्रोही युवामन नयी चिति का उन्मेष कर रहा था, नये सामाजिक स्वप्न देख रहा था तथा नयी आत्माभिव्यंजनाओं के लिए व्याकुल था। यह एक बेहद नया मनोसामाजिक प्रस्थान था। नारी-चिति भी प्रेम और मुक्ति के दोनों पंखों को खोलकर उड़ने को हो गयी। यारब! सवाल फ्रायडीय 'शिश्न-असूया' (पेनिस-एन्वी) का नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना की सहवर्ती नारी की 'चरित्र-संरचना' के नवीकरण का था। अत: 'नारीजातीय रहस्यमयता' (फेमिनीन मिस्टीक) के उदात्तीकरण तथा उन्मीलन दोनों होते हैं। 'अमर भारतीय नारी' के सामंतीय आदर्श में गहरी दरार फटती है। अब 'समकालीन भारतीय नारी' के प्रेम और विवाह के **सवाल**, आत्म-सम्मान और आत्म-अभिव्यंजना के **पंथ**, जीवन और समाज में नयी **दिशाएं** आदि झिलमिलाती हैं।

मूलत: यह सब कुछ नारी द्वारा सांध्यगीतों वाले 'आंगन' के बन्धनों से छुटकारा पाकर,

सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक **'प्रिय'** तथा पंथ के बहुविध चुनावों के बीच की बाधाएं (शूल), अनिश्चयताएँ, असफलताएँ आदि पार करके, उसके द्वारा समाजानुकूलित हृदय के सत्य तथा अंतर्ज्ञान के आलोक का दोहरा स्वयंवर करने का चिरन्तन बोध और आधुनिक त्रासदी है। इस तरह नारीवृत में प्रिय और पंथ में प्रिय-पंथ का बहुवचनीय त्रिकोण बनता है, जिसका मध्यबिन्दु यह अभिनव नारीत्व है: सामंतीय संस्कारों और आधुनिक संघर्षों के बीच द्वन्द्वात्मक समन्वय के लिए जागरूक और आकुल! (अर्थात्) दीपशिखा और नीरजा!! श्रीमती महादेवी वर्मा में यह द्विधा और द्वन्द्व सबसे सूक्ष्म और सघन है। कारण, उन हिन्दी कवयित्रियों में से उन्हें ही सर्वाधिक सामाजिक पलायन तथा गुप्त अस्वीकृतियां करनी पड़ी हैं, शायद सबसे लम्बी आत्मयातना और सबसे गहरी आत्मवेदना भोगनी पड़ी है। फिर भी महादेवी की रचनाधर्मिता में लगभग इतनी अस्पष्टता, इतनी एकरसता, वैविध्यहीनता, बलात् वेदनावाद आदि क्यों परिव्याप्त होता गया?[1]

विनयमोहन शर्मा कहते हैं:

'महादेवी ने रहस्यवाद की साधनात्मक अनुभूति को स्पर्श किया है, यह संदिग्ध है।' लक्ष्मीनारायण सुधांशु मानते हैं कि उनका लोकोत्तर आलम्बन (प्रभु/देव) पाठक या श्रोता की भावभूमि से इतनी दूर पड़ जाता है कि वहाँ तक कल्पना किसी तरह कभी-कभी पहुंच भी जाती है : हृदय को पहुंचने में बड़ी कठिनता होती है। कृष्णशंकर शुक्ल के अनुसार उनके 'दुख का ठीक-ठीक विश्लेषण भी नहीं किया जा सकता।' प्रभाकर माचवे को लगता है कि उनमें 'आत्मार्पण और आत्मपीड़न अत्यधिक है यानी कहीं भी उन्होंने अपने को उभार कर नहीं रखा है। पर वैसे उन्होंने अपने सिवा और किसी के भावों की बात भी कहां की है?' शचीरानी गुर्टू ने कुछ समझाते हुए कहा कि उनके 'काव्य में विषण्ण वातावरण की सृष्टि हुई है। उनकी अस्पष्ट आकारहीन चाहनाएं आंतरिक विवशता का परिणाम है।' इसीलिए इलाचन्द्र जोशी ने स्वीकार किया: "इतना मैं जान गया हूं कि उनके स्वभाव की कुछ बातें अत्यन्त रहस्यमय हैं और यह रहस्यमयता अन्त तक उनके साथ लगी रहेगी।' उनके रहस्य और अनुभूति की गांठें खुलती चलती हैं। रेखा अवस्थी ज्यादा गहरा मर्म छूती हैं –"महादेवी अपने काव्य में यथार्थवाद को कहीं भी स्वीकार नहीं करतीं–बल्कि यथार्थ के विरूद्ध क्षयग्रस्त दुखवादी रूमानी दृष्टि और अरूप प्रियतम की

---

1."..... इसी प्रकार महादेवी का काव्य उपकरणों की दृष्टि से भी वैविध्यहीन है। भाव-भूमि की एकरसता के कारण इनके विनियोजित उपकरण मिलते-जुलते से हैं। ..... उदाहरणार्थ, "सांध्यगीत' और 'दीपशिखा' की पृष्ठभूमि अत्यन्त एकरस तथा धारांकित है। 'सांध्य-गीत' में सन्ध्या और 'दीपशिखा' में रात्रि के ही बहुविध आयामों को अंकित किया गया है। फलस्वरूप ..... वातावरण ही एक-सा नहीं मिलता। बल्कि दीपक और बादल जैसे उपकरण बार-बार चित्त में..... 'मोनोटनी' पैदा कर देते हैं।"

लालसा का रहस्यवाद प्रतिष्ठित करती हैं – अध्यात्मपरक दुखवाद।'' एक अछूते कारण को नन्ददुलारे वाजपेयी बताते हैं–'हिन्दी में महादेवीजी का प्रवेश छायावाद के पूर्ण ऐश्वर्यकाल में हुआ था किन्तु आरम्भ से ही उनकी रचनाएं छायावाद की मुख्य विशेषताओं से प्रायः कदम रिक्त थीं।' इनके रहस्यवाद पर आचार्य शुक्ल का अनुमान है कि 'वेदना को लेकर इन्होंने हृदय की ऐसी-ऐसी अनुभूतियां सामने रखी हैं जो लोकोत्तर हैं।' मतलब, कि वे इतनी वास्तविक नहीं हैं अर्थात् वे 'अनुभूतियों की रमणीय कल्पना' (विनय मोहन शर्मा) या 'प्राकृत अनुभूति को छोड़ कर परोक्ष अनुभूति' (नन्ददुलारे वाजपेयी) की भूमि की हैं।

बुनियादी नतीजे साफ हैं–महादेवी के हृदय की अनुभूतियां ठोस और नंगे यथार्थ के विरूद्ध हैं; लोकोत्तर प्रतीत होकर भी रहस्यवाद की साधनात्मक भूमि का स्पर्श नहीं करतीं; परोक्ष अनुभूति बनकर प्राकृत् अनुभूति से भी पृथक् हो जाती हैं। उनकी हृदय की अनुभूतियों में आत्मार्पण और आत्मपीड़न है, वे अत्यन्त अस्पष्ट और आकारहीन चाहनाओं की आंतरिक विवशता का परिणाम हैं; वे रहस्यवादी से ज्यादा रहस्यमय हैं। अत: उनकी धारा न तो छायावादी है, और न ही रहस्यवादी। क्यों?–पुनश्च।

पुनश्च। उत्तर भी साफ है:–इसलिए, कि वे यथार्थवाद को स्वीकार नहीं करतीं और यथार्थ के विरूद्ध हैं; इसलिए कि वे अपनी लौकिक और वास्तविक अनुभूतियों को भी –रहस्यमय नारीत्व और मनोप्रतिरोधकों के कारण–अलौकिक और भ्रान्त बना डालती हैं जिससे वे अस्पष्ट, आकारहीन और अस्वाभाविक बन जाती हैं; इसलिए कि वे चिर-एकाकिनी, चिर-मुक्त और चिर-रहस्यमय हैं; इसलिए, कि वे अत्यन्त स्वाभिमानिनी (अहं-आदर्श की पुजारिणी) तथा अरक्षित आत्मपीडानुगामिनी रही हैं। वास्तव में उनका रहस्यवाद उस समय की नवेली 'नारीजातीय रहस्यमयता' है जो सामाजिक रूढ़ियों, सामन्तीय संस्कारों तथा वैयक्तिक मनोग्रन्थियों का यथार्थ और प्राकृत उल्लघंन नहीं कर सकीं। इसमें उनके विवाहित शरीर तथा कुंवारी चेतनावाली **अनसूया-चिति** है जो देव और प्रभु, प्रभु और प्रिय, प्रिय और पुत्र (शिशु) के एकान्वित चिरन्तन पुरूषबिम्ब की पूरक है। यह उस नारी का छटपटाता हुआ **अर्द्ध-नारीश्वरत्व** है जो उसके मानुषी प्रिय को दिव्य प्रियतम के छद्म में प्रदर्शित करता है।

अपने समकालीनों के बीच अकेले महादेवी को ही इतना विपथन क्रियान्वित करना पड़ा। उनकी सहेली श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान माता और पत्नी के रूप में लगभग सहज और सन्तुष्ट रहीं। उनके जीवन का क्रम घर और जेल के बीच चलता रहा। इनका भी विवाह तभी हो गया था जब ये आठवीं कक्षा में पढ़ती थीं लेकिन इनके आत्मोद्धार का पन्थ

राजनीतिक संघर्ष का था। अत: 'वेदना' के बजाय वे राजनीतिक-पारिवारिक **विद्रोह** के आह्लाद में मुक्ति पाती हैं (**'मैने हंसना सीखा है/मैं नहीं जानती रोना'**)। उनसे बड़ी श्रीमती सरोजिनी नायडू भी राजनीतिक राष्ट्र-संघर्षों के मध्य गीतों के परचम फहराती रहीं। उन्होंने भी भारतीय जीवन के यथार्थ चित्रों और लोक-अनुभवों को रोमांटिक दृष्टिकोणों से पेश किया किन्तु विषय हैं : चूड़ी बेचनेवाली, कारोमंडल तट के मछुआरे, राधा का गीत, शाम की नमाज, वृन्दावन का वंशीवाला, काली माई, कमल, वसन्त पंचमी, गोलकुंडा के मकबरे, मेहँदी, वधूपालकी के कहार, आदि। उनकी समकालीन चित्रकत्री अमृताशेरगिल (1913-1941) भी रोमांटिक सौन्दर्यबोध में मूर्त भारतीयता का ही परिपाक करती हैं। उनके चित्रों में अजंता, और कांगड़ा शैलियों, पॉल गॉगिन और सेजां की विधियों, तथा मुगल और राजपूत कालमों की रंग-योजनाओं का मेल है। उनकी रचनाधर्मिता में भारत (पूर्व) और यूरोप (पश्चिम) का सांस्कृतिक अन्तर्द्वद्व तीव्र है तथापि वे भारतीय ग्रामीणों और भारतीय 'लोक' की आत्मा को पहचान लेती हैं। तीन लड़कियां, पहाडनें, पहाड़ी लोग, हरे तालाब में हाथी झुण्ड, फलवाला, भिखारी, वधूस्नान, दक्षिण भारत के ब्रह्मचारी, आदि उनके चित्र हैं। उनकी कई **निर्वसन** आत्म-छायाकृतियाँ तो उनके नारी-शरीर तथा नारी-आत्मा को स्वच्छ और सहज और सुन्दर बना डालती हैं। पंजाबी कवयित्री अमृता प्रीतम (1919) भी एक तो इश्क के रोमांटिक रूझानों में फंसी है और दूसरे मांसल प्यार में बिरहा की पीर का बार-बार जिक्र करती हैं। वह कम-से-कम ज़ागीरदारानां पुरूष-प्रधान समाज की उस विवर्जना को चकनाचूर कर देती हैं जो प्यार और सुरति को पाप मानती है। मध्यकालीन दृष्टि में निर्बल नारी का हठात् विरह-रोदन ही ज्यादा पवित्र तथा उचित रहा था। आज भी अमृता प्रीतम ने मुहब्बत में असफलता का शिकवा करके नव्य रोमांटिकता का ही इजहार किया है किन्तु काम तथा प्यार में सामाजिक अन्यायों का नंगा प्रकाशन उसे अभी तक भी चिरंतन युवती और प्रिया बनाये रखता है।

फिलहाल कम-से-कम यह कहा जा सकता है कि हमारे जिस साम्राज्य-विरोधी तथा सामन्तवाद-विरोधी सामाजिक जागरण में, और वैयक्तिक अनुभूति तथा रोमांटिक आदर्श वाले जिस सांस्कृतिक वातावरण में स्वच्छन्दतावादी (छायावादी) कविता का विकास हुआ, उसमें इन सभी कवयित्रियों ने सामन्तीय समाज के बन्धनों तथा मध्यकालीन संस्कारों से ग्रस्त भारतीय नारी की पीड़ा तथा मुक्तिकामना की अपने-अपने ढंग से अभिव्यंजनाएं कीं। इन्होंने भारतीय लोक-जीवन के प्रत्यक्ष यथार्थ में, राष्ट्रीय जागरण के असन्तोष में अपनी-अपनी अस्मिताएं ढूंढी। ये ससीम और ज्ञात की चाह को, नारी-हृदय की पीड़ा और नारी-मन की प्यास को भी साफगोई से उद्घाटित करती रहीं।

लेकिन ऐसे वातावरण और जागरण के बीच भी महादेवी वर्मा सामाजिक यथार्थ और प्रत्यक्ष लौकिक अनुभवों के पूर्णत: विरूद्ध हो जाती हैं। यथार्थवाद की अस्वीकृति के कारण ही उनकी 'रहस्य-चेतना' रहस्यवाद के असीम और अज्ञात अभिव्यंजना-पन्थों में चलकर अलौकिक एवं आध्यात्मिक मिथ्याभासों में उलझ गयी। उन्होंने भारतीय लोक-जीवन तथा खुले सामाजिक विद्रोह में अपनी अस्मिता नहीं ढूंढी; बल्कि तम के पर्दों और सघन घनों की छाया में, क्षयग्रस्त रोमांटिक दृष्टि (साधना) के घेरे में, असीम और अज्ञात और अरूप प्रियतम (चाहों-स्वप्नों-इच्छाओं) का रहस्यवाद (इदं की दमित लालसा का उदात्तीकरण) प्रचारित करती रहीं। इससे उनका सम्पूर्ण रचनाक्रम अविश्वसनीय, अस्वाभाविक, अप्रासंगिक तथा अन्ततोगत्वा अमूर्त-असार्थक-सा सिद्ध होने लगा। न तो उनका 'छायावाद' स्वाभाविक-स्वच्छन्द बन सका और न ही एक 'रहस्यवाद'। 'सांध्यगीत' (1936) के बाद छह वर्षों के अन्तराल में राष्ट्रीय जीवन में जन-आन्दोलनों का महाभियान शुरू होता है, क्षयी आभिजात दृष्टियां निरर्थक होने लगती हैं और प्रगतिवाद के गर्जन-तर्जन फैलने लगते हैं। सन् 1942 में निराला 'कुकुरमुत्ता' लिखते हैं तो महादेवी 'दीपशिखा'! वे रचनात्मक विविधता तथा अभिव्यंजनात्मक प्रासंगिकता के अक्षों में आत्मविकास करने में पूर्णत: अक्षम हो जाती हैं। अत: लिखना ही बन्द कर देती हैं। दीप और शलभ के उपमान उनकी ही सृजनात्मक तथा मनोवैज्ञानिक 'मृत्यु' की परिणति हो जाते हैं।

'पन्थ' उनके लिए संसार का प्रतिनिधि बना रहा है। इसके संसर्ग से वे **आत्म-निर्वासित** भी हैं, **अभिशप्त** भी हैं, **अजनबी** भी हैं और **अपरिचित** (अनजान) भी हैं। 'नीरजा' (1934), 'सांध्यगीत' (1936) तथा 'दीपशिखा' (1942) – अर्थात् चौबीस साल की पूर्ण युवावस्था से लेकर पैंतीस साल की प्रौढ़ वय तक–में ये आधुनिकताबोध वाले शब्दबन्ध छायावादी-रहस्यवादी अर्थ मीमांसाओं से बाहर आकर देखने लगते हैं। किन्तु इन्हें आधुनिक और सामाजिक हाशिये नहीं मिलते। अतएव ये पुन: वैयक्तिक **वेदना** की आत्ममैत्री के तथा महा **करूणा** की दार्शनिकता के 'रजिस्टर' में अंकित हो जाते हैं। ये पारिभाषिक आद्य **बिम्बों** की सुधियों तथा स्वप्नों में वापस लौट जाते हैं तथा अतिरिक्त काम की अतृप्तियों का बहुरूपिया रूपान्तरण करने लगते हैं। **संघर्षों और यथार्थों वाले संसार** (पंथ) से अपरिचित बने रहकर महादेवी दुख और आंसू की अनुभूतियों तथा अतिरंजनाओं में अभ्यस्त **महज** एक 'रीतिशैलीवाद' (मैनरिज्म) ही विकसित कर पाती हैं। इस तरह **उनके स्वप्नों और सुधियों वाले अतीत-संसार** में वेदना, करूणा और आंसू का अमर लोक बस जाता है। वे अपने जीवन तथा सृजन के भविष्य की दिशाओं की फ़िक्र नहीं करतीं।

उनके बाहरी संसार में बाह्य घटनाओं की पूर्णरूपेण अनुपस्थिति, तथा उनके अंदरूनी

संसार में समुचित अन्तर्मुखी प्रतिबोधों की अनुपस्थिति ने मिलकर 'घटनाविहीनता के मानसिक आघात' (ट्रौमा आफ इविन्टलेसनस)[1] को 'चिर' (स्थायी) बना दिया है। वे अपने ऐतिहासिक अतीत (कथा, कहानी, बात, इतिहास) को संवारने में अपने सम्पूर्ण वर्तमान तथा भविष्य के सृजनात्मक और सामाजिक जीवन को 'उसी अतीत का सातत्य बना डालती हैं। सपनों और सुधियों की, आंसू और दुख की बहुधर्मा कैटेगरियां इसी तथ्य की प्रतिपादक हैं। अत: महादेवी में अतीत के मानसिक आघात (ट्रौमा) की मानो वर्तमान और भविष्य में (अनवरत, असीम, अज्ञात, अनन्त-) पुनरावृत्तियां पाते हैं–सूक्ष्म और अमूर्त। वे अपने वैयक्तिक ऐतिहासिक अतीत का न तो अतिक्रमण कर सकीं, न ही उसका अस्वीकार, और न ही उससे प्रस्थान; बल्कि उसका त्रिमूर्त आदर्शीकरण, आध्यात्मिकीकरण और सौन्दर्यात्मिकीकरण करती रहीं। यह उनकी रहस्य (परक, वादी, मूलक, मय)-भावना का एक प्रधान मनोसामाजिक प्रादर्श (मॉडल) है।

अपने भविष्य और बहिर्गत संसार से अज्ञात और अनजान बने रहने/हो जाने की त्रासदी उन (के सभी 'पन्थों' अथवा अन्तर्मुखी नारीत्व) को बहुधा 'आंगन' की सीमाओं में ही बन्दिनी और विरहिणी, अनुगामिनी और अनुरागिनी बना देती है। वे 'आंगन' (सुरक्षात्मक प्रतिरोधक) में ही शूल बिछातीं तथा दीप जलाती हैं, सपने और सुधियां सजाती हैं। 'आंगन' (बाल्यकालीन प्रतिगमन) के छोटे-से आकाश से ही वे तारे गिनती हैं, शशि के दर्पण तथा मेघों को देखती हैं, आंसू बहाती हैं तथा पथ देखकर रैन बिताती हैं। इसलिए 'आंगन' का महाप्रतीक पिंजर और महान्त मनोकारा उनके काव्य में **प्रकृति** की अज्ञानता तथा भाव-**उपकरणों** की वैविध्यहीनता को उजागर कर देती है। यद्यपि इनके अधिकांश बिम्ब प्रकृति से अँजकर और रँजकर आये हैं लेकिन उनमें तेजी से खुलती हुई फिल्म की रील के जैसे खंड-खंड चित्र हैं। इससे चमत्कार तो होता है किन्तु तन्मयता और रमणीयता का केंद्रीभवन नहीं हो पाता। ये प्रकृति-सौंन्दर्य पर आरोपित चेतन खंड-खंड चित्र-बिम्ब विश्रृंखलित हो गये हैं तथा रूपक, उपमा या अपन्हुति के साधन बन गये हैं। अत: इनमें सूक्ष्म निरीक्षण कम हैं; सम्पूर्ण सौन्दर्य-बिम्ब (कुछ सांगरूपकों को छोड़कर) उससे भी कम हैं। बहुधा एक ही गीत में या तो ऋतु-अनुक्रम के चित्र हैं अथवा कई ऋतुओं के चित्रों का गड़बड़-झाला हो गया है। प्रकृति की राग और रंग से भरपूर अनुभूति नहीं है। बहुधा अमूर्त वस्तुओं तथा घटनाओं (फूल, संध्या, वृक्ष, चन्द्र, तूफान, सिन्धु) की अलंकाराधायक परिगणना हो गयी है। ऐसे आंगन-केन्द्रित अनुभव संसार ने उनमें रहस्यमय 'बाह्याभीति' (एगोराफोबिया) अवस्थित कर दी है। इसलिए विराट् उन्मुक्त प्रकृति-व्यापार और यथार्थ

---

1 दे० राबर्ट साइडेनबर्ग का लेख, "साइकोएनालिसिस एंड वुमेन", लन्दन पैलिक ने 1974, पृ० 350, (सं० जीन बेकर मिलर)

जटिल सामाजिक जीवन के दोहरे देशान्तर भी धुंधले हो गये। उनका स्वमुग्ध अनसूया-मन और तन अपने गोपन-आंगन में मोतियों (आसुओं) और हीरों (तारों) से, सुधियों और सपनों से,'रज' और 'अणु' से नहाता रहता है। उनके ऐसे सम्पूर्ण काव्य के आद्यक बिम्ब **दीपक** और **आंसू** बन गये हैं।

(3)

कवि महादेवी की 'चिति' (साइके) को 'चेतना' (कांशसनेस), और 'सचेतनता (कांशियेंस) में पल्लवित-पुष्पित करने वाले शक्तिबिन्दु तथा सौंदर्यबीज कई रहे हैं।

उनकी लिखावट में अक्षर (तिरछे उत्तर पश्चिम से दक्षिण पूर्व की ओर) हैं जो विपंथनवाले दृष्टिपथ तथा दूरदर्शिता के द्योतक हैं। अक्षर छोटे-छोटे तथा सधे-सजे हैं। ऊपर इकारान्त-ईकारान्त मात्राएँ घेरे डालती हैं तथा ओकारान्त-एकारान्त मात्राएं नुकीले तीर-से फेंकती हैं। पंक्तियां ठीक सीधी रेखा में हैं (बाहरी सतर्कता और संतुलन वाली) किन्तु शब्दों की ललाट-पाईयां किले की परकोटे-सी नुकीली हैं मानो भालों की कतारें हों। यहां लिपिविज्ञान उनकी चिंतन-प्रणाली पर उंगली रखता है।

उनके चित्रों के जरिये भी कुछ दिशाएं खुलती हैं। 'दीपशिखा' के चित्र एक ही रंग में बने हैं और 'उनमें भाव-अंकन का आयास भी अधिक हुआ है। चित्र-कत्री 'बहुत थोड़े' और 'विशेषत: नीले, सफेद से ही काम चला लेती' हैं। 'जहां कई को मिलाना **आवश्यक** होता है वहां ऐसे मिलाना **अच्छा** लगता है कि किसी की स्वतन्त्र सत्ता न रह सके।'[1]

उनके भाव-चित्र जल-रंगों से बने हैं। बुनियादी तौर पर वे रेखाचित्र हैं जिनमें-से अधिकांश में नारि-छवियां अंकित हैं। उन चित्रों में दीपक, कमल, कुंतल, आदि चित्र-शब्द का काम करते हैं। जिन फलकों में बड़ी आकृतियां बनी हैं उनमें एक ओर तो मूर्तिकला के तीसरे आयाम का आभास है तथा दूसरी ओर उनकी आकृतियों में अर्द्धनारीश्वरत्व है अर्थात उनका उभयलिंग (जेन्डर) है।

नारी-छवियों के ज्यादातर नेत्र बन्द हैं। उनकी ठोढ़ी नाक की तरह नुकीली-गर्वीली है तथा अधर रेखा की तरह पतले हैं। अत: आसक्तिहीन मुख से लगभग निर्मादकता ही अभिव्यंजित होती है। इन आकृतियों को साड़ी से इस कदर लपेट लिपटा दिया गया है कि उरोज, नितंब, कटि, जंघा आदि की वर्तुलाएं वर्जित हो गयी हैं। केवल मुख, भुजाएं और चरण भर दिखाये गये हैं। इस तरह नारी सुरक्षित और रहस्यमयी हो गयी है। साड़ी की

---

1. "दीपशिखा", भूमिका, आठवां संस्करण (इलाहाबाद, भारती भंडार) 1971 पृ॰ 60

निचली चुन्नटों में खुली सीपी की जैसी लहरियां हैं (दे० चित्रगीत 28)। कुछ चित्रों में वस्त्रों के घुमावों तथा फहरानों में बोटिचेली या माइकेल ऐंजिलों के जैसी संगमर्मरी कटानें हैं।

चित्र की सहवर्ती संरचना में ज्यादातर बन्द कमल-कलियां हैं जो मृणाल के साथ हैं। ये उर-कली (किशोरी/कुंवारी) के प्रतीक हैं। ये कमल-कलियां अथवा बन्द कमल कंटीले कमल नालों से गुंथे हैं। (नाल कंटीले या कंटकित नहीं होते)। मृणालसमेत ये पुष्ट कमल एक विचित्र सांकेतिकता देते हैं–सर्पों के जैसे जिनके फण खुले-चमकीले हैं (दे० चित्रगीत 20)। गीत 20 का कमल (उभयलिंगी) दुमुंहे सांप के जैसा है जिसके साथ एक कमलपत्र भी सिकुड़ा है और एक मुंह दोनों पांवों के बीच में है।

बन्द कमलों की संख्या ज्यादातर तीन है (दे० चित्रगीत 1, 26, 38)। इसी तरह दीपकों की संख्या भी ज्यादातर तीन है (दे० चित्रगीत 27, 14)। यह तीन की संख्या सत्व, रज और तम के त्रिगुणों का, अथवा इच्छा क्रिया-ज्ञान के त्रिकोण का, या फिर ब्रह्म-विष्णु-शिव के त्रिदेवत्व के नानाविधि प्रतीकात्मक रूपों को अनुरंजित करती है और अनूसूया के आर्केटाइप से जुड़ जाती है। कवि भी अपने सम्पूर्ण काव्यलोक में अरूणा (विष्णु), चांदनी (ब्रह्मा), तिमिर (शिव) के आंगन-संसार में डूबी-भीगी-नहाई हुई आत्मरत है।

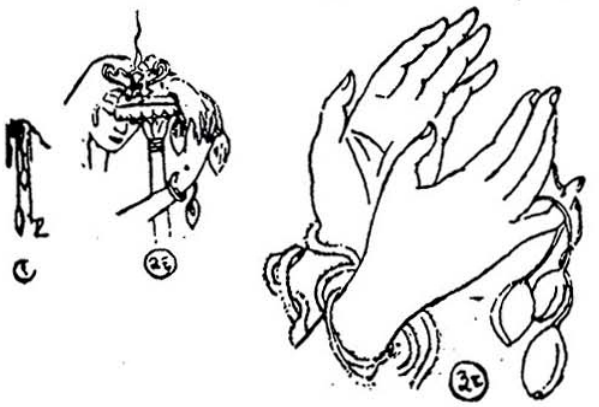

चित्रगीत 49 की रहस्यमयता विलक्षण है। गायिका की गोद में जादूगरनीवीणा है जिसमें पांच तीरों (पंचबाण) जैसी मूठियां है। वीणा की आकृति भी उभयलिंगी है (अर्द्धनारीश्वरत्व)

पंचबाणयुक्तयिष्ट सीधे वीणा गर्भ तक धंस गयी है। चारों ओर की योनि-आकृति का आभास भी स्पष्ट है (यह आकृति चित्रगीत 26 के दीपक से भी मिलती जुलती है)। पंचबाणयुक्त सीधे दंड के ऊपर जो आकृति है वह मानव-भ्रूण से मिलती-जुलती-सी है।

चित्रगीत 6, 22 और 33 में से पहले दो में अर्द्धनारीश्वरत्व (हर्माफ्रीडाइटिज्म) और समरति (होमोसेक्सुअलिटि) की जो छायाएं घुल-मिल गयी हैं वे अन्तिम में आकर विभक्त हो जाती

हैं: कृष्ण के आभास वाला सघनमेघाच्छादित छाया रूप (प्रिय) और उसके स्पष्ट बिम्ब (प्रिया) में। 'प्रिय के अंक में या प्रिया के अंक में बड़ा कमल' – कलात्मक अर्थों का यह विस्तारण ही कविताओं के सम्बोधनों को अर्थभ्रांतियों में चमत्कृत करता है।

चित्रगीत 25 में नारीदेह के कामुक क्षेत्रों (स्तन, कटि, नाभि) को वस्त्रों से लपेट कर बिल्कुल चपटा और सपाट बना दिया गया है। मानो निर्मदता क्रूरता-पूर्वक लिपटाई गई है।

इसी तरह अजंता-चित्रित अथवा कालिदास-चर्चित वे पारम्परित मृणाल-वलय यहां कुछ दूसरी ही अवचेतना को लिख जाते हैं–'लिखती हूं कुछ, कुछ लिख जाती!' इन चित्रों की शैली में अजंता और बंगला-स्कूल की नव्यरोमांटिकता के बावजूद कविचितेरे विलियम ब्लेक या ताहिती-द्वीप वाले चित्रकार पाल गोगेन के चित्रों जैसी आदिम तथा अकुंठ मुक्ति और मिथक नहीं हैं।

'प्रिय' के संदर्भ में ये तीन दीप तथा तीन कमल और भी अचेतन गहराई में गोताखोरी करते हैं [क्योंकि ये प्रगीतों में पुंजरूप नहीं हैं]। ये प्रिय-पति-पुत्र की त्रयी हैं जो अनसूया को सुहागिनी-अभिसारिका, दोनों बनाती है। 'नीहार'-वृत्त में **'देव'** है; 'नीरजा' और 'दीपशिखा' में **'प्रिय'** आ जाता है। 'सांध्यगीत' में उसका कौतूहल 'वह' में ज्यादा है। किन्तु सम्पूर्ण वृत्त में **बालक** और **बाल**(पुत्र) की ममता कहीं-कहीं झिलमिलाती है। प्रिय-पति का द्वन्द्व ही सम्पूर्ण काव्यात्मक प्रेमानुभूति को-'वह' यथा 'उसका' में अस्पष्ट बना डालता है। कवि केवल एक ही प्रगीत ('जग ओ मुरली की मतवाली!') में खुलकर कह पायी है कि नारीचिति की विमुक्ति या तो गोपिका के रूप में सम्भव है जब वह करूणा की मंगल गागर **धर** ले अथवा मीरां की तरह सनेह बेली के खारे जल से सींचकर और विष की प्याली को मधु बनाकर वर ले। किन्तु कवि के लिए तो 'इस शीत निशा' (निर्मदता) का कोई अंत नहीं।

इस कड़ी में 'भिक्षुक' का प्रयोजन है। इसकी दार्शनिक सांकेतिकताएं स्वयं गौतम बुद्ध (कोई) और उनके आर्य सत्यों से निश्चित रूप से सम्बद्ध है ('कोई यह आंसू आज मांग ले जाता'/; 'तू धूल भरा ही आया'।)। कवि स्वयं बाली उमिर में भिक्षुणी बनना चाहती थी। अत: जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण में निराशा के बजाय 'एक गंभीर करूणा की छाया' ('आधुनिक कवि' भूमिका) ही दिखती है क्योंकि उस पर पार्थिव दुख की छाया नहीं पड़ी ('यामा'-भूमिका पृ० 12)। अत: कवि के पास 'अपनी विकलांगता के बल पर याचना करने वाले भिक्षुक की दरिद्रता भी' नहीं है ('दीपशिखा', भूमिका पृ० 64)। इन कारणों से उसे दुख के दोनों ही रूप प्रिय हैं–मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से बन्धन में बांध देने वाला, तथा; काल व सीमा के बन्धन में पड़े असीम चेतन का क्रन्दन। अतएव कवि का **व्यक्तिगत दुख** विश्व के कण-कण से उमड़ी एक **करूणा की धारा** में घुल-मिल गया है। इस तरह भिक्षुक का अभिप्राय उनके व्यक्तिगत दुख को असीम चेतन के क्रन्दन तथा विश्वकरूणा की धारा में विराटीकृत कर देता है। यह और भी करता है–माइथीम-बीज को अंकुराकर। यह कवि को कृतित्व तथा जीवन में आद्यंत ईर्ष्याहीन (अनसूया) बनाता है, उसके परिवेश में अरूण (सूर्य, विष्णु), चन्द्रमा (मधु, ब्रह्मा)

तथा तम (रात, शिव) को भिक्षुकवत् **उपस्थित रखता** है; उसके चिति-आंगन में प्रभु (देव) और प्रिय और बाल को नाना प्रतीकों में/की भिक्षा चाहता है; 'मानस-दोलों में सोतीं शिशु इच्छाएं अनजान'। चकोर से तादात्म्य करके कवि कहती है–तू अकिंचन भिक्षुक है मध् ा का,/अलि तृप्ति कहां जब प्रीत नहीं।' कई ढंगों से यही प्रतीक खुलता है–'चिर जाग्रत थी तू दीवानी,/प्रिय की भिक्षुक दुख की रानी!'.....तेरे वैभव की भिक्षुक या कहलाऊं रानी।'.....भिक्षुक-सा यह विश्व खड़ा है पाने करूणा प्यार/हंस उठ रे नादान खोल दे पंखुरियों के द्वार।'....'अश्रु मेरे मांगने जब नींद में वह पास आया/'....जिन अधरों पर कांप रही हैं/अनमांगी भिक्षाएं सारी/'.....'पुजारी, दीप कहीं सोता है!' [सचेतनता और पवित्रता से गुप्त क्षणिक चोरी]। कवि के चित्रों के तीन दीपक या कमल, कविता का त्रिमूर्त्तिप्रिय और नारी-शरीर में दृग-अधर-उर की त्रिकोणता एकतान हो जाती है।

सारे काव्य-कर्म में सत्व (सत्य), रज (कण-कण, अणु-कणु, रज-बिन्दु) और तम (घन, धूल) के आंधी-प्रलय के बीच कवि लगभग हरेक प्रगीत में आंसू और बूंदों से, मोती और तारों से नहाती हैं, उनसे भीगी और भीनी हो जाती है क्योंकि वह नभ और अवनी, कमल और दीप, बीज और बिन्दु, रस और रज की उर्वर मादकता भी जानती है। इसीलिए नहाने-भींगने के अनसूया-प्रतिकर्म के माध्यम से उजले होने, स्वच्छ होने, पवित्र होने, शुद्ध होने, मुक्त होने तथा दिव्य होने का आत्मोद्धार मिलता है। यह विरेचन त्रिगुणों के अवगुंठन में रहस्यमय होकर भी प्रत्यक्ष हो उठता है–'जो नभ में **विद्युत मेघ** बना वह **रज में अंकुर** हो निकला'।.....रज में **शूलों** का मृदु चुम्बन/नभ में मेघों का आमंत्रण/'. ....हल्के आतप में रस-भीनी/शतरंगी **रज** बरसा करती/'....देख तो रज में अचंचल,/स्वर्ग का युवराज तेरे अश्रु से अभिषिक्त है यह/'.....'पदरज धोने उमड़े आते लोचन में जलकण रे!' 'नीरजा' में 'श्रृंगार कर ले री सजनि!' तथा 'रूपसि तेरा धन केशपाश!'। जैसे प्रगीतों में रमणी-शिशु के तथा सद्यःस्नाता विलासिनी, दोनों के चित्र विरेचन को स्पष्ट करते हैं ['तारक लोचन से सींच-सींच नभ करता रज को विरज आज']। 'सांध्यगीत' तक आकर निर्मदमयी कवि रजवती होकर भी विरज' [रज(स्वला)हीन] होने का पवित्रीकरण चाहती है; 'रजकणों में खेलती किस विरज विधु की चांदनी मैं?' संदर्भों में चुनाव की गुंजाइश रहते हुए भी कवि ने रज के बजाय रेणु या धूल का इस्तेमाल नहीं किया। ऐसी ही विटगेंस्टाइनीय भाषा-क्रीडा 'सुभग' अर्थात् सौभाग्यशाली प्रिय और (सु-भग-स्वांमी) प्रिय में हुई है; शायद केवल कुछ बार; वह भी सांध्यगीत' में ('विरह का इतिहास कहती जो कभी सुभग सुन'.....प्रिय बसा उर में सुभग सुधि खोज की बसती कहां?')। यहां सौभाग्य और सुभगता के अर्थों का बाजूबंद खुल ही गया, मानों।

'आंगन'-'स्नान' के आद्य अभिप्रायों से बंधी हुई नारी-शरीर की **पवित्रता** तथा नारी-रति की **दिव्यता** के पुरातन संस्कारों के बारे में भी कवि की सौन्दर्य-प्रतिक्रिया **बेहद** अस्पष्ट, अमूर्त, अप्रत्यक्ष, रहस्यवादी तथा रहस्यात्मक हो गई है। वह सामाजिक आयामों में नारी-संघर्षों को प्रकट करने का जातीय तथा वर्गीय साहस और स्वतंत्रता प्रदर्शित नहीं करती। उसने वेदांती- रहस्यवादी शब्दों को सामाजिक स्वीकृति तथा अन्तर्मुखी गोपनता के लिए भी प्रयुक्त किया।

स्वयं कवि कहती हैं कि 'नीहार' (17-21 वर्ष) का अधिकांश उनके मैट्रिक होने के पहले लिखा गया है जबकि उनकी अनुभूतियों में कुतूहलमिश्रित वेदना थी। "रश्मि" (21-24 वर्ष)-काल में उन्हें अनुभूति से अधिक उसका चिंतन प्रिय हुआ। "नीरजा" (24-27 वर्ष) और "सान्ध्यगीत" (27-29 वर्ष) की अवधि में उनका हृदय अनायास ही सुख-दुख में सामंजस्य का अनुभव करने लगा था (दि० 'यामा', भूमिका पृ० 6)। 'दीपशिखा' (29-35 वर्ष), के रचनाकाल में उनकी अनुभूति बौद्धिक (दार्शनिक) हो गई। यद्यपि इसमें आशावादी स्वर नहीं हैं तथापि अविश्वास का भी कोई कंपन नहीं है और (कवि की आकांक्षा है कि) रात की सघनता को इसकी 'लौ' झेल सकती है (दी०भूमि० 64)। अत: पहले (1) अनुभूति में कुतूहलमिश्रित **वेदना**; फिर (2) अनुभूति का **चिन्तन**; फिर (3) सुख-दुख मिश्रित अनुभूति के चिंतन का **सामंजस्य**; फिर (4) बाहर; भीतर के बीच परस्पर-पूरक अनुभूति का **समन्वय**; और अंतत: (5) अनुभूति की विराटता में **विश्वास**।

इस तरह उनकी वेदना, चिन्तन, दुख-सुख-सामंजस्य, बाहर-भीतर समन्वय, करूणा के दार्शनिक विश्वास–इन पांचों की महाधुरी अनुभूति ही है। इसीलिए वे बाह्य जीवन की कठोरता, संघर्ष, जय-पराजय की मूल्यता कुबूल करती हुई भी अन्तर्जगत की कल्पना, स्वप्न, भावना आदि को अनमोल मानती हैं। वे अपने अन्तर्जगत् में ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न करने की विश्वासिनी हैं जिससे कि सामंजस्यपूर्ण गतिशीलता एक अनिवार्यता हो उठे। इसीलिए उनके लिए 'एकरस अनेक वर्षों की तुलना में', अंतर्मुखी 'सहानुभूति स्नेह, सुख-दुख के कुछ क्षण' ज्यादा मूल्यवान हैं। हमने उनके इस "**घटनाविहीनता के आघात**" का स्पष्टीकरण किया है। बुनियादी तौर पर वे रोमांटिक ही बनी रहीं। अकेलेपन-सूनेपन-अनजानेपन की तत्कालीन आधुनिक दशाओं ने उनमें रोमांटिक आत्मबलिदानी वेदना (रोमेंटिक एगनी) की बूंदे-धाराएं, प्रलय-आंधियां इतनी भर दीं कि उनके निषेध से बन्धनहीन और नैसर्गिक व्यक्तित्व का लीलाकमल नहीं खिल पाया। उनका यह विशिष्ट क्षणभोग ही उन्हें वैयक्तिक कहानी (जीवनी) तथा सामाजिक इतिहास, दोनों के पंथों से अपरिचित और अनचाही बना देता है। इसीलिए उनके सम्पूर्ण कविकर्म में कण और अणु, क्षण और पल,

आंसू और तारे, मोती और चिनगारियां हजारों बार छिटकी हुई हैं। अन्तर्लोक की अनुभूति-धुरी की तरह उनके संबोधनत्रिकोण में 'प्रिय' मध्यबिन्दु है। 'नीहार' में वह 'नायक बिम्ब' के रूपों वाले देव, करूणेश अतिथि, नाविक आदि के स्वकर्म निभाता है। 'रश्मि' में चितेरा और गायक होकर कलाकार-नायक भी बनता है। साथ में अलि और सजनि की स्त्रीलिंगात्मक अस्मिताएं भी हैं। 'सांध्यगीत' तक प्रिय और पाहुन की ज्यादा इयत्ता फैलती है। 'दीपशिखा' में प्रिय का शीर्ष सम्बोधन केवल एक गीत में ही शेष रह जाता है। 'तुम' और 'मैं' का अमूर्तीकरण परिणत हो जाता है।

पुल्लिंग 'तुम' सम्बोधन में अन्तरंग वार्तालाप है: किन्तु स्त्रीलिंग (तू, सजनि) सम्बोधन में आत्मोद्घाटन और आत्मारोपण ज्यादा है। 'वे' में सूचनाएं-सामंजस्य हैं। 'कौन/किस' में रहस्यमयता है तथापि ये सभी 'प्रभु प्रिय' के दोहरे विरोध के प्रतिफलन हैं।

सम्पूर्ण कृतित्व में से कुछ और भी चिनगांरियां दमक उठती हैं। 'नीहार' में स्वप्न, छाया, नींद, माया ज्यादा हैं जो यथार्थता का विभ्रांत निषेधन हैं। किशोरी महादेवी सुधि तथा पीर के द्वारा अपनी यथार्थता और अस्मिता की पहचान करती हुई कुतूहलमय होती हैं (यहां रहस्यमयता लक्षित नहीं है)। यहां वेदना कम है किन्तु मुग्धावस्था की आत्मरति और आत्मपीड़न-रति के बीच सेतु न बन पाने के कारण मरणपीड़ा (एगनी, थैन्टास) कुछ ज्यादा है। अत: इसमें कहीं नखशिख नहीं हैं; कहीं पूरे ऋतुचित्र नहीं हैं; केवल खंडचित्रों की रमणीय लड़ियां हैं। मानवीय सम्बन्धों में संज्ञाएं लगभग नहीं हैं। केवल सर्वनाम (मैं-तुम, वह-कौन, किस-किसे) आदि हैं जो अस्पष्टता फैलाते हैं। मानव-शरीर पूरा नहीं उभरता। आंखे और अधर सर्वाधिक ललित हैं। चरण और कर इसके बाद आते हैं। मनोदेह में प्राण, मन, मानस, उर ज्यादा आये हैं। यहां किशोरी-मन में तो शरीर छूना ही मानो बिजली का गिर जाना है।

रश्मि' और 'नीरजा' में जब यह सुहागिन कुंवारी-कवयित्री सहज होती है तो तुरन्त एक मुग्धा किशोरी की अवस्था में पहुंच जाती है; अन्यथा उम्र से ज्यादा की एक प्रौढ़, वियोगिनी तथा साधिका के रजरंगे चीवरों से अपने को नख-शिख ढांक लेती है। एक तो रश्मि का प्रतीक ही स्पष्ट है; दूसरे यहां नींद ज्यादा है, पथ व चरण कम हैं। "नीरजा" में पग और पद छाने लगते हैं। साथ ही प्रिय भी आ जाता है। 'दीपशिखा' और 'सुभग' भी शायद पहली बार आ जाते हैं। अंधेर है कि अभी तक 'दीपक' कम हैं; 'प्याली' ज्यादा है! 'कली' तो सर्वत्र विद्यमान है। मधुप हैं। किन्तु 'शलभ* कम हैं। यह युवती महादेवी के प्रणय-स्वप्नों के अनुविस्तारण (सेकेंडरी एलाबोरेशन) हैं। यहां 'दीपक' बनाम 'हिम' के

विरोधाभासों से सहज रति और नैतिक निर्मदता के द्वन्द्व की गांठ खुलती हैं। 'सान्ध्यगीत' में अन्तर्विरोधों और विरोधाभासों से जुड़ी हुई भाषा का मैनरिज्म परिष्कृत हो जाता है। यहां नारीत्व के संस्कारी तथा परम्परागत छवि-बिम्ब को ही आदर्शीकृत और अमूर्तीकृत किया गया है। प्रस्थान और भाषिक विपथन नहीं ही है। यहां प्रिय के लिए 'वह' स्थानापन्न होता है। 'आज' का बोध प्रमुख होने लगता है। इन्द्रधनुष ज्यादा हैं; दामिनी कम है। 'दीपशिखा' में यह सब आत्मोत्सर्ग, आत्मसमर्पण और आत्मज्ञान बनकर ज्यादा रहस्यात्मक–बहुधा रहस्यवादी भी–हुआ है। इसमें मरण-स्वप्न-प्रलय की त्रयी भी शक्तिमान है। निर्वाण बहुत बार आया है। कमल तथा कली लगभग गायब हो गयी हैं। प्रलय से जुड़े उल्का, झंझा, तडित्, ज्वाला, चिनगारियां आदि छायी हैं। नगेन्द्र के अनुसार इसमें 'स्पष्टत काम का स्पन्दन है ही।'

वास्तव में भाषिक संरचना और अप्रस्तुतों का शिल्प-कौशल ही ज्यादातर रहस्य फैलाते हैं। अव्यक्त और अपरिचित को खोजने की भावातिशयता तुम, मैं, तुम वह, प्रिय देव आदि की सर्वनामीय भाषा-क्रीड़ा बनती है। इसके मूल में कवि का आत्मगोपन है। वह स्वयं को मिथ्या चेतना की 'छाया' में निरन्तर अपहचानी-अनजानी रखती है; छिपाती हैं, भुलाती है, अजनबी बन जाती है। इसके अलावा वेदना/दुख/करूणा का केन्द्रीय बोध भी उसे बहिर्मुखी नहीं बनने देता। वह अपने को संरक्षित भी रखती है। इसीलिए काव्य में सम्पूर्ण नारी-शरीर या पुरूष-काया नहीं है। पलक, नयन, अधर, चरण ही प्रमुख हैं। इसी के संग सम्पूर्ण शरीर की ऐन्द्रियिक अभिव्यंजना रोमों के द्वारा, तथा भोग की व्यंजना सुरभि के द्वारा की गयी है। नारी के अंगों में पुलक, सिहरन तथा रोमांच (कंटकन) के द्वारा ही सारी कहानी कही गई है; शेष कथा सुधि-सपने, आंसू-हास, शूल-कली; दीपक-कमल आदि पूरी करते हैं।

सम्पूर्ण काव्य में 'आनन्द' और 'अमृत' कहीं भी नहीं हैं। 'ब्रह्म' और 'आत्मा' भी कहीं नहीं हैं। इसी तरह धार्मिक तान्त्रिक-हठयोग की रूढ़ शब्दावली तकरीबन नहीं है (समाधि, निश्वास-श्वास-उच्छ्वास के अतिरिक्त)। सूफी **'प्रेम की पीर'** तथा मधुरोपासना वाली **'प्रेमदीवानीपन'** का संयोग ही महादेवी के अनुभूति-गर्भ का शिशु-सृजन तथा चिरंतन रहस्य है। समूचे काव्य-मंडल में मिथक भी कहीं नहीं है (जबकि सभी छायावादी कवियों ने इसका भरपूर उपयोग किया है)। महादेवी की रचनाधर्मिता में ये उपर्युक्त बिन्दु विलक्षण तथा सकारात्मक हैं। तथापि उनके काव्य की अन्दरूनी बुनावट, तथा चिति के स्वभावों को समझने में उनके काव्य-संग्रहों की भूमिकाएं बेलाग स्पष्टीकरण करने के बजाय बहकाती और भटकाती हैं। वे अपने काव्य-प्रेमियों तक के साथ क्यों ऐसा वाक्छल करती रही थी?

रहस्यवाद भी उनका ऐसा ही चमत्कारिक अवगुंठन था जिसे उन्होंने, उतार फेंककर अनसूया की तरह नैसर्गिक हो जाने की बजाय, अपने 'देवी-साधिका' वाले मिथक को पवित्र-शुद्ध-असीम-अनन्त बनाते जाने में ओढ़े रखा।

'सांध्यगीत' के कुछ आखीरले प्रगीतों में उनके जबर्दस्त विद्रोह और प्रस्थान के लक्षण नज़र आते हैं। उनका सौन्दर्यबोध तथा यथार्थबोध विप्लवी बदलाव की सूचना देते हैं। वे क्षितिज को तोड़कर 'उस ओर' के 'क्या' को देखने की चुनौती मंजूर करती हैं; अपनी छांह (छाया, भावना) को अपने लिए कारा न बनाने का आत्म-तर्क करती हैं तथा वह जलती कहानी भूलने की बात कहती हैं; सामाजिक मुक्ति के लिए कीर का पिंजर खोलने को राज़ी हो जाती हैं; लेकिन 'दीपशिखा' में वे मुक्ति तथा निर्वाण के लिए लौट पड़ती हैं और पुन: दार्शनिक रहस्यवाद से 'लौ' लगा लेती हैं। इस वापसी के कारण भारतीय नारी की विमुक्ति के इतिहास का सही और सच्चा अध्याय कोरा रह जाता है। दुर्भाग्य से उनके बाद इतनी प्रतिभाशली और महिमामयी नारी-कवयित्री ही नहीं आ सकी। वें पंथ को अपरिचित तथा प्राण को अकेला छोड़ देती हैं।

उनकी **'नारी-रहस्यमयता'** (फेमिनीन मिस्टीक) की अतल गहराइयों में ही शायद इसका उत्तर मिले कि आखिर इतनी प्रबुद्ध, प्रसिद्ध और प्रवीण नारी के साथ ऐसा क्यों हुआ? हमारा आधार तो केवल उनका काव्य ही है! अनसूया के 'आद्य नारीत्व-बिम्ब' से तो बहुत ज्यादा ज्योति-पंथ दिखे हैं ही; हमें समाज-सौन्दर्यात्मक (सोश्यो-ऐस्थेटिक) अक्ष पर और भी कुछ प्राप्त हो सकता है।

'नीहार' का अधिकांश मैट्रिक पास होने के पहले लिखा गया है। इसमें सत्रह से बीस साल की कवि के किशोरी-कौतूहल की तथा दमित यौवन की इच्छा-पूर्ति तथा मरण-व्यथा की आकुलता है। कहीं भी आध्यात्मिकता रंचमात्र नहीं हैं। वह अपने यौवन के मधुमास की तीव्र मादकता तथा व्यर्थता का एक साथ खुलकर अनुभव करती है। वह मधुमदिरा, मधुमय पीड़ा, मनमोहन गान, मूक मिलन, मधुमय पीड़ा, मादक राग, और 'विधुर हृदय' आदि का ऐसा वातावरण है जहां चांदनी खाली कलियों के प्याले धोती है और राकेश निशा की अलकें चांदनी में धोती है, लेकिन उसकी मधुवाली मदिरा ढुलका दी जाती है और एवज़ में छोटी जीवन-प्याली पीड़ा से भर दी जाती है। इस अवस्था में यह मूलत: अनंग-पीड़ा है जिसने अंगवीणा के तारों को बिखरा दिया है और वह श्रद्धा-सम्मान तथा पूजा के कैशोर भावों के साथ किसी भी **'अनन्त पथ'** की ओर नहीं जा सकती।

वह चांदनी में भी **'असीम तम'** में सो जाती है क्योंकि 'उसने' छोटी **जीवन प्याली** से उसकी मधुमदिरा ढुलका दी है तथा निष्ठुर काल ने सुकुमार जीवन को पाषाणों का शयनागार दिया है। उसका वह जीवन मधुर था, संगी था, सुभग था (मधुर वह था मेरा जीवन)। वह भोला था। उसे मोह की मदिरा से **'अज्ञान'** बना डाला गया। अत: वह समझ लेती है कि 'विच्छेद' (तलाक) सहन करना पड़ेगा, और छोटी जीवन-प्याली को ऐसा बनाना पड़ेगा कि उसमें सारा संसार डूब जाये। यह उसका लक्ष्य-बिन्दु बनता है। उसे यह भी अभिज्ञान है कि जिसकी उसे खोज है, वह तो **'अज्ञात'** है; जिसे सन्देश भेजा है वह **'शून्य'** है। इसी तरह उसे यह भी ज्ञात है कि उसका एकान्त ही अब उसके 'अनन्त' 'असीम' 'उस पार' का चिरसाथी होगा। एकान्त ही तपोवन है, साधना है, विरागी है। यदि एकान्त न (होकर मिलना/!साथ) होता तो वह सब कुछ होता जो समीर, फूल, निर्झर, वसन्त करता। इसलिए उसका प्यार केवल पागल ही नहीं हैं बल्कि वह एक ऐसा नया और अनोखा संसार चाहता है जिसमें विरोधाभास हो: जैसे सपने पहरेदार हों, सीमा और सीमाहीन मिल जायें, वेदना ही मधुमदिरा की धारा हो जाये; कोमल प्राण बुझ-बुझकर आलोक करते हों, जलने में विश्राम हो, तथा मिटने में **'निर्वाण'** हो। इस तरह उसका 'छोटा दीप' जो मुग्ध, लजीला और नेही है, अब वियोगी, बुझता तथा **निर्वाणोन्मुख** हो जाता है। उसके इस प्रणयदीप में मूक ताप, सुप्त उन्माद, जलते प्राण और छिपे अन्तर्नाद का संचय है। वह अपने को 'नीरस वन का फूल' जैसा पाती है जिसे सूने (एकान्त) में छिन्न, मलिन तथा परिचयहीन बने रहना है ['जिसमें नहीं सुवास'–गीत अत्यन्त महत्व वाला है।]। यह किशोरमना महादेवी की प्रतीकात्मक आत्मकथा है जो स्वयं एक पूरा आलेख है।

'रश्मि' में छोटी प्याली, छोटे दीप और नीरस वनफूल के तादात्मयों से एक अगला कदम रखा गया है। यहां 'जल' के स्थान पर जलने का बोध जागता है। 'रश्मि' उर्फ 'मैं', उर्फ कवि, उर्फ युवती–अजान और मुग्धा है तथा विधु के बिम्ब का पूरक है। वह 'कौतूहल के बाणों' से खिंची आयी है। किन्तु 'तुम' भी मधुमय गान सिखाने, रश्मि बनकर चुपचाप आता है। अर्थात रश्मि–में अर्द्ध-नारीश्वरत्व (हर्माफ्रोडाइटिज्म) है। 'रश्मि' कवि के लिंग-बोध (सेस आफ जेन्डर) को क्षीण कर देती है: किंवा उसे आत्मरत (नार्सीसस) जैसा बना देती है। ये रश्मियां (कौतूहल के अनंग-बाणों-सी) फूलों के उर खुलवाकर मधु भी पीती हैं ('प्राणों के अन्तिम पाहुन')।

यहां 'रश्मि' की सहवर्ती 'कलिका' है जिसकी पूर्णता मधु में छलककर साकार होती है, जिस पर अलि का पहला गान मृदु मुस्कान बनकर थिरकता है। उस किशोरी प्रिया का शरीर

भी तो नवलतिका जैसा है (कंपित हो उठता सुख से भर नवलतिका-सा गात!)। इसमें भी वही चिरकिशोरी प्रिया का बिम्ब है (सजनि तेरे दृग बाल! चकित से विस्मित से दृग बाल) जिसमें मुग्धावस्था वाली हास और अधर और पद की वस्तुरति (फेटिश) है। अपनी आत्मसखी के बाल दृगों से वह 'चातक के (से) बालक-मन को भी देखती है। तब झुलसती तितली और तारे पिघलाती रातों के बीच लज्जा उसकी जीवन-प्याली को निर्द्वन्द्व होकर, मृदु पुलकों के कारण, छलका देती थी। उसके मन-बालशिखी में चपला के बेसुध नर्तन से हूक उठती थी। उन दिनों में उसका जग से परिचय हो रहा था। तब मन आंसू छूते ही मिश्री-सा घुल जाता था; तब मानस मुकुर में अपनेपन की छाया के स्थान पर सबके दुख-सुख प्रतिबिम्बित लगते थे। तब कवि छोटी थी, मामूली थी–विराट संसार से परिचय हो रहा था; हंसी और आंसू दोनों अदल-बदल रहे थे(अन्तर्विरोध खुल रहे थे)। संसार का सत्य पीड़ाएं दे रहा था और मन कुतूहल से भरा था। हंसी और आंसू, दोनों ही शिशुओं जैसे क्रीड़ा कर रहे थे। किन्तु भोलापन चुरा लिया गया अनजाने में; अर्थात भोलापन ही विस्मृत हो गया; विस्मृति का सपना हो गया और उसी सपने ने जीवन के छूकर चौंकाया। इसीलिए साथ-साथ कवि में युवावस्था में ही शारीरिक निर्मदता (शीत की निठुर रात; हिम शीतल चुम्बन; हिम का चिर निष्पन्दनभार; 'कर गया तुझे पाषाण कौन') आदि के सांकेतिक लक्षण महसूस होने लगे।

अत: मन की मुग्धावस्था और रतिकौतूहल, तथा तन में छाती हुई अतृप्ति और ठंडापन मिलकर ऐसा द्वंद्व रचते हैं कि 'पाहन' का रूपान्तरण 'पाहुन' में और बाद में 'प्रतिमा (सांध्यगीत) में होता है। कवि नारी-शरीर का सत्य समझ लेती हैं – भला इस सुन्दर शरीर को तू कैसे संभालकर रख पायेगी जब तू स्वयं 'बीते वसन्त की चिरसमाप्ति' जैसे हो गयी है। तूने तो वह जीवन देखा है जिसमें वसन्त भी पतझर था। अत: तेरा पाहु तो समाधि है अर्थात् तू बीते वसन्त की चिर समाधि है, तू मूक प्राण है, अर्थात् निष्फल पवित्रता (दिन बरसा अपनी स्वर्ण रेणु मैली करता जिसकी न सेज) तथा निष्पंदन (साधिका) की शिकार है! ऐसी मूकता और निष्पंदता में कवि (एकान्तप्रिया होने के बाद तृप्ति के विरूद्ध हो जाती है(चिर तृप्ति कामनाओं का निष्फल कर जाती जीवन) क्योंकि वह जीवन निष्फल करती है, विरक्ति बन जाती है, तथा मधु से मन फिरा देती है। इन लिए वह चाहती है कि यह जीवन चिर अतृप्ति हो तथा मिट जाना ही चिर तृष्णा हो इस दशा में झटके और झोंके की मदु, लघु, सुकुमार और करूण त्रासदियां फैलती जाती हैं–अपरिचित और अनजान! (किसी नक्षत्र लोक से टूट-')। इस चरण में कवि के शब्द-संसार के नये 'रजिस्टर' बनते हैं। दृग बाल, बालक मन, सुकुमार कली की त्रयी उसके 'लौकिक' 'जीवन' को स्मृतियों, सपनों तथा पुलकों में सघनीभूत कर डालते हैं। यहाँ

कवि अपने कुमारित्व पर ज्यादा मानसिक प्रतिबन्ध (टैबू आफ वर्जिनिटी) लगाती चलती है। यहीं उसके नारी-कवि की उभयलिंगी किशोरावस्था भी खूब कुसुमित होती है। चित्रों में वह बन्द कमलों तथा पलक-सीपों के रूप में अंकित हुई है।

'नीरजा' में वह सांकेतिकताओं (एल्यूज़न्स) तथा छायाओं (इल्यूज़न्स) के द्वारा अपने अन्तर्द्वन्द्वों को प्रकट करती है। अब काव्य-व्यापार ज्यादातर प्रकृति के आंगन में तथा जीवन की सुधियों-सपनों में चलने लगता है अर्थात ज्यादा वैयक्तिक और रहस्यात्मक और सूक्ष्म होने लगता है।

यहां 'पथ' का रूपक बदलते ही पंथ-प्रिय-पग (पद) के सन्दर्भ बदल जाते हैं। प्रथम असीम तम लघुतम जीवन का स्थानापन्न बनता है; फिर 'असीम का सुन्दर मन्दिर' बन जाता है जहां प्रिय का अभिनन्दन श्वासें करती हैं तथा आंसू उसकी पदरज धोने को उमड़े आते हैं। पुलकित रोम अक्षत बन जाते हैं, तथा पीड़ा चन्दन हो जाती है। इस तरह 'शरीर-पवित्रता' की संस्कारी धारणा का नये ढंग से पूजन-अर्चन हुआ है। इस दिशा में पूर्ण आत्मसमर्पण और पूर्ण आत्मपीड़न-रीति की स्वीकृति ही होनी है ('तुम सो जाओ मैं गाऊँ'); प्रिय को असीम बनना है, पथ को अनंत बनना है तथा प्रिय के पदचिन्हों की पथरज को अंजन बनना है। यही सब कुछ होता है।

पथ और प्रिय का द्वन्द्व बन्धन तथा मुक्ति का संघर्ष भी छेडेगा। किन्तु यह संघर्ष अन्तर्जगत में होता है–सपनों तथा सुधियों में; बाहा यथार्थ और संसार में नहीं। अत: पथ अज्ञात होता है, प्रिय दूर होता है; अथवा प्रिय सुधि भूलता है और प्रिया (मैं) पथ भूलती है। वह स्वयं को पथ की निशानी नहीं मानती बल्कि प्रिय की अमर सुहागिनी, मिलनयामिनी में कामिनी तथा मतवाली, भी मानती है। अत: प्रिय और मैं के बीच यह सवाल केन्द्रीभूत होता है: मेरा मुक्ति पथ क्या है और प्रिय-बन्धन कैसा है?

यदि मैं (कवि, नारी, चिति) तुम्हें सपने में बांध पाती तो अपने-में सौ-सौ 'लघुतम' बन्धनों से मुक्ति को भी बांध लेती क्योंकि स्वप्न में बन्दी प्रिय अवचेतन के असीम बन्धनों से मुक्ति दिलाता है, क्योंकि वह सौ-सौ निषेधों, वर्जनाओं, नैतिकताओं आदि के बन्धनों को बन्दनवार बना देता है। आगे वह अपने 'छोटे से' क्षण में चिरजीवन की प्यास बुझा लेती अर्थात् उस छोटे से क्षणभर को उसका मरु उर्वर हो जाये और उपल पुलकित–से निर्झर बन जायें अर्थात् कुंठा और निर्मदता दूर हो! केवल 'क्षण' ही महत् है ('केवल जीवन का क्षण मेरे')। एक क्षण की मुक्ति तथा एक क्षण में कर्म नारी-लालसा की प्रमुख सामाजिक टोह है। वह क्षण भर को गा लेना चाहती है (कुंठाहीन, मुक्त होना चाहती है) क्योंकि संसार-दर्पन में चातक, फूल, दीपक भी ऐसा ही करते हैं। अर्थात 'क्षण' में

कवि **अपनापन** (आइडेंटिटी) खोजती है क्योंकि अपनेपन के **अवगुंठन** के बिना उसका अपलक आनन सूना है ('तेरी सुधि बिन क्षण-क्षण सूना') जिस तरह शिशुओं के बिना अनसूया-आंगन सूना है (वही;)। अंततः 'मेरा' **अपनापन** 'तेरे' छिपने का **अवगुंठन** बन जाता है ('टूट गया वह दर्पण निर्मम')। यहीं चिति की ग्रंथि खुलती है। उपाय तो द्वन्द्वातीत हो जाने में है क्योंकि "तुम मुझमें हो" (तुम मुझमें प्रिय! फिर परिचय क्या!) कवि के "मैं–तुम" का यह विरोधाभास रहस्य द्वारा नंगा साक्षात्कार नहीं कर सकता। इसे केवल टाला जाता रहा है।

'कौन तुम मेरे हृदय में?' शीर्षक प्रगीत इसी प्रश्न को आत्मसंघर्ष में धधका देता है। वह ऐसा है (मैं–तो) जो कसक में मिठास तथा नींद में स्वप्न भरता है; जो मुझे बन्दी करके अपनी विजय में बँधता है; जो एक करूण अभाव में तृप्ति है; जो एक लघु क्षण में निर्वाण है; जो मुझे खुद को खोने पर **विपरीत-सा** खोया मिला। अतः मैं जीवन और प्रलय (मैं तो) में एक ही झंकार सुन रही हूं। यह क्यों है? इसलिए कि मैं स्वयं अंतर्विरोधों वाली हूं ('प्रिय! मैं हूं एक पहेली भी!')। मैं स्वयं दुख और सुख दोनों की प्यास-धारा हूं; मेरे रोमों में निर्झर और आग दोनों हैं, और मैं सीमा की गोद में पलकर भी असीम से खेली हुई हूं। यह विरोधों का बाहरी तथा शारीरिक सामंजस्य मनोलोक और अपनेपन में विचित्रता, रमणीयता तथा चमत्कार बन जाता है। इसीलिए "तुम मैं" अंततः "मैं (-तुम-) मैं" में रूपांतरित होकर द्वन्द्वातीत होने की अंतर्मुखी डायलेक्टिक्स पेश करता है। द्वन्द्वों को तीव्र करके समाधान के पथ तो कवि-नारी ने स्वीकार ही नहीं किये क्योंकि वह मिलन-वेला में कुछ जागकर अलस सो गयी (रहस्यमयता), क्योंकि उसके वे स्वप्न, भूलें और मान यहां कांच (की चूड़ियों) से टूटे पड़े हैं; (अवगुंठन) जब वे अवसर गये, तो 'उर तिमिरमय, घर तिमिरमय!' यहां एक बात इसी आत्मसंघर्ष को ज्यादा खोलती है। जब कवि श्रीमती सुभद्राकुमारी से जाकर मिलती तो वे अपने थैले से दो चमकीली चूड़ियां निकालकर हंसती हुई पूछतीं–"पसन्द हैं? मैने दो **तुम्हारे** लिए खरीदीं और दो **अपने** लिए। लाओ अपना हाथ, **मैं तुम्हें**' पहना दूँ, तुम तो पहनने में तोड़ ही दोगी।" ऐसी ही अंतर्मुखी डायलेक्टिक्स के द्वारा कवि एक दूसरा सामंजस्य भी लागू करती है–'जग (करूण-करूण) मैं (मधुर-मधुर)/दोनों मिलकर देते रजकण/चिर करूण मधुर।' केवल एक बार इसे वे सामाजिक तथा ऐतिहासिक सन्दर्भों में लाकर ('जाग बेसुध जाग') करूणा के दुलारे सिद्धार्थ तथा वृंदाविपिन वाले कृष्ण के क्रमशः दुख और संताप में तथा शंख और मुरली के प्रकार्यों में बहिर्मुखी करती हैं। किन्तु तर्कणा फिर भी अंतर्मुखी रही है जिसमें अज्ञानता तथा अस्पष्टता निश्चित रूप से अंतर्निहित रहेगी-'जान न पायी अपना ही उर/तुमको क्या बांधूं छायातन!'

अतएव मुक्ति-बन्धन का अंतर्विरोध केवल सौन्दर्यशाली चमत्कार-न्याय से "तुम≤ मैं" की समरसता बन जाता है तथा रहस्यात्मक अवगुंठनों में प्रतीकार्थों के अनेक बाण छोड़ने लगता है।

'वह' और 'तुम' और 'प्रिय' एक से हैं। 'मैं' और 'अलि' या 'सजनि भी एक सी हैं'।

इस पहेली का खुलाव रहस्यवाद नहीं है। वह तो बस संगति बैठाता है। जीवन की पवित्रता तथा शरीर की शुचिता की जीवन-दृष्टि ग्रहण करने पर यह सम्बन्ध-ग्राम गहरी **अर्थमीमांसक** संरचनाएं (डीप सीमेंटिक स्ट्रक्चर्स) रचता है।

एक खास ढंग से गांठ खुलती है:-'मुझमें हो तो आज तुम्ही' 'मैं'/बन दुख की घड़ियां देखो!/मेरे गीले पलक छुओ मत/मुर्झाई कलियां देखो!' यदि तुम 'मुझमें हो' (मनोदेशी/मनोज़ हो) तो 'मैं' बनकर दुख की घड़ियां देखो अर्थात् मैं ≤ तुम; मैं = तुम (विश्व); मैं = मैं (जग)। यहां सचेतनता-भूमि पर विरूद्धों का समन्वय तथा एकात्म हुआ है।

अब इसका विस्तार आगे है - 'जब **मैंने** अपने प्राणों में **प्रिय** की छांह छिपा ली'। आगे: 'काया छाया में रहस्यमय! प्रेयसि-प्रियतम का अभिनय क्या!' आगे: 'तम ही तुम हो और विश्व में मेरा चिरपरिचित सूनापन/मेरी छाया हो मुझमें लय/छाया में संसृति का स्पंदन-'। अनुमान हुआ कि "नीहार"-वाला असीम तम ही प्रियतम अर्थात् प्रियतम अर्थात् प्रिय बन गया (इस असीम तम में मिलकर मुझको पलभर सो जाने दो)। यह प्रियतम 'छाया' भी हो गया जिससे (नारी) काया प्रेयसि हुई। किन्तु यह तो स्वयं नारी-काया की ही छाया होकर "अर्द्धनारीश्वरत्वग्रन्थि" का अनूठा और अद्भुत उद्घाटन है। वस्तुत: प्रिय कायातन न होकर छायातन है ('जान न पायी अपना ही उदर/तुमको क्या बांधू छायातन!')। लगता है कि विभक्त मनस्कता में कवि की आत्मरक्षक वृत्ति मूलत: काममय है लेकिन उसका ही नारी-अहं साध्य भी हो गया है। साधन उसकी काया है। यह "स्व-रति" (ऑटो-इरोटिसिज्म) ही है। उसकी लुब्धा (लिबिडो) अहं में ही स्थित है तथा आत्मोन्मुखी (सेल्फ-डाइरेक्टेड) है। कामुक वृत्ति पर अहंवृत्ति की विजय हो जाती है (कौन बन्दी कर मुझे अब बंध गया अपनी विजय में)।

इस 'प्रिय' और 'तम' का अगला आयाम यूं हैं-'प्रिय, तुमने अर्थात् जिसने' (प्रिय जिसने दुख पाला हो).....,अर्थात् [मेरी तरह] जिसने, [उसे मैं आंसुओं की जयमाला से स्वयं वरूंगी.....] अर्थात् 'प्रिय' अर्थात् 'तुम' अर्थात् 'मेरे जैसे' 'अर्थात् वही मेरा वरेण्य पुरूष या तादात्म्य है। यहां "प्रिय= मेरे जैसा" का समीकरण है। यह एक "चिरंतन पुरूषत्व"

(ईटर्नल मैस्कुलिन) की खोज है। नारीत्व के जैसा पुरूषत्व! एक असम्भव आदर्शीकरण! ! ! ! किन्तु इस प्रिय पथ अथवा प्रिय-पंथ का कण-कण आकर्षण है और यह नादान उलझन नहीं सुलझती ('दूर घर मैं पथ से अनजान')। अंततः वह आत्मोद्घाटन करती है–'यह क्षण क्या? द्रुत मेरा स्पंदन;/यह रज क्या? नव मेरा मृदु तन;/यह जग क्या? मेरा लघु दर्पण;'/प्रिय तुम क्या? चिर मेरे जीवन;/' इतने आत्मोद्घाटनों के बाद आरोपित प्रतीकों को उधेड़कर आत्मभर्त्सना करती हुई नारी सहज और सरल हो उठती है–'मिथ्या, प्रिय मेरा अवगुंठन,/पाप-शाप, मेरा भोलापन!/चरम सत्य; यह सुधि का दंशन;/अन्तहीन, मेरा करूणा-कण;/यूं वह उसी आरंभिक मूर्त यथार्थता को शिरोधार्य कर लेती है।

लगता है कि 'प्रभु/प्रिय' के संरचनात्मक पुलिन्दे से महादेवी 'दिव्य/मानुषी' पुरुष के रूप में ऐसे "प्रिय" की स्व-रचना करना चाहती हैं जो उसके सूनेपन को भरे, जो उस जैसा हो, जो उसका हो, जो उभयलिंगी अर्थात् अर्द्धनारीश्वरत्व हो। अतः ऐसा प्रिय अमूर्त और आध्यात्मिक प्रतीत होने लगता है क्योंकि वह चाहती है कि ऐसा प्रिय उस पर शासन न करे और उससे पार्थिव यौन-तृप्ति भी न मांगे बल्कि चिर प्यास देता रहे। तथापि स्त्री-जीवन को जो आदिम और चिरंतन 'पहेली' है – जो सेक्स-प्रेम-स्थायित्व की त्रयी है और प्रिय-पति-पुत्र के त्रिकोण से उसे बांधती है वह 'उलझन' ही बनी रह जाती है।

"सांध्यगीत" में आकर यह पूर्ण युवती किशोरता तथा भोलेपन से अलविदा ले लेती है क्योंकि अब उसकी उम्र सत्ताईस से उन्तीस साल की है। यह सांध्य-भाव उसे समकालीन समय-चेतना अर्थात् 'आज" से बड़े समर्थ ढंग से जोड़ता है ['क्यों आज रिझा पाया उसको मेरा अभिनव श्रृंगार नहीं'..... 'तारक-लोचन से सींच-नीच नभ करता रज को विरज आज'....क्यों मुझे प्राचीर बनकर आज मेरे श्वास घेरे?'..... आज विस्मृति-पंथ में निधि से मिले पद-चिह्न उनके'.... आदि] वर्तमान-काल के प्रति जागरूकता ऐसी नारी-चेतना को जग तथा युग के नज़दीक लाती है। अतः अब दूसरा संस्कार 'नीरजा' कालीन "छाया" का होता है। वस्तुतः यह छायावाद की छायामयी की आत्मगोपनता तथा आत्मरक्षा है।

अब उसका प्रियतम छाया नहीं है; अब खुद उसकी ही छाया का उलझाव नहीं है; बल्कि वह 'किसी की मूक छाया' है। वह अपनी सज़नि को बताती है कि 'छाँह को उसकी सजनि नव आवरण अपना बनाकर प्रात में हंस छिप गयी ले छलकते युग यामिनी मैं!' यहां नारी-चेतना को पुरुष की आकांश की अनुगामिनी तथा अनुरागिनी होने की दशा तो है किन्तु वह केवल कुछ सूने पहरों तक ही चली। उसमें एक गहरा द्वन्द्व है: "मिलन-मन्दिर

में उठा दूं जो सुमुख से सजल 'गुण्ठन'... सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिलूं अभिमानिनी मैं!'' महादेवी की नारीचिति का यह **'अपनापन'** (निजत्व) ही उनकी नारी-रहस्यमयता. ..... (फेमिनीन मिस्टीक) है अर्थात् 'अवगुण्ठन, है। उनके सामाजिक व्यवहारों में ये दोनों उन्हें बेहद अभिमानिनी बना चुके हैं। अतएव 'अपनापन–अभिमान–अवगुण्ठन–' के इस त्रिकोण में केवल आध्यात्मिकता को ही थोपना, महज सौन्दर्यात्मक विसंगति होगी। इसी मनोदशा के कारण इस सृजन-चरण में उन्हें प्रिय के लिए ''वह'' सर्वनाम ज्यादा सुप्रिय हो गया। अभिमान अर्थात् 'सुपरईगो' की साधक नैतिकता का यह उद्घाटन कवि के भावों के इतिहास की कई समस्याएं सुलझा सकता है।

मसलन, वह स्पष्टतया स्वीकार करती हैं कि 'पद चले जीवन चला पलकें चलीं स्पन्दन ही चल,/किन्तु चला जा रहा मेरा क्षितिज भी दूर धूमिल,'/पहले मधुभरी प्यालियां ढुलका दी गयी थीं। उन्हें पीड़ा से भरा गया था। अब प्यालियों में हलाहल बांटा गया है। यह हलाहल भी आँसुओं में घुलकर हाला हो जाता है जिसकी खुमारी से विश्व झूमता है तथा नक्षत्र भी घूमते हैं। फिर भी, अगर, आज तक, 'तुम' घना अँधेरा बनकर साधकर **रंगीला अवगुंठन** उठाते और आंसुओं की रेखा गिन लेते।' यह हविश ही नारी के मिलन-पथ को 'अनन्त' बना देता है। इस जीवन-चरण में कवि-नारी आत्म-निवेदन तथा आत्म-समर्पण की अपेक्षा आत्म-विश्लेषण की ओर ज्यादा उन्मुख हो रही है।

कवि आत्मसंशय करती है कि ऐसा ही क्यों रहा है? पपीहे के प्रिय और अपने प्रिय की भावना के बीच एक नाटकीय संवाद-गीत [रे पपीहे पी कहाँ] में कवि एक तो स्वयं पपीहे जैसी हो जाती है दूसरे यही पाती है कि उसका प्रिय तो उर में बसता है तथापि उसका प्रिय समाकर भी उसके प्राण कहाँ नाप पाता है? उसका जीवन तो प्यास ही है। अत: वह तृप्ति में कहाँ जी सकेगी? वह यदि दीप-सी न जलती और (आंसू से सजल न होती) तो यह सजलता कहां रहती ? इस गीत की तार्किक योजना में ही चमत्कार है। उसे पुरुष-शरीर के स्पर्श का सलज्ज और सरज आतंक इतना है कि एक तो वह उसे दिव्य (दिव) मान लेती है; दूसरे उसे पता है कि छूने पर अपनी चित्रमय क्रीड़ा तो अधूरी रह जायेगी। इसलिए वह दूर रहकर खेलने का आत्मसंयम बांधती है। जब हृदय हठ करता है तो वह पलकें मूंदकर रात करती है; वह चिन्मय आराध्य की मृण्मयी अनुरागिनी है। इसकी वजह भी साफ़ है। कवि ने बड़े लम्बे अभ्यास (युगों की साधना) से प्राण का क्रन्दन सुलाया है तब आज यह लघुजीवन किसी निस्सीम प्रियतम में समाया है। अत: अरुण वासना (मादक रंग-राग वाली) उषा इस पथ में राग छलकाली मत हँसे! (दे. 'ओ अरुण वसना!')। कारण कि, अब दूरी और देरी हो चुकी है (दिव अब वरदान कैसा!), अत: अब

तो मैं ही भाला बन जाती हूं और मेरा हृदय वेध दो। इसमें प्रतिकूल है भी क्या ? यदि मैं तुम्हें इस कूल ही पहचान लूं तो उस कूल में क्या है?

आत्म-विश्लेषण कवि-नारी को एक अन्तर्निहित मोहभंग की दशा का 'निष्ठुर' साक्षात्कार कराता है। आज तो 'वेदना लौट रही है विफल खोए स्वप्न गिन के;'। पपीहे से उसके पी का पता पूछने वाली नारी प्रतीकतया कीर का पिंजर खोलने का फ़र्मान देती है क्योंकि यह युगों का अलस बन्दी शिथिल कारा को ही ले उड़ेगा, क्योंकि घायल परों का सारा विभव जाग उठा है।

जीवन-बोध और सौन्दर्य-बोध में इस परिवर्तन का प्रमाण यह है कि काव्य की मिथ्या चेतना के स्थान पर सामाजिक चेतना का उन्मेष होता है। अब तक के काया-छाया वाले द्वन्द्व के बाबत फैसलाकुन जवाब देती है–'तू न अपनी छाँह को अपने लिए कारा बनाना।' अब कोकिल के यह राग गाने पर 'मेरे रोम में सुकुमार उठते विश्व के दुख जाग।' अब वह यह भी बता देती है–'पंथ बिन अन्त, पथिक छायामय,/साथ कुहकिनी रात री!'

"दीपशिखा' में पूर्ववर्ती आत्म-विश्लेषण की प्रवृत्ति आत्म-संदर्शन में चरमोत्कर्ष प्राप्त कर लेती है। कवि-नारी की जीवन दृष्टि तथा जीवन दर्शन, दोनों सूक्ष्मता, बौद्धिकता और सघनता के शिखर छू लेते हैं। 'सांध्यगीत' से जो **एक स्पन्दित मृत्यु की छाया'** (आ०कवि०, भूमिका 31) भी झिलमिलाने लगती है, वह यहां एक ओर तो प्रलय तथा आंधी के आतंक एवं संघर्ष में ढलती है तो दूसरी ओर विद्युत् तथा चिनगारियों के माध्यम से मृत्यु बनाम निर्वाण के अन्तर्दर्शन के प्रबल आत्मविश्वास पाती है जिसमें आत्मोत्कर्ष, आत्मोत्सर्ग तथा आत्मदर्शन निरूपित होता है। 'नीहार' और 'दीपशिखा' में प्रयुक्त निर्वाण, स्वप्न, जैसे शब्दों की तुलना, अथवा 'सांध्यगीत' और 'दीपशिखा' में प्रयुक्त चंचला (तड़ित्/दामिनी) और दीप जैसे शब्दों की तुलना ही मानसिक उत्थान को परिलक्षित कर देती है। अलबत्ता 'सांध्यगीत की अन्तिम अवस्था में कवि में जो सामाजिक चेतना का हाशिया खुला था, इस संग्रह में उस दिशा से भी मोड़ आया है और कवि ज्यादा से ज्यादा आध्यात्मिक दर्शनाभासों के प्रभामण्डल में गयी है।

'सांध्यगीत' तक भी मधुर मधु की यामिनी, निशि के कुन्तल, मृदु उर, गुदगुदाता वात, स्नात चंचला, सांवली बरसात आदि जो संकेतक और बिम्ब आ गए थे वे यहां लगभग नहीं हैं अर्थात् मधुरता और पीड़ा के वातावरण का विलयन होता है/आत्मशुचिता और आत्मदर्शन की अवस्था के लिए पूजा का रूपक तथा पवित्र भावन कई ढंग से पुन: -संस्कारित होती है:'–शून्य मन्दिर (सूने घर) में बनूंगी आज **मैं** प्रतिमा तुम्हारी' वाली मन:स्थिति अब 'यह

मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो' (मैं [प्रतिमा] = यह [दीप] में बदलती है जहां पहले के 'दुख मेरा पुजारी' के बजाय 'ज्योति का यह लघु प्रहरी पुजारी' बन जाता है। पवित्रता और शुचिता के अनुभावक 'हुए शूल अक्षत मुझे धूलि चन्दन', अथवा 'धूप-सा जन दीप-सी मैं', हो जाते हैं। पहले तक ये शूल कई बार तीर और उर बेधने वाले बाण भी बने हैं, तथा रज भी शय्या पर रंग गयी है।

प्रौढ़ वय वाली महादेवी जैसी बुद्धिजीवी नारी की 'चिति' एवं 'चेतना' में ऐसी तब्दीली के मनोसामाजिक कारण ज्यादा प्रखर रहे होंगे। वह स्वयं भी कही-कहीं अतीत के इतिहास और अनुभव-संसार का लेखा-जोखा कर डालती हैं–"आज तार मिला चुकी हूं!..... यह अनामा रगिनी अब सांस में ठहरा चुकी हूं! ...एक स्वर में विश्व की दोहरी कथा कहला चुकी हूं!..... एक ही झंकार में अश्रु-हास घुला चुकी हूं!... राग में अपने कहो किसको न पार बुला चुकी हूं!..... पर न मैं अब तक व्यथा का छन्द अन्तिम गा चुकी हूं....!'' अब तक वे "उनके स्वर से अन्तर भरने,/उस गति को निज गाथा करने,/ उनके पदचिह्न बसाने को,/ मैं रचती नित परदेश रही!''

अत: अब तक वह ज्यादातर भावक्षेत्र में विरुद्धों के असम्भव तथा चमत्कारिक अन्तर्विलयन ही करती रही और इससे आज तक भी उसका पन्थ अपरिचित बना रहा तथा प्राण अकेला रहा। वह मेघ-सी घिरी और झर भी चली। इसी प्रति-कर्म के कारण पहले भी 'परिचय इतना इतिहास यही/उमड़ी कल थी मिट आज चली!'। 'दीपशिखा' में यह 'नीर भरी दुख की बदली' अब 'मेघ-सी' हो गयी है अर्थात् वह पन्थ के हर शूल का मुख मोतियों से भर चली है, रज में गगन का दर्प लेकर सहज उतर-निखर चली है, वेदना-पायी धरोहर, अश्रु की निधि धर चली है, जीवन के प्रश्न स्वयं मिट आज उतर कर चली है।' इस तरह वह अपने अन्तर्जगत के पूरे इतिहास-कर्म का लेखा-जोखा इसी संग्रह में करती हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में अभिमानिनी कवि-नारी का अपनत्व आत्मगर्व अथवा विश्वास में दीप्त हो उठता है ['नीहार' का मेरा लघु दीप, 'नीरजा' का मधुर-मधुर मेरा दीपक, 'दीपशिखा' में 'दीप मेरे जल अकम्पित्/घुल अंचचल !' हो जाता है]। 'प्रिय मुझी में खो गया अब दूत को किस देश भेजूं' अथवा 'मेरी पी रही कब साध/जग होता तनिक अनुकूल ?', अथवा 'वरद मैं मुझे, कौन वरदान देगा?' जैसे कवि-कथन निर्णय और निष्कर्ष का दर्जा पा लेते हैं। ये प्रबल आत्म-विश्वास और अहंलीनता के सुफलागम हैं।

इसी चिन्तन-दशा में कवि अब "मैं (मन) ≤ तन'' के, अथवा "तन ≤ मन'' के सम्बन्धों का भी अनुचिन्तन करती है। पवित्र अग्नि-शुद्धि वाले रूपक के अनुसार -

'धूप-सा तन दीप-सी मैं' के रिश्ते हैं तो अन्तर्मुखी रोमांटिक मरणपीड़ा वाले रूपक के अनुसार 'मोम-सा तन घुल चुका अब दीप-सा मन जल चुका है।' ढलती उमर और प्रौढ़ चिन्तन अन्ततोगत्वा रहस्यवाद की अपेक्षा परिणामों के उत्कर्ष पेश करते हैं। आत्मपीड़न-रति की पूर्ववर्ती मधुरता अब मृत्यु-छाया भी बनने लगती है ('आ रही अविराम मिट-मिट स्वजन और समीप-सी मैं!')। इसी तरह 'घुले' हुए तन और 'जले' हुए मन की दशा में चेतना का स्वर्ण जलती वेदना में 'गल' चुकता है अर्थात् चेतना अग्निधर्मा (सत्वप्रधान) हो गयी है। अब 'शिथिल कर से सुभग सुधि-पतवार भी बिछल चुका है।' पहले तन-मन के रिश्तों में दीप-सी जलने (तन) और आंसू से सजल (मन) रहने की, अथवा 'नयनों में दीपक-से जलते/पलकों में निर्झरिणी मचली' की अवस्थाएं (सांध्यगीत) थीं। इसके साथ-साथ ही शलभ-दीप के रिश्ते उभरे - (शलभ मैं शापमय वर हूं!/किसी का दीप निष्ठुर हूं!')। यहां कवि 'शून्य मन्दिर' के स्थान पर 'मृत्यु मन्दिर' और 'राख का घर' भी है तथा 'दिवस की चाह का शर' और 'विरह में चिर' भी है। लेकिन कवि इस अन्तर को स्पष्ट करती है [क्या जलने की रीति शलभ समझा दीपक जाना?] जिसके लिए उसे जल/निर्झर की विरोधमूलकता छोड़नी पड़ी। अब दीपक की धूमरेखा और शलभ के झुलसे पंख, दीपक का आलोक और शलभ का क्रन्दन अलग-अलग होते हैं। इसके साथ ही कवि का 'मेरा प्रिय चिर दीप' अथवा 'मेरा प्रिय (वह) चिर दीप' जैसा सिद्ध होता है – जिसे छूकर जीवन जल उठता है; जिसमें दीपक का आलोक तथा शलभ का क्रन्दन मिला है। इसीलिए प्रभावधर्मता के कारण "दीपशिखा' में ('-आँसुओं के देश में!-') निशा के शेष में स्वयं शलभ जलकर दीप बन जाता है। "दीपशिखा'' में इस तरह दीप-शलभ समान तथा एकैक हो गए हैं। तन और मन, दोनों का सात्विकीरण तथा अपोलो कैथार्सिस हो गया है। इसी तन ≶ मन के द्वन्द्व तथा द्वैत का आकल्पन कई बार मिलन-विरह के विरोधी सामंजस्यों में हुआ है। आदर्शवादी भाव-सौन्दर्य बोध के मुताबिक इनकी एकता **तिमिर** फैलाती है तथा दूरी रूप-शतदल खिलाती है। मिलन क्षण है, जबकि विरह युग है **[दि० 'मैं** न यह पथ जानती री!]। इसी भावात्मक यथार्थता के मध्य यह नारी इस तरह **से** जीती चली आयी – 'पन्थ को निर्वाण माना,/शूल को वरदान जाना / जानते यह चरण कण-कण छू मिलन-उत्सव मनाना!.... प्यास ही से भर लिए अभिसार रीते! निमिष से मेरे विरह के कल्प बीते!' अत: 'दीपशिखा' में वह मलय मारुत से मतवाले झकोरे को लौटा देती है क्योंकि अब शेष हैं, 'प्यालियां रीती कली की,/शन्य पल्लव के कटोरे!'

इतनी पवित्रता और शुचिता के बाद अब उसे यह सत्य ज्यादा प्रासंगिक लगता है कि उसका चंचल जीवन-बाल धूल-भरा ही आया है, उसका मन अंगार- खिलौनों का अनुरागी था,

गाढ़े विषाद ने उसके अंग पंकिल कर दिए, उसके पगों में व्यथा के दुर्मिल शूल बिंध गए, उसे शत-शत प्यासों की लुभाती छाया चलाती रही और फिर उसे मृत्यु-जननी ने ही अंक लगाया। "नीहार-रश्मि" के 'दृग-बाल' तथा 'बालक-मन' का 'जीवन-बाल' में यह विराटीकरण एक पूरे अनुभूति के इतिहास की भी व्याख्या करता है।

ऐसा ही दूसरा कंस्ट्रास्ट पूर्ववर्ती मलय, मारुत, सुरभि, वात, समीर आदि के मुकाबले में 'दीपशिखा' में व्यंजित प्रलय, झंझा, आंधी, अंगारे, ज्वालाएं, चिनगारियों आदि के परिवेश में परिलक्षित होता है। यह नया परिवेश बाहर के सामाजिक संघर्षों, राजनैतिक आन्दोलनों और सांस्कृतिक विद्रोह का मिला-जुला तथा संकेतात्मक-प्रतीकात्मक संघनीकरण है।

इस भांति प्रिय पथ और प्रिय-पन्थ से लेकर अग्निपथ तक की ये अन्तर्यात्राएं कवि महादेवी की अतीत की 'कहानी', शेष 'कथा', अन्तर्मुखी 'इतिहास' आदि को भी तम के परदों से बाहर ले आती हैं। इस काव्यरूप इतिहास-कथा में कार्य-कारण की एकता वाली भूमिका 'प्रिय" करता है, अन्तर्द्वन्द्वों को उद्घाटित "मैं-तुम" के सम्बन्ध करते हैं; आत्मनिर्वासन और अजनबीपन की अव्याख्याएं "वह" करता है। अंततः अर्द्धनारीश्वरत्व ही उसकी 'नारी-रहस्यमयता' (फेमिनीन-मिस्टीक) को क्षणालौकिक तथा क्षीणालोकित करता है।

यह आत्मेतिहास काव्यबिम्बों तथा सौन्दर्य-प्रतीकों के सूक्ष्म तथ्यों तथा भावों द्वारा लिखा गया है। 'नीहार' में छोटे दीप, छोटी प्याली, वनफूल के केन्द्रीय बिन्दु हैं; – 'रश्मि' में रश्मि और कली है; 'नीरजा' में प्रिय पथ, मुक्ति-बन्धन, दीप-कमल आदि हैं; 'सांध्यगीत' में शलभ-दीप, चंचला-संजनि आदि हैं; तथा 'दीपशिखा' में मृत्यु-निर्वाण, प्रलय-ज्वाला, प्राण-पन्थ आदि हैं।

पांच काव्य-कृतियों के माध्यम से कवियत्री के "**भावों के इतिहास**" का अवगुंठित तथा नन्दतिक अभ्यास ऐसा ही हो सकता है।

# 8. उर्वशी : दर्शन और काव्य

गजानन माधव मुक्तिबोध

भगवतशरणजी उपाध्याय ने 'कल्पना' के अप्रैल 1962 के अंक में 'उर्वशी' की जो आलोचना प्रस्तुत की है वह बाहर से भीतर की ओर यात्रा है; और इस प्रकार की यात्रा के जो खतरे होते हैं वे भी उसमें हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा के ज़ोर से साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के जो आडम्बरपूर्ण दृश्य हमें यत्र-तत्र दिखाई देते हैं, उनसे विचलित होकर वह आलोचना प्रस्तुत की गयी है। इसीलिए भगवतशरणजी के लेख का अपना अतिरिक्त महत्व है।

लेख अत्यन्त रोचक, पाण्डित्य-पूर्ण और प्रखर है। उसकी मूल आत्मा से मेरी अनायास सहमति हो जाती है; किन्तु अपने विचारों को या अभिमत को सिद्ध करने के लिए जो उदाहरण या प्रमाण उन्होंने प्रस्तुत किये हैं वे सब जगह सही नहीं मालूम होते। वे अनुचित भी मालूम होते हैं। भगवतशरणजी बाहर से भीतर की यात्रा के पूर्व या अनन्तर यदि सावधानी से भीतर से बाहर की यात्रा भी कर लेते तो उनकी आलोचना में कमजोरियाँ न आ पातीं।

उदाहरण के लिए, 'उर्वशी' के कथा-तत्व या कहिए ऐतिहासिक पक्ष को हम लें। माना कि दिनकर ने बहुत समारोहपूर्वक अपनी कृति 'उर्वशी' के चारों ओर एक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आलोकवलय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु, इससे 'उर्वशी' ऐतिहासिक काव्य नहीं हो जाता। दिनकर का प्रयत्न यह है कि वह एक पुरानी सांस्कृतिक परम्परा से अपने को जोड़ें। किन्तु, वेदपुराण-कालिदास आदि के पास उस काम-रहस्य (मेरा मतलब रहस्यवादी दर्शन से है) के सूत्र नहीं हैं जो 'उर्वशी' में पाये जाते हैं। निस्सन्देह प्राचीन संस्कृति के सम्बन्ध में मेरा ज्ञान अत्यन्त सीमित है। किन्तु जहाँ तक मुझे मालूम है प्राचीन आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और कलात्मक जगत में, परम तत्व के साक्षात्कार के लिए काम-मार्ग नहीं चुना गया, और यह सिद्धों और तान्त्रिकों की, और उनसे प्रभावित अन्य मार्गों की देन है। दिनकर ने कालिदास की कृतियों, पुराणों और वेदों से न केवल कथा-तत्व या ऐतिहासिक पक्ष लिया, वरन् एक काव्य-संस्कृति ग्रहण करने का आभास उत्पन्न किया, और उस प्राचीन सौन्दर्यपूर्ण सांस्कृतिक उन्मेष के साथ-ही-साथ, मध्ययुग के सूर्योदय काल में उपस्थित सिद्धों-तान्त्रिकों की काम-साधना ली और फिर इन दोनों को एकभूत करने का प्रयत्न कर दिय।। सिद्ध और तान्त्रिक ऐश्वर्य नहीं चाहते थे। दिनकर ऐश्वर्यपूर्ण विलास चाहते हैं, जिसका सम्मोहक आलोक-मण्डल उन्हें प्राचीन काव्य-संस्कृति में दिखाई दिया। किन्तु, उन्हें प्राचीन कवि-मनीषियों के पास साधना का कोई काम-मार्ग

नहीं मिला। सिद्धों और तान्त्रिकों में उन्हें वह दिखाई दिया। इसलिए, कविस्वभावानुसार उन्होंने दोनों को मिलाकर 'उर्वशी' का रूप-स्वरूप तैयार किया।

ऐसा उन्हें क्यों करना पड़ा? कौन सी वह मूल वृत्ति है जिसके फलस्वरूप उन्हें प्राचीन और मध्ययुगीन उत्सों की ओर जाना पड़ा? वह है दुर्दम, ऐश्वर्य-पूर्ण-काम-विलास की व्याकुल इच्छा, और उसकी तृप्ति के औचित्य की स्थापना की आकांक्षा। चूँकि इस प्रकार की इच्छापूर्ति के औचित्य का सर्वोच्च विधान आध्यात्मिक-रहस्यवाद ही हो सकता है, इसलिए उन्होंने सिद्धों के 'महासुखवाद' का पल्ला पकड़ा।

पुरूरवा-उर्वशी के कथानक ने लेखक की कल्पना को झकझोर दिया। उस कथानक ने एक बृहद् कल्पना-स्वप्न प्रदान किया, जिसमें दिनकर की मूल इच्छा-वृत्तियों का परितोष होता था। 'उर्वशी' एक बृहद् कल्पना-स्वप्न है, जिसके द्वारा और जिसके माध्यम से, लेखक अपनी कामात्मक स्पृहाओं का आदर्शीकरण करता है और उन्हें एक सर्वोच्च आध्यात्मिक औचित्य प्रदान करता है। कथानक की ऐतिहासिकता केवल एक भ्रम है।

यहाँ यह आपत्ति की जायेगी कि पुरूरवा-उर्वशी की कथा वस्तुत: एक चौखटा है, एक ढाँचा है। उसे कल्पना-स्वप्न कहना निराधार है। किन्तु मैं अपने पाठकों का ध्यान इस तथ्य के प्रति आकर्षित करना चाहता हूँ कि कोई भी कथा-अपने कथा-रूप में-लेखक को (अपने विशेष उपयोग के लिए) आकर्षक तब प्रतीत होती है जब वह एक कल्पना-स्वप्न बनकर उसके मनश्चक्षुओं के सामने तैर उठती है—एक ऐसा कल्पना-स्वप्न जिसमें उसकी (लेखक की) आत्म-वृत्तियों को तृप्ति और सन्तोष प्राप्त होता हो। इस विशेष अर्थ में, मैं किसी भी कथा को—विशेषकर आत्मपरक काव्य के रचयिता-द्वारा अपने उपयोग के लिए चुनी गयी कथा को—एक बृहद् कल्पना-स्वप्न कह देता हूँ, भले ही 'कामायनी' की कथा हो या पुरूरवा-उर्वशी की। हाँ यह सही है कि काव्य में उसी कथा को उपस्थित करते हुए उसे स्व-बाह्य वस्तुपरक रूप और आभा प्रदान की जा सकती है, की जाती है; किन्तु मूल रूप में वह केवल एक कल्पना-स्वप्न ही रहता है। जिसमें लेखक की आत्म-वृत्तियों का परितोष और परिपोष तथा विश्व-बोध प्रकट होता है। और लेखक उस कल्पना-स्वप्न या कथा के द्वारा अपना अन्तर्जगत और उस अन्तर्जगत् में संचित विश्व-बोध प्रकट करता है।

'उर्वशी' की रचना इतिहास-शास्त्रीय दृष्टिकोण से नहीं की गयी है। उसका उद्देश्य प्राचीन आनन्द जीवन के वस्तुतथ्यों के भूगोल-इतिहास को, दिक्-काल, को उपस्थित करना नहीं है। वह एक ऐसा काव्य है, जिसमें प्राचीन जीवन के मनोहर वातावरण की कवि-प्रणीत कल्पना को बृहद् रूप देने का प्रयत्न किया गया है।

ऐसी स्थिति में भगवतीशरणजी की यह आपत्ति कि उसमें 'अयस्कान्त' और 'शरभ'-जैसे शब्द, जो उस समय प्रचलित नहीं थे, प्रयुक्त क्यों किये गये, हमें युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। इस आपत्ति का आधार केवल यही हो सकता है कि 'उर्वशी' का कवि 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक पुस्तक का लेखक होने के कारण अपने को इतिहासशास्त्री बनाने का आडम्बर भी तो करता है। 'उर्वशी' में स्वाभाविकता के स्थान पर, शब्द-जाल और आडम्बर होने के कारण दिनकर के प्रति इस प्रकार के सन्देह की पुष्टि होती है। सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रभाव के परिचालन-द्वारा साहित्यिक प्रतिष्ठा और प्रभाव के विकास और प्रसार के दृश्य हिन्दी में खूब ही हैं, रहे हैं। ऐसी स्थिति में दम्भ और आडम्बर का उद्‌घाटन और निराकरण करना भी एक कार्य हो जाता है। मैने सुना है 'उर्वशी' किसी विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भी गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करने जा रही है। अगर यह सच है तो उसे ऐतिहासिकता की दृष्टि से सुसंगत काव्य माननेवाले भी कम नहीं रहेंगें। इस सम्भावना को ध्यान में रखकर हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि 'उर्वशी' के तथाकथित ऐतिहासिक पक्ष की भगवतीशरणजी ने जो आलोचना की है वह महत्वपूर्ण और अत्यन्त उपयोगी है।

'उर्वशी का मूल दोष यह है कि वह एक कृत्रिम मनोविज्ञान पर आधारित काव्य है। कामात्मक इन्द्रिय-संवेदनाओं के जाल में खो जाने के क्षणों में उनका आध्यात्मिकीकरण नहीं किया जा सकता। न किसी दार्शनिक भावना का, न ही धर्म-भावना का बोध हमें उस समय होता है। हमारा समाज इस समय न मोहन्जोदड़ो के युग में है न वज्रयानियों के युग में, जहाँ यौन अनुभव के क्षणों को धार्मिक-मनोवैज्ञानिक रूप दिया जा सके। हाँ यह सही है कि एक फ्रान्सीसी उपन्यासकार ज्यूल रोमे के 'बॉडीज रैप्चर' (अँगरेजी में अनुवादित) नामक उपन्यास की नायिका सम्भोग की नग्नावस्था में पुरूष की नग्नावस्था के प्रतीक को (भारतीय) शिवलिंग मानकर रति-विधान करती है। किन्तु एक क्षण-भर के लिए उसका वह रहस्यवाद जीवनशास्त्रीय प्रगाढ़ सुख का साधन है, न कि साध्य, लक्ष्य या आदर्श। क्षण-भर के लिए उसकी कल्पना का वह खेल था।

किन्तु यहाँ बात उलटी है। लेखक ने यह स्थापित करना चाहा है कि कुछ 'प्रज्ञावान भोगियों के लिए' ऐन्द्रिक सुख के चरम क्षणों की परिणति अतीन्द्रिय सत्ता की उपलब्धि में होती है। क्या उनका मतलब सिद्धों और तान्त्रिकों से है? इस समय वे कहाँ हैं? क्या इस प्रकार की उपलब्धि पुरूरवा और उर्वशी को हुई थी? क्या सचमुच हुई थी? और यदि हुई थी तो उससे दिनकर जी ने क्या ग्रहण किया? वे क्या स्थापित करना चाहते हैं?

और यदि ऐसी उपलब्धि सचमुच हुई होती तो भारत के विभिन्न मार्गों (धर्मों) में जितेन्द्रियत्व का इतना महत्व न होता। फिर, प्रश्न यह उठता है कि आखिर दिनकर इस 'लाइन' की पैरवी क्यों कर रहे हैं? क्या उनकी मन्शा पर शक करना ग़लत है? कौन हैं वे प्रज्ञावान भोगी जिन्हें रति-सुख की चरम परिणति से अतीन्द्रिय सत्ता से साक्षात्कार होता है? क्या वे इस समय भारत में उपलब्ध हैं? और क्या उनके लिए काव्य का सृजन किया जाना चाहिए, किया ज़ा सकता है। राष्ट्रकवि दिनकर जवाब दें।

रति-सुख की समुत्तेजित कल्पना-द्वारा, पुरूरवा और उर्वशी, कामात्मक संवेदनाओं में पुन:-पुन: खो जाते-से, उन संवेदना-जालों में बार-बार उलझते से उद्दीप्त कल्पना के आकाश की रंगीनियों में उड़ते-से, (वे प्रतीकों में भी बात करते हैं) वागाडम्बर-द्वारा, शब्द- सुख-द्वारा, रति-सुख का पुन:-पुन: बोध करते-से, सांस्कृतिक ध्वनियों और प्रतिध्वनियों का निनाद करते हैं, मानो पुरूरवा और उर्वशी के रतिकक्ष में भोंपू लगे हों जो शहर और बाज़ार में रति-कक्ष के आडम्बरपूर्ण कामात्मक संलाप का प्रसारण-विस्तारण कर रहे हों।

वैसे तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता कि रति-सुख की विविध संवेदनाओं की बारीकियाँ और गहराइयाँ नर और नारी के बीच चर्चा का विषय हो सकती हैं। यही क्या, नर भी सम्भवत: उन्हें भूल जाता होगा। फिर भी, अगर यह मान भी लें कि रति-सुख के स्मरण-चित्र उसके मन में उपस्थित होते हैं तो उसके साथ यह भी जोड़ना होगा कि उन स्मरण-चित्रों में उसे अतीन्द्रिय सत्ता की प्रतीति नहीं हो सकती। वह उन स्मरण-क्षणों में रत रहते हुए इतना विरत नहीं हो सकता कि ऐन्द्रिक सुख के चरम क्षणों के चित्र उपस्थित होते ही उसे अतीन्द्रिय सत्ता की उपलब्धि का मार्ग दिखाई दे। संक्षेप में, न वास्तविक कामोत्कर्ष के क्षणों में न रति-सुख के स्मरण-चित्रों में डूबे होने की अवस्था में, अतीन्द्रिय सत्ता-परमतत्व का बोध हो सकता है। यह कहना कि कुछ प्रज्ञावान भोगियों के लिए ऐसा होता है या हो सकता है, कोई मतलब नहीं रखता, क्योंकि सामान्य मनुष्य के लिए आज जो स्थिति अप्राकृतिक है वह सम्भवत: केवल अस्वस्थ मनोदशावाले के लिए ही प्राकृतिक हो सकती है।

दूसरे, काम-सुख के उद्दीप्त स्मरण-चित्र इतने सतत-गति, इतने प्रदीर्घ, इतने विस्तृत नहीं रह सकते–उनका अयन-क्रम इतना नहीं रह सकता–कि उनसे उमड़े भाव-समुदायों पर घण्टों बात की जा सके। किन्तु पुरूरवा और उर्वशी समुत्तेजित कल्पना-द्वारा रति-सुख के क्षणों को ऐन्द्रिक संवेदनाओं पर प्रदीर्घ वार्तालाप करते हैं, करते रहते हैं, मानो वाक्-सुख-द्वारा देह-सुख प्राप्त करते हुए अदेह होना चाह रहे हों। यह कैसी विचित्रता है।

लेखक का संवेदनात्मक उद्देश्य यह बताना है कि (कुछ प्रज्ञावान भोगियों के लिए ही क्या न सही) काम-संवेदनाओं का चरम उत्कर्ष अतीन्द्रिय सत्ता के बोध में संक्रामत होता है। अतएव 'उर्वशी' की रचना के दौरान उसे इन्द्रियसंवेदनाओं की आतिशयिक सुखात्मकता और तीव्रता के स्तर पर, विधायक कल्पना के स्वर्गीय जगत में टिके रहना पड़ता है। किन्तु क्या इस तरह कामात्मक प्रसंगों के मनश्चित्रों की दीर्घकालीनता सम्भव है? क्या वे चित्र बार-बार खो नहीं जाते?

और चूँकि वे बार-बार खो जाते हैं इसलिए लेखक कल्पना-शक्ति को बलात् समुत्तेजित करता है। किन्तु इस प्रकार बलात् उत्तेजित कल्पना अधिकाधिक वायवीय और आकाश-विहारी बनती है। कल्पना का आकाश-विहारी होना लेखक के संवेदनात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक भी है, क्योंकि उसे काम-संवेदनाओं को दिव्य स्पर्श भी तो देना है। नतीजा यह होता है कि कल्पना कभी-कभी इतनी समुत्तेजित हो जाती है कि वह जड़ होकर मात्र अलंकरण बन जाती है। भावोच्छ्वास बार-बार समाप्त हो जाता है, अतएव पुनःपुनः प्राप्त उस अभाव की पूर्ति के लिए सांस्कृतिक शब्दों का आडम्बर और मनोरत्यात्मक प्रवचन का सहारा लिया जाता है।

सच तो यह है कि लेखक को, सिर्फ एक बात को छोड़कर, और कोई खास बात नहीं कहनी है। उसके पास कहने के लिए ज्यादा कुछ है ही नहीं। और जो कहना है वह यही कि कामात्मक अनुभवों के माध्यम से आध्यात्मिक प्रतीति सिद्ध हो सकती है। किन्तु यह कहने के लिए उसने व्यापक आयोजन किया है, वह उसे पूरे समारोह के साथ, अपना समय लेते हुए, कहना चाहता है।

किन्तु, काव्य-कृति के रूप में यह प्रस्तुत करने के लिए, काम-संवेदनातिरेकों के चित्रों-द्वारा, उनके माध्यम से ही, वह यह कह सकता है। इसलिए उसे अतिरेक के स्तर पर खुद रहना पड़ता है। कोई भी सामान्य मनुष्य अतिरेक के स्तर पर अधिक काल तक नहीं रह सकता, पर लेखक ने तो दीर्घ समारोह का आयोजन किया है और इसीलिए, उसे बलात् मनोरति का श्रम करना पड़ता है। कल्पना को बलात् समुत्तेजित करना पड़ता है। भावों की पुनरावृति होती है, और प्रतीत होता है कि लेखक किसी मनोवैज्ञानिक काम-ग्रन्थि से पीड़ित है। कामात्मक अनुभवों-द्वारा आध्यात्मिक अनुभव की सिद्धि को प्रस्थापित करने के लिए लेखक को जिस अतिरेक के स्तर पर रहना पड़ता है, वही अतिरेक अस्वाभाविक होने के कारण, (क्योंकि इस प्रकार का कोई भी मनोरत्यात्मक अतिरेक दीर्घकालीन स्थिति नहीं रख सकता) प्रयास-सिद्ध होने के कारण, वह भाषा को भी आयास-सिद्ध और जड़ बना देता

हैं। कवि दिनकर के प्रथम उत्कर्ष काल में उसकी काव्य-भाषा ऐसी जड़ नहीं थी। उसमें स्वाभाविक रूमानी चपलता थी, स्वाभाविक गीतात्मक स्वर था।

भगवतशरणजी ने लेखक की इस मूलभूत मनोवैज्ञानिक कृत्रिमता पर ध्यान नहीं दिया है, यद्यपि उन्होंने कुछ स्थानों पर उसके कुछ भावों का उल्लेख अवश्य किया है। उन्होंने 'उर्वशी' की तथाकथित दार्शनिकता की भी कठोर आलोचना की है; किन्तु वे इस बात पर प्रकाश नहीं डाल सके कि आखिर दिनकर को दर्शन की आवश्यकता क्यों पड़ गयी। अतिशयिक कामात्मक अहं अपनी औचित्य-स्थापना के लिए दर्शन का सहारा ले रहा है। इस प्रकार, वह दार्शनिक भाव-क्रम, वस्तुतः, औचित्य-स्थापना का मनोविज्ञान है।

सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात जो भगवतशरणजी ने की, वह 'कामायनी' के सम्बन्ध में है। उन्होंने राह चलते 'कामायनी' की निन्दा कर डाली। उन्होंने कहा कि 'कामायनी' में काव्य-सौन्दर्य नहीं है, उसमें तो केवल दर्शन है और दर्शन के ग्रहण के लिए कोई भी 'कामायनी' की तरफ नही जायेगा। उनके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं-"कामायनी काव्य की दृष्टि से घटिया कृति है, और जहाँ तक दर्शन की बात है, मुझे ऐगेंल्स की बात दुहरानी पड़ेगी। वैसे, दर्शन पढ़ने के लिए 'कामायनी' की अपेक्षा दर्शन की दिशा में सर्वथा शून्य व्यक्ति ही करेंगें।"

इसके पूर्व, भगवतशरणजी ने यह मान्यता प्रस्तुत की थी कि "मुझे लगता है कि काव्य यदि दर्शन के कारण विशिष्ट है तो निश्चय ही उसका काव्यत्व निकृष्ट है, वैसे ही यदि दार्शनिक कृति अपने काव्यगुण के कारण विशेष प्रशंसित है तो निश्चय ही उसका दर्शन निकृष्ट है। दर्शन की ही तथाकथित विशिष्टता प्रसाद की 'कामायनी' का मानदण्ड बन गयी है। उसके दर्शन की ही अधिक, काव्य की कम, चर्चा हुआ करती है।"

उपर्युक्त सारी स्थापनाएँ असंगत, अनुचित, निराधार एवं दुर्भाग्यपूर्ण हैं। वे दर्शन और कला इन दोनों को परस्पर पृथक् परस्पर-असंपृक्त श्रेणियों में बाँटकर चलती हैं, और इन दोनों के बीच पारस्परिक प्रभाव के तथ्य को दृष्टि से ओझल करती हैं।

हाँ, यह सही है कि शास्त्रीय दर्शन, जो तर्क के सहारे, मूल सत्ता का व्याख्यान करता है, अन्य दार्शनिक धाराओं का खण्डन करता है, मनुष्य के परम लक्ष्य का बोध करता है तथा मूल्य-व्यवस्था प्रस्तुत करता है–वह शास्त्रीय दर्शन अपनी शास्त्रीय दृष्टि के कारण शास्त्रीय रूप में काव्य में प्रस्तुत नहीं हो सकता। काव्य में किसी भी प्रकार की शास्त्रीयता, शास्त्रीय रूप में, चल नहीं सकती। किन्तु उस दर्शन के तात्विक निष्कर्ष तथा मूल स्थापनाएँ काव्य में ग्रहण कर ली जाती हैं। मध्ययुगीन भारतीय साहित्य का एक भाग इसका

ज्वलन्त प्रमाण है। इस सम्बन्ध में, मैं एक बात भगवतशरण जी के सामने रखना चाहता हूँ। वे इस पर सोचें।

'ज्ञानेश्वरी', मराठी का एक प्रसिद्ध-ग्रन्थ है। वह असल में गीता की टीका है। और इसलिए उसमें (एक हद तक) शास्त्रीयता भी है। किन्तु वह न केवल दार्शनिकता के लिए वरन् रसमय काव्यात्मकता के लिए भी प्रसिद्ध है। यदि सम्भव हो सके तो मराठी के साहित्य-मर्मियों से वे इस विषय पर चर्चा करें, और इस विषय की थाह लगायें।

किन्तु यह सही है कि ऊहापोहपूर्ण तर्क-प्रधान शास्त्रीयता काव्य नहीं बन सकती। (भगवतशरणजी शायद यही कहना चाहते हैं।) काव्य में जो दर्शन प्रस्तुत होता है, वह इस प्रकार शास्त्रीय पद्धति से नहीं होता। दर्शन की कुछ स्थापनाएँ कवि अपनी मूल भावधारा में अनायास ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार वह कवि के आभ्यन्तर संवेदनात्मक ज्ञान का अंग बन जाता है। अथवा यह भी होता है कि जीवन-समस्याओं का काव्यात्मक चित्रण करते हुए लेखक अनायास उन समस्याओं के निराकरण का मार्ग बताता है – यह निराकरण का मार्ग ही उसका दर्शन है। ('कामायनी' में ऐसा हुआ है।) यह भी सम्भव है कि अपनी किसी विशेष प्रवृत्ति की औचित्य-स्थापना के लिए, लेखक दर्शन का सहारा ले (जैसा कि 'उर्वशी' में हुआ है)। यह भी सम्भव है कि कोई दर्शन कवि को विशाल विश्व-स्वप्न प्रदान करे, और वह विश्व-स्वप्न उसकी अनुभूति का अंग बन जाये । इस प्रकार का दर्शन कवि की भावना के नेत्र बन जाता है। दूसरे शब्दों में, दर्शन तरह-तरह से, काव्य में प्रकट होता है, एक काव्य-कृति में दर्शन एक विशेष बात की पूर्ति के लिए, तो दूसरे में केवल औचित्य-स्थापना के लिए, तीसरे में किसी भिन्न रूप से।

किन्तु सबमें एक बात सामान्य है और वह यह कि दर्शन – जीवन के ही आयाम के रूप में, जीवन की ही एक अनुभूति के रूप में, एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के रूप में प्रकट होता है। वह ऊहापोहपूर्ण खण्डन – मण्डन – प्रधान तर्क - संचालित शास्त्रीयता के रूप में प्रकट नहीं होता। 'कामायनी' में भी वह शास्त्रीय ढंग से प्रकट नहीं हुआ है। जीवन-समस्याओं के निराकरण के रूप में ही उसे उपस्थित किया गया है। वह मनोवैज्ञानिक रूप से, अनुभूति के ढंग पर, सत्य-स्पर्शी भावना के रूप में, प्रकट किया गया है, बौद्धिक ऊहापोह के रूप में नहीं।

हाँ, यह सही है कि दार्शनिक भावना भी एक विशेष प्रकार की भावना होती है। और बहुतों को उसमें नीरसता दिखाई देती है, यदि वह भावना संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाओं का प्रकाश-रूप है, तो यह हृदय-स्पर्शी होगी ही, बशर्ते कि पाठक उसके

ज्ञान-तत्त्व का वास्तविक ज्ञान मानकर चले। यदि ऐसा नहीं हुआ तो उस दार्शनिक भावन में (उस पाठक के लिए) हृदय-स्पर्शी गुण का अभाव होगा।

हिन्दी के साहित्य -पण्डित भले ही 'कामायनी' की दार्शनिकता के कारण, उसे महत्त्व दें, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ' कामायनी' उत्कृष्ट काव्य न होकर 'निकृष्ट', 'घटिया' काव्य है। (भगवतशरणजी के उक्त कथन को मैं अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण समझता हूँ।)

'कामायनी' अपनी काव्यात्मकता के लिए, जीवन-समस्याओं के काव्यात्मक चित्रण के लिए, हमेशा प्रसिद्ध रहेगी। उसमें उत्कृष्ट काव्यात्मकता है। उसका दर्शन जीवन-समस्याओं पर अनवरत चिन्तन के फलस्वरूप है। अतएव वह जीवन-समस्याओं के निराकरण के रूप में प्रस्तुत हुआ है। उस दर्शन में, उस दर्शन के चित्रण में, कोई दोष नहीं है। उसमें आडम्बर नहीं है। उसमें दार्शनिक दम्भ नहीं है। और बहुत-से स्थानों पर, आधुनिक सभ्यता की कुछ मूल विषमताओं पर, कठोर और प्रखर काव्यात्मक आक्रमण है। संक्षेप में, प्रसादजी की दार्शनिक अनुभूति उनकी भावना के नेत्र हैं।

प्रसादजी की 'कामायनी' का दोष यह नहीं है कि उसमें दार्शनिकता प्रधान है। दोष यह है कि जीवन-समस्याएँ जिस स्तर और क्षेत्र की हैं उस स्तर और क्षेत्र का उसका दार्शनिक समाधान नहीं है (उसकी दूसरी कमज़ोरियों पर प्रकाश डालने का यहाँ स्थान नहीं है) किन्तु यह कहना कि 'कामायनी' में काव्यात्मकता नहीं है, तत्सम्बन्धी अपने घनघोर अज्ञान का ही प्रदर्शन करना है।

'उर्वशी' का दर्शन वस्तुत: कामात्मक संवेदनाओं की आध्यात्मिक परिणति के द्योतन के लिए उपस्थित एक दार्शनिक आडम्बर है। वह कामात्मक अहं की गतिविधियों के औचित्य-स्थापन का प्रयास है। भगवतशरणजी कहते हैं कि वह अप्रासंगिक है। वह अप्रासंगिक नहीं, पूर्णत: प्रासंगिक है। वह ऐश्वर्यवान् सम्पन्न श्रेणी की अनर्गल काम-स्पृहाओं को आध्यात्मिक औचित्य प्रदान करना चाहता है। यह आकस्मिक बात नहीं है कि पुरूरवा की विवाहिता स्त्री को केवल तपस्या का उपदेश दिया गया; किन्तु उसके प्रति दिनकर के हृदय में विशेष करुणा नहीं है।

यदि हम उपर्युक्त सभी स्थापनाओं को एक साथ ध्यान में रखें तो पायेंगे कि आख़िर दिनकर की भाषा विचित्र और बोझिल क्यों है। वे कामात्मक मनोरति और संवेदनाओं में डूबना-उतराना चाहते हैं; साथ ही इस गतिविधि को सांस्कृतिक–आध्यात्मिक श्रेष्ठत्व प्रदान कर, उस श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन – हाँ प्रतिपादन – करना चाहते हैं। अतएव उन्हें

काव्यात्मक स्थिति के बाहर जाकर भी सोचना पड़ता है। इसीलिए भाषा में बोझिल गुण हैं, विचित्र-विचित्र प्रयोग हैं, शब्दों की तोड़-मरोड़ है, ठूँस-ठाँस है। भाषा का अनायास प्रांजल, निर्मल, सरल, चपल प्रवाह देखने को भी नहीं मिलता। भाषा भी समारोह-पूर्वक चलती है, बृहत् आयोजन के साथ; इसीलिए उसकी प्रदीर्घ पंक्तियों में सांस्कृतिक ध्वनियों और प्रतिध्वनियों का निनाद है, और बहुत-से स्थानों पर अर्थ की वायवीय शून्यताएँ हैं। कामात्मक ऐकान्तिक क्षणों की आत्मीयता का स्वर तो भाषा में है ही नहीं। वहाँ तो हर चीज़ प्रदर्शनीय है, भड़कीली है।

# 9. मूल्यों का टकराव : 'उर्वशी'-विवाद

डॉ० नामवर सिंह

जनवरी 1964 की 'कल्पना' में प्रकाशित उर्वशी-परिचर्चा ऐसा ऐतिहासिक दस्तावेज है जिससे समकालीन साहित्य में मूल्यों की सीधी टक्कर का पता चलता है। 'उर्वशी' के निमित्त इस चर्चा में विभिन्न पीढ़ियों और विचारों के इतने कवि-आलोचकों का भाग लेना एक घटना है। एक केन्द्र पर इतने प्रकार के विचारों की टकराहट के ऐसे अवसर कम ही आते हैं। 'कल्पना' 138 में श्री दिनकर की 'उर्वशी' पर श्री भगवतशरण उपाध्याय ने एक समीक्षा-लेख लिखा था। 'कल्पना' 140, 141 और 144 में उस पर कुछ पाठकों के पत्र प्रकाशित हुए। "अन्यत्र प्रकाशित समीक्षाओं, उस समीक्षा और उस पर प्राप्त प्रतिक्रियाओं से हमें लगा कि हमारे **यहाँ साहित्य में जैसे कोई प्रतिमान ही नहीं हैं** और अगर हैं भी तो इतने वायवीय हैं कि हमारी पकड़ से बाहर हैं। किसी भी कृति के मूल्य के सम्बन्ध में जितने माथ उतने मत हो सकते हैं, लेकिन कोई-न-कोई इतनी निरपेक्ष कसौटी तो होनी ही चाहिए जिस पर उसे कसा जा सके और जिसे सब स्वीकार करें। ...किसी भी कृति के सम्बन्ध में कम-से-कम इस बात पर मतैक्य तो होना ही चाहिए कि वह साहित्यिक कृति है या नहीं। मतभेद इस बात पर हो सकता है कि वह उत्कृष्ट है या नहीं।'' सम्पादकीय टिप्पणी का यह अंश औसत पाठक की निराशा और आतुरता को बड़े बेबाक ढंग से प्रस्तुत करता है। जहाँ यह आम निराशा है कि हमारे यहाँ साहित्य में जैसे कोई प्रतिमान ही नहीं है, वहीं यह आतुरता भी है कि उत्कृष्टता के बारे में मतभेद की गुंजाइश होते हुए भी किसी कृति की साहित्यिकता के निर्णय के लिए कोई-न-कोई सर्वसम्मत प्रतिमान होना ही चाहिए। उर्वशी-परिचर्चा जैसे इन्हीं प्रश्नों का उत्तर है, इसीलिए उसकी पड़ताल उपयोगी हो सकती है।

चर्चा में भाग लेनेवाले प्राय: सभी लेखक इस बात पर एकमत दिखायी पड़ते हैं कि काव्य-कृति की आलोचना के लिए काव्येतर प्रतिमान इस्तेमाल न किया जाये। जिन्होंने श्री भगवतशरण उपाध्याय की समीक्षा के साथ कुछ बातों में अपनी सहमति प्रकट की, उन्होंने भी इस तथ्य की ओर संकेत किया कि वह ठेठ साहित्यिक आलोचना नहीं है। मुक्तिबोध के अनुसार "वह बाहर से भीतर की ओर यात्रा है और इस प्रकार की यात्रा के जो खतरे होते हैं वे भी उसमें हैं।'' इसलिए उनका सुझाव है कि "भगवतशरणजी बाहर से भीतर की यात्रा के पूर्व या अनन्तर, यदि सावधानी से भीतर से बाहर की यात्रा भी कर लेते तो उनकी आलोचना में कमजोरियाँ न आ पातीं।'' रघुवीर सहाय की आपत्ति है कि "उस रचना को काव्य नहीं, इतिहास का ग्रन्थ मानकर उसका मूल्य आँका जाना

बिल्कुल अनर्गल बात है।'' धर्मवीर भारती के अनुसार "वास्तव में उस लेख की कमी यह है कि उन्होंने एक काव्यकृति की समीक्षा उस मनोभूमि से की है जो काव्य की समीक्षा के उपयुक्त ही नहीं है।'' दूसरे शब्दों में उसकी कसौटी 'काव्येतर' है। देवीशंकर अवस्थी एक आलोचक की दृष्टि से इस काव्येतर कसौटी की सीमाएँ उद्घाटित करते हुए कुछ और गहराई में जाकर कहते हैं कि "उपाध्यायजी ने पूरे 'उर्वशी' काव्य को एक दृष्टि की समग्रता, अन्तर्योजना, मूल्य-साँचे से सम्पृक्ति के आधार पर नहीं जाँचा। वे कभी तो कथा-स्रोतों की खोजबीन करके बहुत-कुछ चोरी का माल साबित करने पर तुलते हैं तो कभी कवि के भाषा-सम्बन्धी अज्ञान का मजाक उड़ाने लगते हैं। कभी वे छन्द की चर्चा करते हैं तो कभी असंगत बिम्ब-विधान की। उनकी समीक्षा-शैली पुरानी खानेदार आलोचना से कुछ बहुत भिन्न नहीं है। यहाँ आलोचना एवं आलोच्य में संवेदनागत धरातल की एक विचित्र एकता है।'' इस प्रकार उस आलोचना के प्रतिमान की असाहित्यिकता के साथ ही पद्धति अथवा शैली के पुरानेपन का उद्घाटन हुआ। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि हमारे यहाँ साहित्य में जैसे कोई प्रतिमान ही नहीं है। कम-से-कम इस बात में सभी सतर्क हैं कि काव्य-कृति की समीक्षा काव्य-मूल्यों से ही की जाय, किसी काव्येतर मूल्य से नहीं।

किन्तु जब काव्य-मूल्यों की रक्षा का प्रश्न उठता है तो उसके साथ एक नैतिक दायित्व और जुड़ जाता है जो काव्य-मूल्यों को एक व्यापक मूल्य-प्रणाली से सम्बद्ध कर देता है और उर्वशी-परिचर्चा से स्पष्ट है कि जागरूक नये लेखक समस्या के इस पहलू के प्रति अत्यधिक सतर्क हैं। उदाहरण के लिए, इतनी दूर तक तो मुक्तिबोध और अज्ञेय दोनों सहमत हैं कि भगवतशरण उपाध्याय की समीक्षा बहुत-कुछ साहित्येतर है, किन्तु इसके बाद अज्ञेय की दृष्टि में जहाँ वह "लेख छपने लायक नहीं था'' मुक्तिबोध उसे "अत्यन्त उपयोगी'' मानते हैं, क्योंकि 'सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रभाव के परिचालन द्वारा साहित्यिक प्रतिष्ठा और प्रभाव के विकास और प्रसार के दृश्य हिन्दी में खूब ही हैं। ऐसी स्थिति में दम्भ और आडम्बर का उद्घाटन और निराकरण करना भी एक कार्य हो जाता है।''

कहना न होगा कि काव्य-मूल्यों की शुद्धता के बारे में मुक्तिबोध को उतनी ही आस्था है जितनी अज्ञेय को; फिर भी दोनों की दृष्टियों में यदि अन्तर है तो जाहिर है कि उसका स्रोत कहीं और होगा। अज्ञेय के लिए जो लेख 'दूषित दृष्टि' और 'द्वेषभरी मनोवृत्ति' का परिचायक है उसे मुक्तिबोध व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखते हुए यह कहते हैं कि "सामाजिक प्रतिष्ठा के जोर से साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के जो आडम्बरपूर्ण दृश्य हमें यत्रतत्र दिखायी देते हैं, उनसे विचलित होकर वह आलोचना प्रस्तुत की गयी है।

इसीलिए भगवतशरणजी के लेख का अपना अतिरिक्त महत्व है।'' अज्ञेय जिसे एक व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक व्याधि समझकर सन्तोष कर लेते हैं मुक्तिबोध उसी को सामाजिक व्याधि के रूप में देखकर मूल्य-निर्णय देते हैं। इस प्रश्न पर लेखकों में स्पष्टत: दो वर्ग हो ज़ाते हैं–यहाँ तक कि पीढ़ियों का भेद भी मिट जाता है। लेखकों का एक वर्ग वह है – जो सुरूचि, संयम, सन्तुलन और भद्रता के नाम पर भगवतीशरण उपाध्याय के लेख की भर्त्सना करता है और दूसरा वर्ग वह है जो ईमानदारी, सच्चाई, साहस और खरेपन के लिए उस लेख को सामाजिक दृष्टिसे अत्यन्त उपयोगी मानता है। एक ओर अज्ञेय, नगेन्द्र, कुँवरनारायण, शिवप्रसाद सिंह आदि हैं तो दूसरी ओर मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, रघुवंश, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकान्त वर्मा, देवीशंकर अवस्थी आदि। स्पष्ट है कि स्वयं नयी कविता के अन्दर ही इस प्रश्न पर दो दल हो गये और उनमें से एक हिस्सा सुरूचि के नाम पर तथाकथित प्रस्थापित दल (इस्टैब्लिशमेंट) के साथ मिल गया। इसके साथ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रस्थापित दल के श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री सुमित्रानन्दन पन्त प्रभृति वरिष्ठ कवि इस प्रश्न पर एकदम मौन हैं। एक की दृष्टि में सारा प्रश्न सुरूचि और सन्तुलन का है तो दूसरे की दृष्टि में लेखक की नैतिकता का। स्पष्टत: बुनियादी मतभेद प्रश्न की वास्तविक प्रकृति–प्रश्न को निरूपित करने के सन्दर्भ और उसकी भाषा का है। आपातत: तुच्छ प्रतीत होनेवाला यह मतभेद मूल्य-सम्बन्धी दो भिन्न दृष्टियों का गहरा अन्तर है। एक ओर कुँवरनारायण का कहना है कि "यों उस टोन'' में लिखी गयी समीक्षाएँ मुझे नहीं पसन्द आती–चाहे जितनी महत्वपूर्ण बात उसमें उठायी जाय''; क्योंकि वह स्वर 'असांस्कृतिक' है। दूसरी ओर रघुवीर सहाय की राय में "वह बहुत ताजी, ईमानदार और खरी आलोचना है और दिनकरजी को इस तरह का व्यवहार गुण भी करेगा।''

मूल्यबोध के स्तर पर इन दोनों दृष्टियों में जो अन्तर है उसे लक्ष्मीकान्त वर्मा ने स्पष्ट करते हुए कहा कि "यह हिन्दी के लिए बड़े दुर्भाग्य की बात है कि जब कभी भी कोई बात तीव्र एवं तीक्ष्ण ढंग से कही जाती है तो लोग बराबर उसका अर्थ व्यक्तिगत राग-द्वेष से जोड़कर उसके महत्व को कम कर देते हैं। बात जो कही गयी है मीठी है या कड़वी है, तेज है या कुण्ठित है, इसका विश्लेषण तो होने लगता है किन्तु यह प्रश्न उठाना लोग भूल जाते हैं कि बात गलत है या सही है, सप्रमाण है या गैरजिम्मेदार है।.....सत्य की परख जब छूट जाये या उसकी क्षमता न रह जाये और उसके बदले 'शराफत' की दुहाई देकर सत्य का गला दबाने का प्रयास किया जाये, तो वह घातक सिद्ध होता है। मेरा अपना मत है कि इससे विकास की गति तो धीमी पड़ती ही है, साथ ही मूल्य भी कृत्रिमता का रूप धारण करने लगते हैं।' इस प्रकार इस प्रसंग में सुरूचि के विरूद्ध सत्य को प्रस्तुत करके

जागरूक नये लेखकों ने काव्यविषयक मूल्यांकन को नैतिकता का एक नया आयाम प्रदान किया जिसमें निहित अर्थापत्तियाँ काफ़ी दूरगामी हैं। इस तीखे मूल्यबोध को देखते हुए क्या यह कहना संगत है कि हमारे यहाँ साहित्य में जैसे कोई प्रतिमान ही नहीं है? क्या पुराने प्रतिमानों की कृत्रिमता को विस्थापित करके नये प्रतिमानों को प्रतिष्ठित करने का यह प्रयास नहीं है? निस्सन्देह मूल्यगत संक्रमण के इस युग में नये मूल्यों की पूरी प्रतिष्ठा के पूर्व वातावरण में कुछ तो धुन्ध रहेगी ही, किन्तु उसे मूल्यहीनता कहना संगत नहीं है।

कुछ लोगों के लिए यह मूल्यगत मतभेद काव्य के लिए अप्रासंगिक अथवा काव्येतर हो सकता है किन्तु जैसा कि मुक्तिबोध ने इसी प्रसंग में दिखलाया है, उक्त साहित्येतर आडम्बर स्वयं रचना के साथ प्रगाढ़ भाव से सम्बद्ध है। "उर्वशी' में स्वाभाविकता के स्थान पर शब्दजाल और आडम्बर होने के कारण दिनकरजी के प्रति इस प्रकार के सन्देह की पुष्टि होती है।'' यह कथन नये जागरूक लेखकों के उस सुसंगत मूल्यबोध का सूचक है जिसके अनुसार काव्य-मूल्य किसी लेखक के जाने-अनजाने उसके सम्पूर्ण जीवन-मूल्यों की प्रणाली का अविभाज्य अंग है। इसीलिए आकस्मिक नहीं कि स्वयं काव्यकृति के मूल्यांकन में भी मूल्यों की टकराहट परिलक्षित होती है।

'उर्वशी' एक काव्यकृति है—सम्भवत: सफल एवं महत्वपूर्ण काव्यकृति है, इससे किसी को बहस नहीं है; बहस है तो उसके महत्व को लेकर। आलोचकों का एक वर्ग ऐसा है जो उसे 'रामचरितमानस' के बाद 'कामायनी' के समकक्ष नहीं तो उससे कुछ ही घटकर मानता है और यदि छायावादोत्तर कविता के सन्दर्भ में 'उर्वशी' के मूल्यांकन का प्रश्न उठे तो वे उसे असन्दिग्ध भाव से इस दौर की सर्वोत्कृष्टि कृति घोषित कर दें। किन्तु स्पष्ट है कि 'महत्व' का प्रश्न मूल्यों से सम्बन्द्ध है इसलिए नये मूल्यों की खोज और निर्माण में रत नये सर्जक यदि 'उर्वशी' के उस महत्व के सामने प्रश्नचिन्ह लगाते हैं तो यह मूल्यगत अराजकता के प्रसार का प्रयास नहीं बल्कि पुराने और नये मूल्यों का सर्जनात्मक टकराव है।

परिचर्चा में भाग लेनेवाले अन्य लेखकों को छोड़कर यदि केवल 'तारसप्तक' के कवियों के विचारों तक ही अपने को सीमित रखें, तो अत्यन्त रोचक तथ्य उपलब्ध होते हैं। अज्ञेय के 'उर्वशी' के काव्यगुण पर कुछ कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई, किन्तु संयोग से 'तारसप्तक' के पाँच कवियों ने उस पर अपना मत व्यक्त किया है—रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द्र जैन, भारत-भूषण अग्रवाल और मुक्तिबोध। इनमें केवल रामविलास शर्मा और भारतभूषण अग्रवाल को 'उर्वशी' पसन्द आयी और महत्वपूर्ण भी लगी।

रामविलास शर्मा के अनुसार "दिनकरजी उदात्त" भावनाओं के कवि हैं। उनके स्वरों में ढलकर उर्वशी की प्राचीन कथा सहज ही रीतिकालीन श्रृंगार-परम्परा से ऊपर उठ गयी है। निरालाजी के बाद मुझे किसी वर्तमान कवि की रचना में ऐसा मेघमन्द्र स्वर सुनने को नहीं मिला जैसा दिनकर की 'उर्वशी' में। इस काव्य में जीवन-सम्बन्धी ऐसे अनेक प्रश्न प्रस्तुत किये गये हैं जिन्हें वर्तमान युग का कवि ही प्रस्तुत कर सकता था। 'उर्वशी' में नारी-सौन्दर्य के अभिनन्दन के अतिरिक्त मातृत्व की प्रतिष्ठा भी है। आज के कुण्ठावादी मरूप्रदेश में आस्था के ये स्वर मुझे अच्छे लगते हैं—

चिन्तन कर यह जान कि तेरे
क्षण-क्षण की चिन्ता से,
दूर-दूर तक के भविष्य का
मनुज जन्म लेता है।
उठा चरण यह सोच कि
तेरे पद के निक्षेपों की
आगामी युग के कानों में
ध्वनियाँ पहुँच रही हैं।"

भारतभूषण अग्रवाल को 'उर्वशी' इसलिए महत्वपूर्ण लगती है कि "प्रणय-काव्य होते हुए भी 'उर्वशी' में लुजलुजी कोमलता नहीं है, उसमें ओज का विलक्षण सम्मिश्रण है। यह प्रमाण है कि कवि प्रणय-कथा कहने नहीं बैठा है, नया सन्देश देने आया है।.....नारी-जीवन का कोई भी पक्ष उसकी दृष्टि से नहीं छूटा है।" इस प्रकार "यह एक प्रौढ़ कवि की प्रौढ़ कृति है जो हिन्दी-काव्य की प्रौढ़ता की घोषणा करती है।" यहीं नहीं बल्कि भारतभूषण अग्रवाल की दृष्टि में समसामयिक हिन्दी काव्य के चार उल्लेखनीय प्रबन्ध-काव्य 'कुरूक्षेत्र', 'अन्धायुग', 'कनुप्रिया' और 'उर्वशी' में 'शिल्प और काव्यत्व की दृष्टि से 'उर्वशी' इनमें अन्यतम है।"

इसके विपरीत प्रभाकर माचवे और नेमिचन्द्र जैन को दिनकर की 'उर्वशी' की अपेक्षा 'कुरूक्षेत्र' पसन्द है। नेमिचन्द्र जैन की राय में 'कुरूक्षेत्र' की तुलना में उर्वशी बहुत ही अक्षम और दुर्बल है। माचवे को दिनकर की कविता में केवल एक विशेषता दिखायी पड़ती है—वक्तृत्व-गुण। नेमिचन्द्र जैन की दृष्टि में "इस पंचांकी नाटक का तीसरा अंक केन्द्र ही नहीं, उसका सारभाग है" जिसमें मार्मिक स्थल विपुल हैं; फिर भी "कुल मिलाकर 'उर्वशी' में अनावश्यक और अनर्गल की मात्रा बहुत अधिक है। उसमें आन्तरिक असंगति.

अस्पष्टता, उद्देश्य तथा उसके कार्यान्वित होने में शिथिलता, भागवत तथा रूपगत दोनों प्रकार की मिथ्या स्फीति, छोटी बात को बढ़ाकर कहने, भारी-भरकम बनाने और विस्तार देने की प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि उसकी बहुत-सी मार्मिकता और सुन्दरता मरू-प्रदेश की धारा की भाँति विलीन रहती है।'' यही नहीं बल्कि रामविलास शर्मा और भारतभूषण अग्रवाल के मत के सर्वथा विपरीत नेमिचन्द्र जैन का यह दृढ़ मत है कि "'उर्वशी' आधुनिक चेतना का काव्य नहीं है।''

मुक्तिबोध की बुनियादी आपत्ति दिनकर की काव्यभाषा पर है जिसमें माचवे को 'वक्तृत्व गुण' दिखायी पड़ता है और रामविलास शर्मा को निराला के बाद 'मेघमन्द्र स्वर' सुनायी पड़ता है। भाषा के प्रति अपनी संवेदनशीलता का परिचय देते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं कि पुरूरवा और उर्वशी "वागाडम्बर द्वारा, शब्द सुख द्वारा, रति-सुख का पुनः-पुनः बोध करते-से, सांस्कृतिक ध्वनियों और प्रतिध्वनियों का निनाद करते हैं, मानो पुरूरवा और उर्वशी के रति-कक्ष में भोंपू लगे हों, जो शहर और बाज़ार में रति-कक्ष के आडम्बरपूर्ण कामात्मक संलाप का प्रसारण-विस्तारण कर रहे हों।'' इसका कारण "बलात् उत्तेजित कल्पना'' है; इसलिए "प्रयास-सिद्ध होने के कारण वह भाषा को भी आयाससिद्ध और जड़ बना देती है।'' इस प्रकार मुक्तिबोध काव्य-भाषा से अपना विश्लेषण आरम्भ करके 'उर्वशी' की रचना-प्रक्रिया की बारीकियों में प्रवेश करते हैं और वागाडम्बर के मूल स्रोत को खोज निकालते हैं। निष्कर्षस्वरूप "उर्वशी का मूल दोष यह है कि वह एक कृत्रिम मनोविज्ञान पर आधारित काव्य है।'' वास्तविकता यह है कि "वे कामात्मक मनोरति और संवेदनाओं में डूबना-उतराना चाहते हैं; साथ ही इस गतिविधि को सांस्कृतिक-आध्यात्मिक श्रेष्ठत्व प्रदान कर, उस श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन करना चाहते हैं। अतएव, उन्हें काव्यात्मक स्थिति के बाहर जाकर भी सोचना पड़ता है। इसलिए भाषा में बोझिल गुण हैं, विचित्र-विचित्र प्रयोग हैं, शब्दों की तोड़-मरोड़ है, ठूँस-ठाँस है। भाषा का अनायास प्रांजल, निर्मल, सरल, चपल प्रवाह देखने को भी नहीं मिलता। भाषा भी समारोहपूर्वक चलती है—बृहत आयोजन के साथ; इसलिए उसकी प्रदीर्घ पंक्तियों में सांस्कृतिक ध्वनियों और प्रतिध्वनियों का निनाद है, और बहुत-से स्थानों पर अर्थ की वायवीय शून्यताएँ हैं।''

मुक्तिबोध ने 'उर्वशी' की जो आलोचना की है उसके पीछे नयी कविता का आत्मसजग भावबोध है और प्रकारान्तर से 'उर्वशी' की आलोचना में उस नये भावबोध की ही विभिन्न छायाएँ प्रकट हुई हैं। 'उर्वशी' के निमित्त स्वयं 'तार-सप्तक' के प्रयोगशील कवियो के काव्यबोध के बहुरंगी स्तरों का उद्घाटन हो जाता है और पता चलता है कि किसके बोध में पिछली रूमानियत का कितना रंग अवशिष्ट है। 'उर्वशी' की आलोचना के प्रसंग

म यादे रामविलास शर्मा एक छोर पर हैं और मुक्तिबोध दूसरे छोर पर—तो केवल संयोग की बात नहीं है। अन्तर भाषा-बोध का ही नहीं बल्कि मूल्यबोध का भी है। एक के लिए जो भाषा उदात्त है, दूसरे के लिए कोरा वागाडम्बर है। एक को जहाँ आस्था का स्वर सुनायी देता है, दूसरे को थोथी दार्शनिकता। दोनों ही 'तारसप्तक' कवि हैं और साथ ही प्रगतिशील विचारधारा से सम्बद्ध भी, फिर भी काव्यबोध में इतना अन्तर ! स्पष्ट ही यह व्यक्ति रूचि-भेदमात्र नहीं बल्कि दो भिन्न सुसंगत मूल्य-प्रणालियों का अन्तर है, जिनके सीधे टकराव में सार्थक एवं प्रसंगानुकूल मूल्यों के विकास की सम्भावना निहित है। सम्प्रति नयी पीढ़ी ने मुक्तिबोध में रचनात्मक सम्भावना का पुनराविष्कार कर प्रमाणित कर दिया है कि उस टकराहट में मुक्तिबोध की ही दिशा ठीक थी।

# 10. 'जन-कवि' होने का अर्थ

डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी

नागार्जुन कविता की बनी-बनायी दुनिया से बाहर खड़े होकर रचते हैं। ज़्यादातर कवि कविता की दुनिया में रहकर रचते हैं या रचना शुरू करते ही कविता की दुनिया में चले जाते हैं। ऐसे लोग प्राय: 'दिखलायी दे रही दुनिया' को नहीं 'स्मृत दुनिया' को प्रस्तुत करते हैं। नागार्जुन में कवि-मुद्रा मिलती ही नहीं, वे अपने को जन-कवि कहते ज़रूर हैं। ऐसा लगता है कि अन्य प्रकार के कवियों से अपने को भिन्न करने के लिए नागार्जुन अपने को जन-कवि कहते हैं। इस जन-कवि की घोषणा में एक विशेष तेवर है – एक आन्दोलन, एक ऐतिहासिक विचारधारा से जुड़े रहने का स्वाभिमान है। बहुत कुछ उस प्रकार का जैसे भक्त कवियों को भक्ति का बल होता था। यह 'जन' जैसे उनके कुल-शील का परिचायक हो। नागार्जुन विनम्र होते हैं और अक्खड़पन दिखाते हैं। वे व्यंग्य करते हैं, 'टिलटिली' दिखाते हैं। नागार्जुन हिन्दी के उन अति विरल कवियों में से हैं जिनमें 'आत्मदया' की मन:स्थिति नहीं मिलेगी। मुझे कबीर ही अन्य कवि दिखलायी पड़े जिनमें आत्मदया नहीं। जहाँ अन्य लोग अभिभूत होते हैं, मुँह बाये चकित होते हैं या आक्रोश में आते हैं, नागार्जुन हँसते हैं। चिढ़ाते हैं। बंगाली मिठाइयों की दूकान का नाम है 'मधुक्षरा'। उनके पास पैसे नहीं कि अन्दर जाकर देखें और मिठाई खायें। वह कल्पना करते हैं, मधुक्षरा – क्या इनसे शहद चूता है। ठीक है – पैसा न, सही लेकिन जब होगा तब खाकर देखेंगे, जाँच लेंगे कि इनमें क्या है, "कोई बात नहीं ! कोई बात नहीं ! कभी-न-कभी टेस्ट लेंगे मधुक्षरा का।"

व्यंग्य विषमना या विरूपता से उत्पन्न होता है। विषमता सुषमा या औचित्य की विरोधी है। जो होना चाहिए वह न होने पर या जो नहीं होना चाहिए उसके होने पर विरूपता होती है। विरूपता एक प्रकार की विकलांगता है। कुछ लोग मोटी तोंद पर, छोटी नाक पर ही हँसना जानते हैं। हिन्दी के कवि-सम्मेलनों और अनेक सचित्र पत्रिकाओं में हास्यरस के नाम पर ऐसी भोंडी रुचि की कविताएँ सुनने-पढ़ने को मिलती हैं। शारीरिक विरूपता की तरह सामाजिक विरूपता होती है। शोषक और शोषित का वर्ग-विभाजन मानव-समाज की सबसे बड़ी विषमता और विरूपता है। शारीरिक विरूपता प्रकृति - निर्मित है, उसके लिए मनुष्य खुद जिम्मेदार नहीं, इसलिए कुरूप व्यक्ति अन्तत: हास्यास्पद नहीं, करुणा का पात्र है। फिर कुरूप व्यक्ति आन्तरिक गुणों के कारण आकर्षक भी हो सकता है। जायसी कौन थे ! कहते थे कि जो मुझे सिर्फ देखता है वह हँसता है, जो (कविता) सुनता है वह रोता है।

सामाजिक विरूपता मनुष्य निर्मित है। उसके लिए प्रकृति जिम्मेदार नहीं। मानव-इतिहास की विडम्बना है कि अन्यायी प्राय: शक्तिशाली होते हैं। ऐसा सुयोग कम होता है कि शक्तिशाली न्यायी अथवा मानवीय हो। निराला के राम की पीड़ा का कारण ही है–'अन्याय जिधर है, उधर शक्ति'। अब शक्तिशाली अन्यायी पर हँसने की मन:स्थिति कैसे पैदा होती है। कबीरदास, सांसारिक तौर पर सफल लोगों के इतराने पर उन्हें आगाह करते थे–'आये हैं सो जाहिंगे राजा रंक फकीर।' वे काल-बोध का उपयोग अन्यायियों और सांसारिक सफलता पर इतरानेवालों को डराने-धमकाने के लिए करते थे। सब चले जायेंगे। रह जायगा सिर्फ राम। इसलिए समझदारी राम की भक्ति करने में है। यह कबीर आदि भक्त कवियों का भाव-बोध था। इस पर स्थित वे अपने विरोधियों पर हँसते थे, उन्हें अज्ञानी, भटका, मायाग्रस्त समझते थे।

नागार्जुन के पास क़ाल-बोध की नहीं, इतिहास-बोध की शक्ति है। सत्य क्या है क्या नहीं, यह विवादास्पद है। किन्तु यह शोषक व्यवस्था असत्य है। इस असत्य शोषक व्यवस्था पर आक्रमण शुरू हो गये हैं। शोषक व्यक्तियों की स्थिति पहले से बहुत कमज़ोर है। आज शोषकों की सुरक्षापूर्वक आलोचना की जा सकती है, उनका भाँडाफोड़ किया जा सकता है। वे खुद जानते हैं कि बेईमान हैं और देर तक टिकनेवाले नहीं हैं। यह इतिहास-बोध दो काम करता है–शोषकों का कच्चां-चिट्ठा सामने रखता है, उन्हें अजेय नहीं बनने देता। उनके नाश के लिए, । भगवान को बैकुण्ड छोड़कर धरती पर आने की ज़रूरत नहीं और 2. कवि को 'जन' का पक्षधर बनाकर उनमें आत्मगौरव का भाव भरता है। 'युगधारा'की पहली कविता है- 'जन-वन्दना'। हे कोटिशीर्ष, हे कोटि बाहु, हे कोटि भरण !' यह भगवान के विराट रूप के ही वजन पर जनमानस का विराट रूप है। कविता में 'जन' ने कभी वाराह, कभी महारुद्र का रूप धारण कर लिया है। नागार्जुन जन-कवि हैं। जन सबसे बड़ी शक्ति है, उसकी निष्ठा जीवन को सार्थकता प्रदान कर सकती है, निर्भय बना सकती है। शोषक अमानवीय दानव हैं। शक्तिशाली लगते- भर हैं, वस्तुत: हैं नहीं। वे मूर्ख, अज्ञानी, हास्यास्पद, क्रूर हैं। नागार्जुन के व्यंग्य का भी आधार जननिष्ठा है। उनका भाव-बोध भक्तों से मिलता-जुलता है। भाव-बोध में बोध का अन्तर ज्यादा है, भाव का कम।

भक्ति से 'मिलता-जुलता' कहने से भ्रम पैदा हो सकता है। किसी बड़े उद्देश्य के लिए कोई त्याग तभी कर सकता है ज़ब वह महाराग में बद्ध हो। भक्ति महाराग है। स्वाधीनता-आन्दोलन के दिनों में हमारे देश के हजारों-लाखों व्यक्ति इस महाराग से अनुप्राणित थे। भगतसिंह, आजाद आदि ने आखिर किसी बड़े सुख का अनुभव करने के

बाद शरीर का मोह छोड़ा होगा। वियतनाम के लोगों ने यों ही केवल कर्त्तव्य-वश इतना बड़ा बलिदान नहीं किया होगा। कुप्स्काया कहती थीं कि 'लेनिन मज़दूरों को प्यार करते थे। इस प्यार के बिना क्रान्ति नहीं हो सकती।'

नागार्जुन की कविता इस महाराग से अनुप्राणित है। भक्ति के पास वह बोध नहीं था कि भक्ति के बिना भी सभी मनुष्य समान हैं। कोई अवर्ण भक्त न भी हो तो भी वह द्विज से हीन नहीं है। नागार्जुन की कविता 'हरिजन गाथा' पर अभी पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। यह भारतीय साहित्य की प्रथम रचना है, जिसमें एक सामान्य हरिजन बच्चे को अवतार का दर्ज़ा दिया गया है। कृष्ण-जन्म के मिथक का इस्तेमाल इसमें इतिहास-बोध के आधार पर किया गया है। जैसे बाल-कृष्ण को कंस से बचाने के लिए जन्मस्थान से हटा दिया गया था, वैसे ही 'कलुआ' को। कंस कौन है?

आज भगाओ, आज भगाओ, तुम लोगों को मोह न घेरे होशियार, इस शिशु के पीछे लगा रहे हैं गीदड़ फेरे। बड़े-बड़े इन भूमिधरों कों यदि इसका कुछ पता चल गया दीन-हीन छोटे लोंगो को समझो फिर दुर्भाग्य छल गया।

अवतार-कथाओं में नारद, शंकर आदि ज्योतिषी बनकर आते हैं। वे दर्शन करते हैं और बालक के वास्तविक रूप को बताकर उसका उज्जवल भविष्य बताते हैं। यहाँ यह भूमिका रैदासी कुटिया के अधेड़ सन्त गरीबदास ने निभायी है। सन्त ग़रीबदास और कोई नहीं, वस्तुत: नागार्जुन ही हैं। आप जानते होंगे कि रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार अपने इष्ट से मिलने के लिए तुलसी और सूर ने भी कुछ इसी तरह के काव्य-छल से काम लिया है। मानव-सभ्यता के भावी उद्धारकर्ता का रूप कैसा होगा। क्या वह 'आजानु भुज शर चाप धर संग्राम-जित खर दूषणम्' होगा या 'गौर वर्ण, दीप्त दृग, सौम्य मुख', 'रक्तालोक स्नात पुरूष' होगा। नहीं, वह 'कलुआ' होगा -

खान खोदनेवाले सौ-सौ मजदूरों के बीच पलेगा।
युग की आँचों में फौलादी साँचों जैसा वही ढलेगा।

नागार्जुन हरिजनों के मिथक, उद्धारक या पक्षधर मात्र नहीं हैं। वे 'हरिजनों' को प्यार करते हैं। निम्नवर्ग के अवर्ण उनके उसी महाराग के आलम्बन हैं, जो अपने समय में भक्ति का और स्वाधीनता-आन्दोलन में देश-प्रेम का आधार था। हरिजनों को ज़िन्दा जला देने की घटना ऐसी थी कि हरिजन माताओं के भ्रूण गर्भ-कुक्षियों के अन्दर दौड़ने लगे। उन्होंने गर्भ में, सूक्ष्म शरीर में इतनी पीड़ा भोगी कि हथेली पर भाग्य की रेखाओं के रूप में हथियार के चिन्ह हैं —

आड़ी-तिरछी रेखाओं में हथियारों के ही निशान हैं,
खुखरी है, बम है, असि भी है गंडासा-भाला प्रधान है।

यह हरिजन अवतार का शिशु नागार्जुन की सृष्टि है और इसकी पीड़ा नागार्जुन के मानस ने झेली है। यह भी संयोग है कि हिन्दी में हरिजन-अवतार की सृष्टि मैथिल ब्राह्मण कवि नागार्जुन वैद्यनाथ मिश्र 'यात्री' ने की।

एक कविता नहीं, नागार्जुन ने अनेक कविताओं में नौजवान क्रान्तिकारियों के प्रति अपनी वेदना व्यक्त की है। हिन्दी के शायद ही किसी अन्य कवि ने नयी पीढ़ी को—विशेषकर अंशिक्षित, अवर्ण बालकों, नौजवानों को इतनी आत्मीयता दी हो। नागार्जुन की एक कविता है—'आओ मैं तुम्हें अपना चुम्बन दूँगा।' कविता में आन्दोलनकारी विद्यार्थियों समेत नयी पीढ़ी के विद्रोहियों का स्वागत-अभिनन्दन किया गया है। एक कविता है—'धज्जी-धज्जी उड़ा दी छोकरों ने इमर्जेन्सी की।' नागार्जुन कवि-रूप में नयी पीढ़ी के लिए सबसे सन्दर्भवान् हैं। वे अपनी कविताओं में कई बार किसी नवयुवक के साथ अन्तरंग आलाप में दिखलायी पड़ते हैं, मानो अपनी मानसिक प्रक्रिया अपने उत्तराधिकारियों को समझा रहें हों, उनसे बहस कर रहें हों। एक कविता है-'पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने'। उसमें इनकी मानसिक स्थिति के साक्षी रत्नेश्वर हैं। नागार्जुन ने 'शिशु भास्कर' देखा। रत्नेश्वर नौजवान पोस्ट्ग्रेजुएट हैं। जेल में कोई आसन त्यागी विधायक रहे होंगे। वे आजीवन बन्दी आदिवासी साँवले-सलोने युवक को अपने खानदानी नौकर की तरह डाँटने लगे। नागार्जुन ने कविता लिखी—यह आपका 'वेतनभोगी टहलुआ' नहीं है। नक्सलवादी नवयुवकों पर जो अत्याचार होता है, उस पर अपनी पीढ़ी के कवियों में सबसे ज्यादा कविताएँ नागार्जुन ने लिखी हैं। उनके वात्सल्य का क्षेत्र व्यापक और विविध है। इसमें दन्तुरित मुस्कान, गुलाबी चूड़ियाँ से लेकर 'भोजपुर' तक का भाव-बोध व्याप्त है। उनकी नयी पीढ़ी सम्बन्धी कविताएँ एकत्र की जानी चाहिए। उसी में एक कविता धनिक-पुत्र पर भी है, नागार्जुन ने 'गोहुँअन का पोहा' कहा है जो बचपन से ही सिगरेट टानना सीख गया है। 'चन्दू मैंने सपना देखा' इसी भाव-क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण कविता है। इस वात्सल्य में नयी पीढ़ी के प्रति स्नेह ही नहीं, और भी बातें हैं। उमर सभी की बढ़ती है, बुड्ढे सभी जीवित रहनेवाले होते हैं, किन्तु अपने बुढ़ापे को स्वीकार कम ही लोग कर पाते हैं। जो लोग अपने बुढ़ापे को स्वीकार कर पाते हैं वे गतकालिक नहीं होते, वे नयी पीढ़ी के लिए सन्दर्भवान बने रहते हैं। नहीं तो बुड्ढों का ज़्यादा समय अपना बुढ़ापा छिपाने में ही गुज़र जाता है। उनकी उक्तियों में भी खिजाब, काजल-मिस्सी की बू आती है। नागार्जुन इधर की कविताओं में अपने को कई बार बुड्ढा कहते हैं। 'नेवला' में बार-बार आने वाला 'बुड्ढा बन्दर'

नागार्जुन ही हैं -

सो शैतान (नेवला) ने
अपने पैने दाँत गड़ा दिये थे इस बूढ़े बन्दर की
नाक की नोक पर।

जो रचना में निर्वैयक्तिकता की बात करते हैं, वे नागार्जुन से आत्मनिर्ममता और अपने से भी तटस्थ होना सीखें।

व्यंग्य सबके बस की बात नहीं है। व्यंग्य गम्भीर विधा है। व्यंग्य बीरबलों का काम नहीं। नागार्जुन बौद्ध-साहित्य एवं दर्शन के पण्डित हैं। कालिदास का उन पर गहरा प्रभाव है। वे जीवन और मृत्यु की समस्या से जूझते होंगे। उनकी अनेक कविताओं में 'विनय-पत्रिका' जैसा गम्भीर आत्म-मन्थन मिलता है। दीर्घ जीवन किसे प्यारा नहीं। लेकिन जब जीवन के साथ मिले, तब वांछनीय है। 64 वर्ष की आयु में नागार्जुन ने लिखा-

गिरता-पड़ता, लड़खड़ाता लार की बूँदों के तार टपकाता
लकवाग्रस्त, पराश्रित अपंग
पसन्द आयेगा तुम्हें ऐसा सुदीर्घ जीवन
पुरखों के सुयश का बखान करता
बचपन और तरुणाई की अपनी उछल कूद की डींगे मारता
प्रवचन की ओट में अपनी अकर्मण्यता को ढँकता
पसन्द आयेगा तुम्हें ऐसा सुदीर्घ जीवन
लिंग-लौल्य, रसना-रास, वासनाओं का चैतसिक चुम्बन
लालसाओं का ललित लास्य
बाहर-बाहर प्रतिष्ठा का आटोप आडम्बर।

'बहुत प्रीति पुजाइबे की पूजिबे की चोरि' और 'ज्यों चितई पर नारि सुने पातक प्रपंच घर घर के' लिखते तुलसीदास की मन:स्थिति कुछ-कुछ इसी प्रकार की रही होगी। तुलसी को इससे बचने का रास्ता भक्ति में दिखलायी पड़ता था। नागार्जुन बुड्ढे हैं, लेकिन बुढ़ापे के विकारों को पहचानने में सतर्क हैं। वे ऐसा दीर्घ जीवन अस्वीकार करते हैं। ऐसा दीर्घ जीवन स्वीकार करनेवालों पर हँसते हैं। कैम्पस के तरुणों, विद्रोहियों, आदिवासी साँवले युवकों में घुले-मिले हैं। नागार्जुन इतिहास-गति के सहचर हैं।

नागार्जुन ने ईश्वर की समस्या पर विचार करते हुए जो कविता लिखी है वह मुक्तिबोध की इसी विषय पर लिखी गयी कविता से मिलती है। भगवान कल्पनापुत्र हैं। नागार्जुन सबसे नजदीक हैं बौद्धि-दर्शन के। बौद्ध-दर्शन में 'असत्' ही 'सत्' है। अन्य दर्शन जिस सत्य की खोज करके अपनी सार्थकता प्रमाणित करते हैं, विभज्यवाद उसकी सत्ता ही नहीं स्वीकार करता। लेकिन बौद्ध-दर्शन की वास्तविक शक्ति इस 'बोध' में नहीं, उसकी शक्ति महान् करुणा में है। कवि नागार्जुन में यह करुणा मार्क्सवादी आक्रोश एवं समाजवादी निष्ठा के साथ है। उनका मन द्वन्द्वात्मक जगत में रमता है। उसके सुख-दुख:, शोक, हर्ष आदि उनके सरोकार हैं। उनके यहाँ बौद्ध-निर्ममता से एक महान ममता पैदा होती है। उनके व्यंग्य में करुणा है – वही सामाजिक विषमता की भूमि पर जाकर व्यंग्य का रूप धारण कर लेती है। कोई भी मनोविकार, इस करुणा पर आधारित होकर सर्जनात्मक उत्कर्ष प्राप्त करता है। इसके बिना जब व्यंग्य पैदा करने की कोशिश की जाती है तो वह स्वयं हास्यास्पद हो जाता है।

नागार्जुन के रचनाकार व्यक्तित्व में व्यंग्य, करुणा, देश-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, राजनीति, माया-प्रेम–सब परस्पर सम्बद्ध हैं। वे सब एक-दूसरे में घुले-मिले हैं, उनका प्राय: कार्य-कारण सम्बन्ध है। उनका व्यंग्य करुणा पर आधारित है, तो करुणा जीवन की स्वीकृति पर। नागार्जुन प्रबल इन्द्रिय-बोध के कवि हैं। रूप, वर्ण, गन्ध, स्वाद, स्पर्श का ऐसा 'तद्गतेनमनसा' भोग सब लोग नहीं कर सकते। 'पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने' कविता में आस्तिकता-नास्तिकता का उतना चक्कर नहीं है। 'निशा शेष ओस की बूँदियों से लदी अगहनी धान की दुद्धी मंजरियाँ प्रभाती-किरणें उगते सूरज के अरुण अरुणपूर्ण बिम्ब' के प्रभाव का चित्र है, जिसने कवि की चेतना को अभिभूत कर दिया है। आस्तिक की सर्वोत्तम कल्पना ईश्वर है। यह दृश्य नागार्जुन की सर्वोत्तम कल्पना का साकार रूप – जैसा है। इसलिए वे आस्तिक हो उठे हैं। जोश मलीहाबादी का एक शेर है-

हम ऐसे अहलेनजर को सुबूते हक़ के लिए
अगर रसूल न होते तो सुबह काफ़ी थी।

प्रात:काल का दृश्य परमसत्ता के अस्तित्व को प्रमाणित करने में समर्थ है। हज़रत मुहम्मद का काम प्रात:कालीन दृश्य भी कर सकता था। मूलत: यह भौतिकवादी सौन्दर्यबोध है जो ईश्वर को सौन्दर्य का प्रतीक बनाकर अपना लौकिक अनुभव सम्प्रेषित करना चाहता है। नागार्जुन इन्द्रिय-भोग या इन्द्रिय-आस्वाद का अनुभव कुण्ठाहीनता से व्यक्त करते हैं। पानी, अन्न, हवा, धूप, गन्ध सन्तुष्ट करते हैं। लेकिन प्यासे को पानी, भूखे को अन्न, जो सन्तोष या तृप्ति देते हैं, उस तृप्ति का अनुभव नागार्जुन की कविता में मिलता है।

व इनका स्वाद लेते समय कृत्रिम आवरण उतार देते हैं, यह तृप्ति ठेठ किसानी है जिसकी प्रवृत्ति और उसकी सम्पदा से उसकी आत्मीयता होती है। 'बहुत दिनों के बाद' में दीर्घकाल के रूप, रस, गन्ध, श्रवण आदि के प्रिय विषयों के अभाव की हूक और फिर उन्हें छककर भोगने की अकुण्ठ तृप्ति का आनन्द है। इसे ब्रह्मानन्द ही समझिए। इनके अभाव की हूक का अनुभव करने की क्षमता बनाये रखनी पड़ती है।

जो चीज़ हमें अच्छी लगती है, हम उसका उपभोग सभी प्रकार से करना चाहते हैं। उसे देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना आदि – सभी ज्ञानेन्द्रियों से उसका आस्वादन करना ाहते हैं। मिथिला की प्रकृति और जन-जीवन को नागार्जुन ने ऐसे अनुभव किया–

रूप - अबकी मैंने जी-भर देखी
पकी, सुनहली फसलों की मुस्कान
श्रवण - अबकी मैं जी-भर सुन पाया
धान कूटती किशोरियों की कोकिल-कण्ठी तान
घ्राण - अबकी मैंने जी-भर सूँघे मौलसिरी के ढेर-ढेर से
ताजे टटके फूल
स्पर्श - अबकी मैं जी-भर छू पाया अपनी गँवई पगडण्डी
की चन्दन-वर्णी धूल
स्वाद - अबकी मैने जी-भर तालमखाना खाया
गन्ने चूसे जी-भर
ऐन्द्रिय-भोग - अबकी मैंने जी-भर भोगे - गन्ध रूप रस
शब्द स्पर्श सब
साथ-साथ इस भू पर बहुत दिनों के बाद।

प्रकृति से प्रेम सुसंस्कृत व्यक्ति ही कर सकता है। नागार्जुन के लिए प्रकृति शिशु-रूप में तृप्ति का माध्यम है। वे प्रकृति का सौन्दर्य आँकने में विशिष्ट हैं। नागार्जुन ने जीवन जगत के जो चित्र खीचें हैं, वे उनके देखे हुए हैं। उन चित्रों में कुछ ऐसा प्राय: होता है जिसे नागार्जुन पहली बार देखते और दिखाते हैं। जब वे कहते हैं, 'बादल को घिरते देखा है' तो उसका मतलब है कि बादल का घिरना लोग किताबों में पढकर भी चित्रित करते हैं। मैंने बादल को घिरते सचमुच देखा है। तुम चाहे जितना पढ़ो, देखने का अनुभव कुछ और ही होता है। यह जो कुछ अलग है वही विशिष्ट है, वही सर्जना की शर्त है। उसी से व्यक्ति का अपना सौन्दर्यानुभव पूर्वानुभव में कुछ जोड़ता है। किताबों में कुबेर

है, अलका है, कालिदास का अनुभव यों किताबों में है। मैंने वह सब नहीं, मन की आँखों से, कल्पना-चित्रों में नहीं, अपने चर्म-चक्षुओं से देखा है। कालिदास ने जो किताबों में लिखा है, उसे पढ़ा ही नहीं, आँखों से देखा है –

कहाँ गया धनपति कुबेर, वह, कहाँ गयी उसकी वह
अलका ?
नहीं ठिकाना कालिदास के व्योम-प्रवाही गंगाजल का
जाने दो, वह कवि-कल्पित था मैंने तो भीषण जाड़ों में
नभचुम्बी कैलाश-शीर्ष पर महामेघ को झंझानिल से
गरज-गरज भिड़ते देखा है।
बादल को घिरते देखा है।

यह कबीर की आँखिन देखीवाली बात है। कालिदास बहुत बड़े कवि थे। कितने बड़े–इसे नागार्जुन से अधिक जाननेवाले लोग नहीं होंगे। किन्तु कविता अपने अनुभव से लिखी जाती है। इसी विश्वास पर वे कालिदास से जवाब-तलब करते हैं – 'कालिदास सच-सच बतलाना'। मानो नागार्जुन कालिदास का छल उघाड़कर उनकी आत्म-व्यथा का उन्हीं से स्वीकार करा रहे हों। निश्चय की अपनी व्यथा के बूते पर कालिदास के व्यथा-सहचर बन रहे हैं। नागार्जुन की पंक्ति है-

मन यही करता है कि मैं भी प्रियतमे उसका
करूँ आह्वान–कालिदास समान !

आधुनिक हिन्दी-कविता में रीतिवाद और रीतिमुक्ति की बात बहुत की गयी है। नवीन शब्द-योजना, नया सादृश्य विधान, यह सब नयेपन के लिए आवश्यक माना गया है। नयापन कहाँ है? पहले के कवि जिन स्थितियों में कविता नहीं कर पाते थे, उन्हें भी काव्य-परिधि में समाविष्ट कर लेना, अर्थात् वहाँ भी मार्मिकता पैदा करवा देने में नयापन है। 'जहां न जाय रवि, वहां जाय कवि' का आशय यही है। लेकिन जिस किसी स्थिति को काव्य-क्षेत्र में घसीटने से नयेपन का आग्रह तो प्रकट हो सकता है, मार्मिकता भी पैदा हो, ज़रूरी नहीं। इस प्रसंग में एक और बात पर ध्यान जाता है। रूढ़ि या रीति असर्जनात्मक हों, लेकिन रीति प्राय: उन्हीं उक्तियों की बनती है, जिनकी मार्मिकता व्यापक स्तर पर स्वीकृत होती है। अज्ञेय ने प्रेमिका के लिए प्रयुक्त पिछले सारे उपमानों को मैला घोषित कर दिया। एक उपमान उन्होंने भी प्रस्तुत किया। बाजरे की कलगी का उपमान बिल्कुल अछूता था। अभी तक वह अछूत बना है।

नागार्जुन नयेपन के आग्रही नहीं। उनका सादृश्य-विधान चौंकानेवाला नहीं। उनकी शक्ति कथ्य और उसकी प्रस्तुति में है। नागार्जुन अभिधा के ठेठ कवि हैं। अभिधा का सम्बन्ध वस्तु की शक्ति से है। शब्द-शक्ति को वस्तु-शक्ति से जोड़ना चाहिए। इस पर विचार करने की जरूरत है।

नयी कविता ने छन्द का बन्धन त्यागकर गद्यात्मकता किसलिए अपनायी? कथ्य को और अधिक उजागर करने के लिए। छन्द का स्थान लय ने ले लिया। सहज वार्तालाप के अनुतान में बहुत ध्वन्यात्मक नाटकीयता होती है। यह ध्वन्यात्मक नाटकीयता, यानी सहज वार्तालाप का अनुतान छन्द की कमी को पूरा कर सकता है। इस तर्क से नयी कविता की वाचन-विधि में बहुत विकास होना चाहिए था। उसे सहज वार्तालाप की बहुविध भंगिमाओं से युक्त होना चाहिए था। जनवादिता वाचन में भी आती थी। आप नागार्जुन का काव्य-वाचन सुनिए। उनकी कविताएँ प्राय: छन्दोबद्ध हैं। लेकिन लगता है, जैसे वह काव्य-पाठ नहीं कर रहे हैं, बोल रहे हैं। यह कथ्य की वाचन प्रस्तुति हुई। प्रस्तुति में अर्थबोध की शृखंला या सरणि विचारणीय है। एक बात के बाद दूसरी क्या बात आती है। पहली बात और दूसरी बात को साथ-साथ रखने का औचित्य क्या है। रचनाकार एक ईंट पर दूसरी ईंट किस तरह सटाता है !

नागार्जुन दूर की कौड़ी नहीं लाते। बादल को घिरते तो प्राय: सभी देखते हैं, लेकिन उनकी उक्तियाँ अछूती और ताज़ी होती हैं। बस यह है कि रचनाकार और पाठक-श्रोता-दोनों रीति के शिकार हो सकते हैं। एक पंक्ति के बाद पाठक प्राय: कुछ किताबी पंक्तियाँ सुनने की आशा या आशंका सँजोये रहता है कि नागार्जुन कुछ ऐसा सुना देते हैं जिसकी वह प्रतीक्षा नहीं कर रहा था। लेकिन बात बिलकुल ठीक जँचती है। नागार्जुन की शक्ति उक्ति और उक्ति के संबंध चयन की विशिष्टता में है। स्थितियों के वास्तविक सम्बन्धों को देख पाने के लिए किताबीपन को चेतना से खारिज कर देना होता है। नागार्जुन की सबसे बड़ी शक्ति किताबीपन के कचड़े से रचनाधार्मिता को अनाविल रखने में है। इस अनाविलता को आप सहज कह सकते हैं। रचनात्मक रचनाधर्मिता भी कवि की सहज-साधना होती है।

सहज वह, जिसकी ग्राह्यता और मार्मिकता अन्योन्याश्रित हों। एक ऐसी उक्ति, जिसकी ग्राह्यता प्रस्तुत करते ही पहचान बना ले लेकिन जिसे अब तक लोग कह न पायें हों, सर्जक द्वारा पहली बार कही और दिखायी जा रही हो। वह महसूस करने में सहज हो लेकिन बोध या विचार के धरातल पर पहले की उक्तियों से अधिक अर्थगर्भित हो, जिसकी अर्थ-भूमि अधिक जटिल एवं व्यापक हो, याकि जो अपेक्षाकृत अधिक अर्थभूमि घेरती हो

ग्राह्यता और मार्मिकता इस व्यापकतर अर्थभूमि के कारण पैदा होती है। अर्थभूमि के विस्तार के बिना सार्थक सहजता नहीं आती। यह अर्थभूमि का विस्तार ही सर्जनात्मक या नवीनता है। सहज उक्ति विकलांग नहीं होती, वह ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वग्राही या सकल उक्ति होती है।

'कई दिनों तक चूल्हा रोया चक्की रही उदास'।

इस पंक्ति में चूल्हे-चक्की का मानवीयकरण है। चूल्हे में आग न जले और चक्की न चले–तो एक अजीब सन्त्रासक सूनापन बरसता है। अवधी में जब कहते हैं-'आज उनके चूल्हा नाहिं जरा' तो इसका अर्थ होता है कि आज उनके यहाँ कोई मौत हो गयी है या उसी तरह का प्रभाव डालनेवाला कोई सदमा हो गया है। 'चक्की के उदास' होने का मतलब–चक्की औरतें चलाती हैं, वे गाती हैं, चुहल करती हैं, दुख-सुख की बातें करती हैं – कुछ नहीं हुआ। इस कुछ न होने में लोगों के भूखे रह जाने और भूखे रह जाने का क्या मतलब होता है, को भी शामिल कर लीजिए।

'कई दिनों तक कानी कुतिया सोयी उनके पास'।

कानी कुतिया सजीव है, लेकिन अपदार्थता और उपेक्षणीयता में चूल्हा-चक्की जैसी ही जड़ है। वह चल-फिर सकती है। चूल्हा नहीं जला। चक्की नहीं चली, खाना नहीं बना। उसे 'कौरा' नहीं मिला। वह गाँव-भर में घूम आयी, खाना नहीं मिला। चूल्हा चक्की के पास वह भी भूखी सो रही। प्रकृत्या उसको पता था कि खाना मिलने का सम्बन्ध चूल्हा-चक्की से है। चूल्हा जलता था तो उसे वहाँ से भगा दिया जाता था लेकिन 'कौरा' मिल जाता था। चूल्हा जलने के इन्तज़ार में वह चूल्हे के पास सो गयी है। छिपकलियाँ गश्त लगा रही हैं, प्रकाश न होने से कीड़े नहीं और उन्हें भी खाना नहीं। यही हाल चूहों का है। घर में दाना नहीं। कहने को एक ही चीज़ नहीं है, लेकिन उसका असर बेज़ुबानों पर भी कैसा पड़ रहा है। सारे विवरण और वातावरण के केन्द्र में चूल्हा-चक्की है।

बहुत दिनों के बाद जब दाने आये तो अँगना के ऊपर धुँआ उठा। चूल्हा जला। चूल्हें में आग जली तो प्रकाश आँखों में भी आया। आँखें चमक उठीं। कौवे ने पाँखें खुजलायीं। उसने देखा तो उसमें शक्ति आयी। पहले आँखें सिमटी रही होंगी। स्थिति में परिवर्तन हुआ तो उसमें भी शक्ति आयी, जिसका अनुभाव पाँखों का खुजलाना है।

पूरी कविता में आदमी की भूख की पीड़ा का कहीं उल्लेख नहीं है। वह केवल व्यंजित है। जब कानी कुतिया, छिपकलियाँ,चूहों की यह हालत हो रही थी तब आदमियों की क्या हालत रही होगी। उसके तो बच्चे, माँ-बाप, भाई-बहन, भिन्न होते हैं। जो अकथनीय है, उसे अकथित रखकर ही इतने भरपूर तौर पर व्यंजित करने की क्षमता इस कविता में है। भूख का रूप सामने आ जाता है। वह एक दृश्य की भाँति साक्षात् हो उठती है। कविता में पीड़ा दृश्य बन गयी है। इस दृश्यता के बिना सहजता नहीं आती। सहजता में अन्तस्सम्बन्धता होती है। इस अन्तस्सम्बधता का ताना-बाना बोध और करुणा से तैयार होता है। दाना, चूल्हा-चक्की,छिपकली-चूहों की गश्त में सम्बन्ध है। इनके चित्रण में रचनात्मक संगति है। इसकी अन्तस्सम्बन्धता को समझे बिना इसकी सहजता और रचनात्मक अनिवार्यता को नहीं समझा जा सकता। इसी तरह-

खड़ी हो गयी चाँपकर कंकालों की हूक
नभ में विपुल विराट-सी शासन की बन्दूक

में बन्दूक चलानेवाला (चलवानेवाला) कहीं नहीं है। वह कथित नहीं, दृश्य है। शोषक की हृदयहीनता और उसकी पैशाचिक क्रूरता। कंकालों में हूक कैसी हृदयद्रावक होगी। उनकी हूक को भी चाँपकर शासन की बन्दूक विपुल विराट-सी नभ में खड़ी है। कंकालों की राशि कितनी ऊँची है। आकाश तक कंकाल-राशि है। आकाश में विराट विपुल दिखलायी पड़ रही है। लोग आकाश में चाँद देखते हैं। अपनी प्रियतमा का या इष्ट का मुख देखते हैं। इन्द्रधनुष देखते हैं। वहाँ समग्र आकाशव्यापी बन्दूक खड़ी है। आकाश में बन्दूक खड़ी करना कविता-संसार के आकाश को एक नया रूप देना है। यह केवल नवीन शब्द-योजना का चमत्कार नहीं। धरती पर अत्याचार की क्रूरता के अनुभव को असीमता प्रदान करना है, वर्ना कहाँ कंकालों की हूक, कहाँ आकाश और कहाँ बन्दूक। संस्कारशील पाठक इसमें हूक-ध्वनि का बन्दूक द्वारा दबाया जाना पढ़कर इस पर ध्यान देंगे कि शब्द जो आकाश का गुण है, उसे भी बन्दूक दबा रही है। इस कविता का अन्तिम दोहा है-

जली ठूँठ पर बैठकर गयी कोकिला कूक
बाल न बाँका कर सकी शासन की बन्दूक।

आकाश जैसी असीम और विराट बन्दूक की करनी 'जली ठूँठ' है। 'जली ठूँठ पर' कोकिला को शायद ही किसी और ने बिठलाने की सोची हो, लेकिन 'आम्र उपवन' में ही कूजने-वाली कोकिला गतकालिक सौन्दर्य-बोध का प्रतीक है। जो दग्ध हैं वे भी हरे होंगे। कोकिला बोलकर भविष्य की प्रवक्ता बन गयी है। अन्याय चाहे जितना दारुण हो, वस्तुत:

अशक्त है। मानव-इतिहास की गति अन्यायी बन्दूक से बाधित होने-वाली नहीं। मानवीय शक्तियाँ अभी समर्थ नहीं, अत: वे कोयल के बोलने में आशा का सन्देश सुन लेती हैं। जैसे कौए का पाँखें खुजलाना, वैसे काकिला का कूजना।

किसी स्थिति के विभिन्न आयामों में से विशिष्ट आयामों को चुनकर स्थिति को धारदार बना देने की कला में नागार्जुन लासानी हैं। उनकी क्षमता अन्यथाकरण (डिस्टार्शन) में नहीं, संयोजन में है। ऐसे विभावन-व्यापार की योजना जो कवि के कथ्य को अपने आप उद्‌घाटित कर दे। और कवि का कथ्य क्या है ! कवि का कथ्य वही है, जो स्थितियों का कथन है। कवि केवल उन्हें जस का तस प्रस्तुत कर रहा है। लेकिन उसे जो दिखायी दे रहा है उसे प्रस्तुत करने में संयोजन करना पड़ता है–

स्वेत स्याम रतनार अँखियाँ निहार के
सिंडीकेटी प्रभुओं की पगधूर झार के
लौटे हैं दिल्ली से कल टिकट मार के
खिले हैं दाँत ज्यों दाने अनार के
आये दिन बहार के !

इसमें नागार्जुन ने अपनी ओर से क्या कहा है? कौन-सी बात ऐसी है जो हम नहीं जानते-पहचानते थे। कमाल ऐसे शब्द-प्रयोग का है जो शब्द-संसार में देखे-सुने की पहचान करा दे। मुख खिलता था, दाँत अनार के होते थे। लेकिन 'खिले हैं दाँत ज्यों दाने अनार के'। सारा काम 'खिले हैं' क्रिया ने कर दिया है।

नागार्जुन का शिल्प प्राय: पारम्परिक है। वे प्रयोगधर्मी इस बात में हैं कि जिन स्थितियों और शब्द-प्रयोगों को अपनी अति साधारणता के कारण अकाव्यात्मक माना जाता है, उन्हीं से नागार्जुन अपनी रचनाओं को असाधारण धार देते हैं।

'नेवला' के बक्सरवाले मंजर बाबू के मेजबान की आशंका कितनी वास्तविक है–

देखिए साहब, हमारे बच्चे अभी छोटे हैं
होगा मोतिया आपका लाड़ला
लेकिन खतरनाक जानवर है न !
यह हमारे बच्चों की जूजी काट न खाये
नहीं साहब, इसे हटाइए यहाँ से।
मोतिया नेवले का नाम है।

नागार्जुन कविता में आवृत्तियाँ बहुत अधिक करते हैं। ऐसी आवृत्तियाँ लोक-साहित्य में ही होती हैं। ये आवृत्तियाँ निहायत एकरस और नीरस हो जायें अगर रचनाकार उनमें स्थिति का विकास करनेवाला उपयुक्त और रंजक कथ्य जोड़ न सके। परिवेश को चिन्तक की मुद्रा में पेश करनेवाले कवि बहुत हैं। नागार्जुन की टिप्पणी तीसरे दर्जे में सफर कर रहे अशिक्षित ग्रामीणों के तेवर में होती है। जो दिखायी पड़ रहा है और हमें जैसा दिखायी पड़ रहा है, उसे अपनी भाषा के मुहावरे में बोलना। इसीलिए नागार्जुन की कविताओं में वक्तृता का अनवरुद्ध प्रवाह नहीं, वार्तालाप का आरोह-अवरोह, फैलाव-संकोचन मिलता है।

# 11. अज्ञेय और मुक्तिबोध : 'असाध्य वीणा' - 'अंधेरे में'

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

समकालीन साहित्यिक परिदृश्य पर बहुत बार अज्ञेय और मुक्तिबोध को एक-दूसरे के प्रतिरोधी चरित्र के रूप में दिखाने की कोशिश की जाती है। तब कई दशकों पहले प्रसाद-प्रेमचंद की जोड़ी की स्थिति याद आती है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन वाले भाषण, ('काव्य में अभिव्यंजनावाद') के अन्त में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने समकालीन लेखकों की सापेक्ष समीक्षा करते हैं। उसके साथ दी गयी वक्ता-लेखक की बहुत-सी महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ विद्वानों की आँख से सहज ओझल हो जाती हैं। समकालीन साहित्य की गतिविधि पर विचार करते हुए जो ऐसे अभिभाषणों का सामान्यत: एक मुख्य अंश होता है, आचार्य शुक्ल कहते हैं (सन्दर्भ नाटक का है) "यह देखकर मुझे अत्यन्त आनन्द होता है कि प्रसाद जी के नाटकों में इस प्रकार के विकास के पूरे लक्षण मिलते हैं, मेरे देखने में अच्छे सामाजिक नाटकों का अभाव अभी बना हुआ है। इसके लिए प्रसाद जी से न कहूँगा। जिस ऐतिहासिक क्षेत्र को उन्होंने लिया है उसीके भीतर उन्हें अपनी प्रतिभा का उत्तरोत्तर विकास करना चाहिए।"

आगे उपन्यासों के विकास का परिचय देते हैं। आचार्य की टिप्पणी है:

*मेरे देखने में उत्कृष्ट कोटि के ऐतिहासिक उपन्यासों का अभाव ज्यों का त्यों बना है। **यदि जयशंकर प्रसाद जी इस ओर भी ध्यान दें** तो इस अभाव की शर्तें बहुत अच्छी तरह हो सकती हैं। मैं तो अपनी ओर से यही कहूँगा कि सामाजिक उपन्यास का क्षेत्र तो वे **प्रेमचन्द जी ऐसे लोगों** के लिए छोड़ दें जो ऐतिहासिक नाटकों की रचना को 'गड़े हुए मुर्दे उखाड़ना' कहते हैं। और स्वयं इतिहास के प्राचीन क्षेत्र में स्वछन्द क्रीड़ा करने वाली अपनी प्रतिभा को ऐतिहासिक उपन्यासों की ओर प्रवृत्त करें। (दोनों उद्धरणों में बल मेरा है।)*

यह सम्भव है कि आचार्य के अनुरोध का पालन करने के लिए उपन्यासकार ने **इरावती** की रचना आरम्भ की हो जो बाद में अधूरी रह गयी।

यहाँ रामचन्द्र शुक्ल अपने युग की दोनों मूर्द्धन्य प्रतिभाओं के वैशिष्ट्य की पहचान करते हैं। समय है 1935 ई.। **कामायनी, गोदान** दोनों अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं। एक सजक समीक्षक के रूप में आचार्य शुक्ल अपने समकालीन दोनों लेखकों की रचना-सम्भावना की परख कर रहे हैं, आगे का इतिहास जिस परख को पूरी तरह सही प्रमाणित करता है;

परख कर रहे हैं, आगे का इतिहास जिस परख को पूरी तरह सही प्रमाणित करता है; प्रसाद इतिहास और संस्कृति के व्याख्याता; प्रेमचन्द सामाजिक यथार्थ के चितेरे। अपने युग के पाठकों और आलोचकों से यही दृष्टिकोण अपनाने का आग्रह मैं करूँगा। यह राजनैतिक चुनाव का क्षेत्र नहीं है कि हमारे पास एक मत है और उसे हम सिर्फ एक प्रतिद्वन्द्वी को दे सकते हैं। यह साहित्य का विराट प्रवाह है जहाँ अनेक धाराएँ एक-दूसरे से मिलती हैं, और हम सभी आस्वाद लेते चलते हैं। विविध नदियों में जल एक है, पर अलग-अलग खनिजों के कारण उनके स्वाद और गुण में अन्तर है, होना चाहिए। इस पृष्ठभूमि में अज्ञेय और मुक्तिबोध के वैशिष्ट्य को समझने का यत्न हो सकता है।

'अँधेरे में' और 'असाध्य वीणा' नयी कविता की इन दोनों लम्बी कविताओं में रचना-शक्ति की खोज का आख्यान है। दोनों अपने-अपने रचनाकारों की शीर्ष-रचनाएँ कही जा सकती हैं; समकालीन आलोचना में इसी रूप में उनकी पहचान भी बनी है। इस दृष्टि से दोनों कविताओं को समझने के क्रम में हम उनके रचनाकारों के वैशिष्ट्य और अलगाव दोनों को काफी दूर तक समझ सकते हैं। एक में समूचा बिम्ब-विधान लिया गया है कविता और कवि जीवन से, दूसरे में संगीत से। 'अँधेरे में' के लम्बे खण्डों में कवि की समस्या है समाज के उत्थान-पतन और आन्दोलनों के बीच अपनी रचना के प्रेरक तत्वों का अभिज्ञान और उनकी बनावट की पहचान : रचना कैसे बाहर से अन्दर आती है और फिर कैसे बाहर दूर-दूर तक परिव्याप्त हो जाती है। कविता का अन्तिम अंश हर ईमानदार कवि का अन्तिम वक्तव्य और साक्ष्य हो सकता है

*परम अभिव्यक्ति*
*लगातार घूमती है जग में*
*पता नहीं जाने कहाँ, जाने कहाँ*
*वह है।*
*इसीलिए मैं हर गली में*
*और हर सड़क पर*
*झाँक-झाँक देखता हूँ हर एक चेहरा*
*प्रत्येक गतिविधि*
*प्रत्येक चरित्र,*
*व हर एक आत्मा का इतिहास*
*हर एक देश व राजनैतिक परिस्थिति*
*प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श*

*विवेक-प्रक्रिया, क्रियागत परिणति!*
*खोजता हूँ पठार-पहाड़...समुन्दर*
*जहाँ मिल सके मुझे*
*मेरी वह खोयी हुई*
*परम अभिव्यक्ति अनिवार*
*आत्मा-सम्भवा।*

अन्तर, जैसा कहा गया, दोनों कविताओं के बिम्ब-विधान को लेकर उभरता है: 'असाध्य वीणा' में केन्द्रीय बिम्ब संगीत के क्षेत्र का है जहाँ अनुभूति के रचाव पर विशेष बल है, 'अँधेरे में' का केन्द्रीय बिम्ब लेखन-कार्य से जुड़ा है, मौत की सजा का विधान भी उसी पर आधारित है:

*किसी काले डैश की घनी काली पट्टी ही*
*आँखों में बँध गई,*
*किसी खड़ी पाई की सूली पर मैं टाँग दिया गया,*
*किसी शून्य बिन्दु के अँधियारे खड्डे में*
*गिरा दिया गया मैं*
*अचेतन स्थिति में!*

'असाध्य वीणा' में संगीतकार की सृजन-प्रक्रिया अनुभूति के तईं अपने को समर्पित करने में है (सघन निविड़ में वह अपने को/सौंप रहा था उसी किरीट-तरू को) जबकि 'अँधेरे में' के नायक के लेखन कर्म में वैचारिकता के विविध द्वन्द्व हैं। अनुभूति और रूपाकार का अद्वैत हासिल करने में संगीत को आदर्श माना गया है, और यह भी कहा गया है कि हर कला की साधना संगीत की स्थिति प्राप्त कर लेने में है। पश्चिम में यूनानी ट्रैजडी मानवीय सर्जनात्मकता की श्रेष्ठतम उपलब्धि मानी गयी है। इस दृष्टि से शास्त्रीय हिन्दुस्तानी कण्ठ संगीत भारतीय सन्दर्भ में सृजनात्मकता की श्रेष्ठतम उपलब्धि कहा जा सकता है। गिनती के सात सुरों के विस्तार और प्रस्तार में सृष्टि की सम्पूर्ण अनुभूति समायी हुई है; पर वैचारिकता का क्षेत्र लेखन का ही है। 'असाध्य वीणा' और 'अँधेरे में' सर्जनात्मकता के इन स्तरों को बाबू जी रूपायित करते हैं। एक का प्रभाव उसके 'सन्धीत' होने में है, दूसरे का उसके फैलाव में। अपने विधान में ये दोनों कविताएँ परस्पर पूरक ढँग से एक बढ़िया युग्म उपस्थित करती हैं।

मानव-जीवन में अभिशाप और नियति की टकराहट बड़ी रचनाओं का उपजीव्य होता है। उदाहरण के लिए **कामायनी** को लिया जा सकता है जो मुक्तिबोध की रचनात्मकता के लिए उत्तेजन और चुनौती दोनों रही है; उसका अपने ढँग से विश्लेषण करते हुए कवि ने एक सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया **कामायनी: एक पुनर्विचार**-एक पुस्तक पर केन्द्रित जैसी व्यवस्थित समीक्षा हिन्दी में कठिनाई से मिलेगी। कामायनी में काम द्वारा मनु को शाप दिया जाता है और यों मानवता अपने जन्म के पूर्व ही अभिशप्त हो जाती है, एक अभिप्राय जो ईसाई परम्परा के करीब है। बाइबिल में ज्ञान का वर्जित फल चखने के अपराध में आदम और ईव को स्वर्ग के बगीचे से नीचे गिरा दिया जाता है, और इस आदिम अपराध-बोध से मानवता को अन्त तक आक्रान्त रहना है। शाप का अभिशय भारतीय परम्परा में भी है, पुराणों का शायद ही ऐसा कोई ऋषि हो जो शाप न देता हो। पर यहाँ शाप है तो उसकी मुक्ति का उपाय भी है, शायद ही ऐसा कोई शाप हो जिसे देने के बाद ऋषि ने उससे मुक्ति का उपाय भी न बता दिया हो। प्रसाद इन दोनों अभिप्रायों का सामंजस्य करते हैं। इड़ा सर्ग में काम के लम्बे शाप का प्रसंग है, और फिर अन्त में मनु की संकल्प शक्ति का उदय होता है जो शाप को अपने लिए वरदान के रूप में बदलती है। मनु कहते हैं:

*लिख दिया आज उसने भविष्य! यातना चलेगी अन्त-हीन/*
*अब तो अविशिष्ट उपाय भी न।*

और नियति-जाल से मुक्ति दान का उपाय सोचते हैं। उनकी नयी सहायक इड़ा उद्‌बोधन करती है:

अपनी उर्बलता बल सम्हाल/गन्तव्य मार्ग पर पैर धरे। मत कर पसार, निज पैरों चल, चलने की जिसको रहे झोंक/उसको कब कोई सके रोक/'' यों मनुष्य अपनी दुर्बलता को ही बल के रूप में विकसित करता है। काम के शाप का सबसे कठोर अंश है कि अभी तक देवसृष्टि तो अजर-अमर थी, परन्तु अब मानवीय सृष्टि मरणशील होगी। यह मृत्यु की चुनौती एक और उसमें प्रेम करने की क्षमता जगाती है, और दूसरी ओर उसमें सर्जनात्मक शक्ति विकसित करती है। बुनियादी तौर पर ये दोनों प्रक्रियाएँ भी एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। मनुष्य मृत्यु पर विजयी होता है अपने प्रेम से, और अपनी रचना में जो स्थूल स्तर पर उसकी सन्तान है, और सूक्ष्म स्तर पर दर्शन, विज्ञान, साहित्य तथा कलाएँ हैं। यों अभिशाप को काम्य नियति के रूप में बदल लिया जाना **कामायनी** की वस्तु का एक प्रधान तत्व है। मनुष्य अपनी मरणशीलता को सर्जनात्मक शक्ति के प्रेरक तत्त्व

रूप में स्वीकार करता है। जो अभिशाप था वह अब नियति है, भाग्य के अर्थ में नहीं, एक अज्ञात विशिष्ट लक्ष्य के रूप में। 'अँधेरे में' के चरित-नायक कवि की कोशिश कविता में आरम्भत: वर्णित 'मौत की सजा' को अन्तत: 'परम अभिव्यक्ति अनिवार्य/आत्मसम्भवा' के रूप में पहिचानना है, अभिशाप को नियति के रूप में बदल लेना है। यहाँ' पहुँचकर रचनात्मक विधि पूरी होती है, और फिर प्रारम्भ भी हो जाती है

इसीलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झाँक-झाँक कर देखता हूँ हर एक चेहरा

**कामायनी** में मनु की तलाश आनन्द सर्ग के अन्त में अपनी स्वाभाविक निष्पत्ति तक पहुँचती है, 'असाध्य वीणा' के केशकम्बली की भी। पर 'अँधेरे में' का अन्त खुला हुआ है। जहाँ कविता का अन्त होता है वहाँ कवि की तलाश फिर शुरू हो जाती है–

*खोजता हूँ पठार.....पहाड़.....समुन्दर*
*जहाँ मिल सके मुझे*
*मेरी वह खोयी हुई*
*परम् अभिव्यक्ति अनिवार*
*आत्म-सम्भवा।*

रचना-प्रक्रिया की बड़ी सटीक पहचान 'अँधेरे में' हुई है। पहले भूमि की सतह के नीचे कवि बिखरे हुए रत्नों की राशि देखता है और पहचानता है-"दीप्ति में वलयित रत्न वे नहीं हैं। अनुभव, वेदना, विवेक-निष्कर्ष। मेरे ही अपने यहाँ पड़े हुए हैं।'' यह सामाजिक अवचेतना से कवि की गहरे जुड़ी चेतना है। दूसरी ओर गांधी उसे सन्देश देते हैं, "जनता के गुणों से ही सम्भव भावी का उद्‌भव...''। यह भविष्यत् की चेतना का आख्यान है। कविता के समापन अंश में रचना-शक्ति का सामान्य जन-जीवन में, 'लोगों की भीड़' में विलय हो जाता है।

एकाएक वह व्यक्ति
*आँखों के सामने*
*गलियों में, सड़कों पर, लोगों की भीड़ में*
*चला जा रहा है।*
*वही जन जिसे मैंने देखा था गुहा में।*

*धड़कता है दिल*

*कि पुकारने को खुलता है मुँह*

*कि अकस्मात*

*वह दिखा, वह दिखा*

*वह फिर खो गया किसी यूथ में*

*उठी हुई बाँह यह उठी रह गयी।*

*भीड़ में मिल जाता है, और जहाँ से कवि की खोज शुरू होती है।*

*खोजता हूँ पठार.....पहाड़.....*समुन्दर

दोनों कविताओं की वस्तु और विधान ही नहीं उनके शीर्षक भी सर्जन प्रक्रिया के अन्वेषण को संकेतिक करते हैं। 'अँधेरे में' सृजन का आवश्यक परिवेश और सन्दर्भ है। 'असाध्य वीणा' को साधने के क्रम में कलाकार भी अपने को 'सघन निविड़' में उतारता है। अन्दर और बाहर की अन्तर प्रक्रिया इन दोनों लम्बी कविताओं में रचनात्मक का उत्स है। 'असाध्य वीणा' के लम्बे खण्ड में साक्षात्कार-प्रक्रिया के जो विविध रूप अंकित हुए हैं। 'अन्न की सौंधी खुदबुद' से लेकर 'प्रलय का डमरू नाद' तक उन्हें मुक्तिबोध 'हर गली में' 'हर सड़क पर' 'हर एक चेहरा' झाँक-झाँक देखते हैं कि कहीं वह 'परम अभिव्यक्ति अनिवार' मिल जाय। 'असाध्य वीणा' में संगीत के साक्षात्कार सम्बन्धी चित्रों का वैविध्य पहले अंकित कलाकार के अपने जीवनानुभव के वैविध्य से तुलनीय है:

*हाँ मुझे स्मरण है:*
*बदली-कौंध-पत्तियों पर वर्षा-बूँदों की पट-पट*
*घनी रात में महुए का चुपचाप टपकना*
*चौंके खग-शावक की चिहुँक*
*शिलाओं के दुलराते पन झरनों के*
*द्रुत लहरीले जल का कल निनाद।*
*कुँहरे में छनकर आती*
*पर्वती गाँव के उत्सव ढोलक की थाप।*

पर अन्दर और बाहर की टकराहट में गुणात्मक महत्व दोनों कविताओं में अन्दर का ही ठहरता है। मुक्तिबोध कविता की अन्तिम पंक्ति में अपनी 'परम अभिव्यक्ति अनिवार' को समाज की हर टकराहट के बाद और बावजूद 'आत्म-सम्भवा' कहते हैं।। इस अन्तिम

अंश की तुलना 'असाध्य वीणा' के समापन-अंश से करने योग्य है, जहाँ कलाकार अपनी सृजन-प्रक्रिया का रहस्य समझता है :

*श्रेय नहीं कुछ मेरा :*
*मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में-*
*वीणा के माध्यम से अपने को मैंने*
*सब कुछ को सौंप दिया था-*
*सुना आपने जो वह मेरा नहीं,*
*न वीणा का था:*
*वह तो सब कुछ की तथता थी-*
*महाशून्य*
*वह महामौन*
*अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय*
*जो शब्दहीन*
*सब में गाता है।*

मुक्तिबोध की ''परम अभिव्यक्ति' 'जग में' 'लगातार घूमती' हुई 'आत्म-सम्भवा' है, अज्ञेय के लिए वहीं 'सब कुछ की तथता' 'अविभाज्य' और 'अनाप्त' हो जाती है। जो 'अनाप्त' है वही 'आत्म-सम्भवा' हो सकती है। और यों दोनों कविताओं में वर्णित सृजन-प्रक्रिया सम्पन्न एक बिन्दु पर होती है। उठान दोनों की अलग-अलग है, पर विस्तार और निष्पत्ति में दोनों एक-दूसरे के बहुत करीब हैं। सृजन-प्रक्रिया को वस्तु-रूप में लेकर चलने वाली ये कविताएँ अनायास दोनों कवियों का सम्मिलित काव्य-शास्त्र बन जाती हैं।

# 12. अज्ञेय : आधुनिक बोध की पीड़ा

निर्मल वर्मा

अज्ञेय अपनी पीढ़ी के उन कम लेखकों में हैं—शायद अकेले—जिन्होंने साहित्य-सृजन के बाहर स्वयं 'रचनात्मक-सृजन' को अपनी चिन्ता और मनन का विषय बनाया है। इस सन्दर्भ में दूसरे लेखक **जैनेन्द्र कुमार** का नाम भी अनायास याद आता है, जो अपने समय की विडम्बनाओं से उलझते रहे हैं। जैनेन्द्र के चिन्तन का घेरा यदि कुछ अमूर्त है, तो अज्ञेय के घेरे से ज्यादा व्यापक भी, एक हद तक मूलगामी भी। दोनों की चिन्तन-यात्रा में ऐसे पड़ाव भी आते हैं, जहाँ दोनों एक-दूसरे से मिलते भी हैं; समय, समकालीनता और नैतिकता जैसे प्रश्न दोनों को ही परेशान करते हैं। इसके बावजूद दोनों के बीच एक आधारभूत अन्तर है।

अज्ञेय अधिकांश समय (दुर्भाग्यवश हमेशा नहीं) याद रखते हैं कि वह लेखक हैं—दार्शनिक नहीं। समस्याएँ चाहे एक-सी हों, कवि के चिन्तन के औजार, सोचने का ढंग, विचारों को छूने की प्रक्रिया कुछ अलग होती है; यह नहीं कि एक लेखक दार्शनिक नहीं हो सकता, किन्तु उसका 'दर्शन' हमें उसकी दार्शनिक स्थापनाओं में नहीं खोजना चाहिए। लेखक का दर्शन "सोच के विषयों में नहीं, बल्कि स्वयं सोच की प्रक्रिया और उसके व्यवहार में निहित होता है।" **पॉल वैलेरी** का यह कथन हमेशा ही अज्ञेय की सोच पर लागू नहीं होता। वह अक्सर दार्शनिक सूक्तियों में फिसल जाते हैं, किंतु अधिकांश समय वह इस तथ्य के प्रति सचेत रहते हैं कि लेखक का सृजन-संघर्ष विचारों से नहीं, शब्द और भाषा से जुड़ा रहता है। कहते हैं एक बार चित्रकार **देगा** ने कवि **मलार्मे** से कहा, "अजीब है तुम लेखकों का धन्धा ! मेरे पास इतने ढेर से विचार हैं, लेकिन मैं लिख नहीं सकता।" मलार्मे ने उत्तर दिया, 'प्यारे देगा, कविता विचारों से नहीं, शब्दों से बनती है।'

कविता के इस सत्य के प्रति अज्ञेय जितना सचेत और जागरूक रहे हैं, शायद उनकी पीढ़ी के अन्य लेखक नहीं, और यह बात इसलिए भी उल्लेखनीय लगती है, कि स्वयं विचारों से उनका गहरा सम्बन्ध रहा है। यही कारण है, उनकी कविताएँ बौद्धिक न होकर भी 'वैचारिक आलोक' में लिपटी रहती हैं। एक समय में एलियट ने उन्हें बहुत प्रभावित किया था—और यदि मैं गलती नहीं करता—तो उन्होंने उनके एक-दो लम्बे निबन्धों का मुक्त अनुवाद भी किया था। **एम.एन.राय** का राजनैतिक चिन्तन उनकी आरम्भिक प्रेरणाओं में प्रमुख रहा है। गांधीजी ने शायद उन्हें कभी उद्वेलित नहीं किया; वह असली अर्थों में 'नेहरू युग' के प्रतिनिधि लेखक माने जा सकते हैं—रेडिकल, लेकिन मार्क्सवादी नहीं; लोकतन्त्र

की मान्यताओं में विश्वास करनेवाले, जिसके भीतर उन्होंने 'वैयक्तिक स्वतन्त्रता' को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना; अपनी मानसिक संरचना में अज्ञेय बहुत हद तक बंगाल रेनेसेन्स के बुद्धिजीवियों के उत्तराधिकारी रहे हैं। पश्चिमी भावबोध के प्रति एक खुला मोह और आकर्षण, किन्तु अपनी जातीय परम्परा और भाषा के प्रति गहन स्तर पर, संवेदनशील; अपने सरोकारों और मान्यताओं में ज्यादा अन्वेषणशील नहीं; शायद ही उन्होंने कभी सतर्क रूप से पश्चिमी प्रभावों के सन्दर्भ में अपने जातीय अनुभव का पुनर्परीक्षण किया हो—फिर भी अपनी प्रतिक्रियाओं में प्रखर, जीवन्त और स्पंदनशील। नेहरू-युग की भव्य उदारता और घोर आश्चर्यजनक अमौलिकता, एक आत्मतुष्ट, संदिग्ध किस्म का सन्तुलन—संवेदनशील किन्तु सीमित 'हार्मनी' के आदर्श से मुग्ध—इसलिए हिन्दुस्तानी अनुभव के उन सब विकारों, विसंगतियों विडम्बनाओं से विमुख—जो उनके सामंजस्य, सौन्दर्य-बोध को भंग करता हो; आत्मलिप्त और बाहरी उदारता के बावजूद भीतर से कहीं बहुत भीरु, संकीर्ण, उदासीन; नेहरू-युग का उदात्त सौन्दर्य और जड़गत सीमाएँ—दोनों ही अज्ञेय के कर्म और चिन्तन में देखी जा सकती हैं।

इन तीन पुस्तकों* में अज्ञेय ने विगत जीवन के फैले चिन्तन-संसार से कुछ अंश, विचारखण्ड, सूक्तियाँ , यात्राओं के इम्प्रेशन्स जमा किये हैं। उन्होंने इस चिन्तन-यात्रा की अवधि, समय, क्रॉनोलॉजी का कोई हवाला नहीं दिया, जो मुझे कुछ अजीब सी बात लगती है। हमें कुछ पता नहीं चलता, कौन-सी पुस्तक, उपन्यास या कविताएँ लिखते हुए या किन राजनैतिक, सामाजिक घटनाओं के सन्दर्भ में उनके ये विचार या प्रतिक्रियाएँ एक 'शाश्वत अर्थ' के अलावा एक निजी, तात्कालिक दबाव प्रस्तुत करती हैं। इसीलिए इन पुस्तकों में सिर्फ एक फैला हुआ चिन्तन-प्रदेश मिलता है, यात्रा का उतार-चढ़ाव नहीं, मील के पत्थर नहीं, जिन पर एक क्षण बैठकर हम लेखक के पाँव-चिन्ह आँक सकें, कहाँ वह ठिठका था, कौन-सी राह चुनी थी, किस पगडण्डी पर कुछ दूर चलकर वापस मुड़ गया था; हमें यह भी पता नहीं चलता, किस ठोकर की आह और दर्द इन पन्नों पर अंकित है। लगता है, जो कुछ है, वह हमेशा से था; जो नहीं है, वह कभी नहीं था। इन पुस्तकों में 'समय का अभाव' अज्ञेय के विचारों को शाश्वतता देता है—अच्छे अर्थों में नहीं—एक लम्बी यात्रा से अर्जित किये शंकालु, अनिश्चित, विकल सत्य नहीं—बल्कि ऐसे साफ़-सुथरे अनुभव-सत्य जो मानो लेखक के पास पहले से ही उपलब्ध थे। विचार-सूत्र और सूक्तियाँ अपना महत्त्व रखती हैं, किन्तु वे 'निर्मित माल' हैं, उनके पीछे अनुभवों की कच्ची धातु और अन्वेषी भटकन से हम प्राय: अपरिचित रह जाते हैं।

---

* भवन्ती, अन्तरा, शाश्वती

यह बात इसलिए भी अखरती है क्योंकि स्वयं अज्ञेय ने इन पुस्तकों को अपनी सृजन-यात्रा का 'लॉग बुक' माना है जिसके आधार पर "यात्रा के पदचिन्ह, अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियों तथा धाराओं, जोखिम, भटकन, प्रत्युत्पन्न सूझ का ब्यौरा मिलता है।" क्या ऐसा है? अज्ञेय की एक लम्बी, विविध, संघर्षपूर्ण ज़िन्दगी रही है—पार्टीशन से पहले का लाहौर, जो एक समय कलात्मक गतिविधियों का केन्द्र था, आतंकवादी आन्दोलन, कारावास, युद्ध के दौरान बर्मा के मोर्चे पर सैनिक अनुभव, बीहड़ यात्राएँ—शायद ही किसी हिंदी-लेखक का अनुभव-संसार—'लॉग बुक' की सामग्री—इतनी विराट और समृद्ध रही हो, जितनी इन पुस्तकों के लेखक की—किन्तु स्वयं इन पुस्तकों में इनकी कोई झलक, कोई ब्यौरा, 'अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियों' का तनिक भी लेखा-जोखा नहीं मिल पाता। तीनों पुस्तकों में स्थानों, घटनाओं और व्यक्तियों का असाधारण शून्य और अभाव है। लेखक हमें जिस 'सागर पथ' को देखने का निमन्त्रण देता है, वहाँ समुद्र की लहरें, ज्वारभाटा, आँधी-तूफ़ान का परिदृश्य नहीं मिलता—सिर्फ़ अज्ञेय की 'अन्त:प्रक्रियाएँ' देखने को मिलती हैं—अपने में अन्त:दृष्टिपूर्ण, मर्मज्ञ, मूल्यवान—लेकिन उनका 'लॉग बुक' के मैले, फटे पानी के धब्बों से भरे पन्नों से दूर का रिश्ता नहीं—जिन्हें उठती हुई लहरों और हिलती हुई लालटेन के बीच दर्ज किया जाता है।

इससे इन पुस्तकों का महत्व कम नहीं हो जाता—सिर्फ़ लेखक के निजी दावों से जो आशा बँधती है, वह पूरी नहीं होती। एक अफसोस-सा होता है कि हम एक ऐसे दुर्लभ मौके से चूक गये, जहाँ हम एक लेखक की दुनिया को अन्तरंग भाव से देख पाते, जिसके बीच स्वयं लेखक की प्रतिक्रियाएँ एक जीवन्त सन्दर्भ ग्रहण कर पातीं। ज़रूरी नहीं, लेखक अपनी डायरी या जर्नल लिखे—स्वयं अज्ञेय इन्हें डायरी नहीं मानना चाहेंगें—किन्तु यदि इन्हें महज़ विचार-सूत्रों के संकलन से कुछ अधिक होना था, तो ज़रूरी था, वांछनीय भी, कि हम लेखक के बौद्धिक आग्रहों के पीछे उन व्यक्तिगत अनुभवों की पीठिका भी जान पाते, जिनके रहते ही कोई विचार सूत्र, और अन्तर्दृष्टि, अमूर्त चौखटे से उठकर एक निजी, विशिष्ट किस्म की गरमाई और स्पन्दशीलता ग्रहण कर पाती है।

यह नहीं, ऐसा बिल्कुल नहीं है। जब कभी अज्ञेय अपनी बुद्धि से उतरकर आँख पर आते हैं, तो एक अद्भुत, मांसल सेन्सुअल लगाव का लैण्डस्केप आलोकित हो उठता है। शायद ही किसी आधुनिक लेखक ने 'चर-अचर' की दुनिया को इतने उत्सुक भाव से देखा हो, जितना अज्ञेय ने। कैमरे की आँख की तरह उनकी दृष्टि हर लय, थिरकन और ठहराव को पूरी डिटेल के साथ रजिस्टर कर सकती है: "पत्थर के झरते पत्ते से अधिक सुन्दर किसी चीज़ की कल्पना नहीं कर पा रहा हूँ । वह धीरे-धीरे, लय के साथ डोलते

हुए झरना– मानो धरती के गुरूत्वाकर्षण से मुक्त होकर, भारमुक्त होकर तिरना....कोई भी लययुक्त गति–फुलचुही का पंख फड़फड़ाते हुए क्षणभर को अधर में अटक जाना; अच्छी तैराकी, घुड़दौड़ की सरपट, अबाबील की लहराती या बाज-सी सीधी उड़ान; हिरण की छलाँग जो अपने शिखर पर एक साथ ही निश्चेष्ट और निरायास अग्रसर हो जाती है.....''

यह महज़ एक लिरिकल उच्छ्वास नहीं है; यह एक ऐसी मर्मज्ञ आधुनिक दृष्टि है जिसके पीछे 'खोने की पीड़ा' भी छिपी है, यह तीखा बोध, कि जिस युग और दुनिया में हम रह रहे हैं, उसमें लय का यह नैसर्गिक स्पन्दन, इस स्पन्दन को देखनेवाली दृष्टि धीरे-धीरे धुँधलाती जा रही है। यहीं खास इस बिन्दु पर 'आधुनिक मशीनी संस्कृति' के प्रति एक बुद्धिजीवी की वितृष्णा और पीड़ा सार्थकता प्राप्त करती है। अज्ञेय का प्रकृति-बोध इस दृष्टि से छायावादी बोध से बहुत अलग है–वह पहाड़ों को देखकर मुग्ध होते हैं, तो नीचे जंगलों में पेड़ों के कटने का आर्तनाद भी सुनते हैं; बल्कि यूं कहें, यह 'कटने' का बोध उन्हें प्रकृति के लगाव में 'एंगुइश', एक गहरी दरार अंकित कर जाता है। उनकी कविताएँ अपने प्रतिद्वन्द्वी रूपकों के बीच एक तरह से, क्रॉस रेफरेंस' बन जाती हैं–सचेत अन्तर्मुखी आधुनिकता और प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच। मेरे विचार में समकालीन भारतीय लेखन की 'आधुनिकता' की यह सबसे प्रामाणिक कसौटी है कि परम्परा से विगलित हो जाने के बावजूद–स्वयं आधुनिक उपकरणों पर वह कितनी गहरी चोट कर सकता है स्वयं चोट खाकर कैसे अपनी प्रतिक्रिया प्रकट कर सकता है।

अज्ञेय चोट खाकर परम्परा की तरफ नहीं मुड़ते, न किसी भविष्यवादी दर्शन की ओर; वह अपनी तरफ मुड़ते हैं, जहाँ वह स्वतन्त्र रूप से अपनी परम्परा से जुड़ सकते हैं, अपने भविष्य को चुन सकते हैं। आलोचकों ने जिसे अज्ञेय का 'अहं' माना है, वह वास्तव में लेखक का कवच है, सिर्फ अपने को सुरक्षित रखने का यन्त्र नहीं, बल्कि उन मूल्यों को बचाने का साधन भी, जो नष्ट हो रहे हैं, जिन्हें जानबूझकर प्रगति, आधुनिकता और युग-धर्म के नाम पर नष्ट किया जा रहा है।

किन्तु चुनाव का संघर्ष, परम्परा और आधुनिक बोध के बीच एक हिन्दुस्तानी लेखक की सृजन-कामना, अपनी निजी स्वतन्त्रता के बीच भारतीय परिवेश के अन्तर्द्वन्द्वों से जूझने की छटपटाहट–वे सब तत्त्व जो एक भारतीय लेखक को एक विशिष्ट आयाम देते हैं, अज्ञेय में अन्ततः अपने 'मैं' के इर्द-गिर्द चक्कर खाकर खत्म हो जाते हैं। हमें आश्चर्य होता है, कि अपनी परम्परा से सम्पन्न होने पर भी–और उसके बावजूद–अज्ञेय ने कभी

आलोचनात्मक, क्रिटिकल दृष्टि से उस 'आधुनिकता' की जाँच-पडताल नहीं की, जो पिछले तीस वर्षों से एक लेखक के लिए बोझ, दबाव और चुनौती की तरह प्रस्तुत होती रही है, न ही दूसरी तरफ स्वयं आधुनिक दृष्टि से उन्होंने अपनी जातीय परम्परा का मुखर विवेचन और परीक्षण ज़रूरी समझा, जो वह पश्चिमी संस्कृति के अपने ज्ञान और अनुभव के कारण कर सकते थे। वह उन बहुत कम हिन्दी-लेखकों में हैं जो एक साथ अपनी परम्परा के प्रति संवेदनशील और पश्चिमी साहित्य के प्रति सजग रहे हैं। यह बात इसलिए भी अखरती है कि स्वयं अज्ञेय के समकालीन बुद्धिजीवियों ने—मैक्सिको में पाज़, अल्जीरिया में फेनन (यदि हम तथाकथित 'तीसरी दुनिया' के लेखकों तक अपने को सीमित रखें) ने इन्हीं समस्याओं के सन्दर्भ में अपने 'मैं', अपनी जातीय अस्मिता, स्वयं अपने साहित्य-कर्म को परिभाषित करना चाहा था। हिन्दुस्तान में यह काम सिर्फ़ राजनीति में हुआ—गांधी और उसके बाद लोहिया के कर्म-चिन्तन में—साहित्य इससे बिल्कुल अछूता और सूना पड़ा रहा। इन प्रश्नों के अभाव में ही अज्ञेय और प्रगतिवादियों के बीच बहस—व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समूहवाद के बीच सैद्धान्तिक द्वन्द्व—आज इतना सरलीकृत, अमूर्त और अप्रासंगिक जान पड़ता है। इस बहस में अज्ञेय के विचारों से सहमत होते हुए भी बार-बार एक अजीब असन्तोष का अनुभव होता है, मानो हम दुराग्रहों, सिद्धान्तों और अहं की कुहेलिका में फँसकर भारत के केन्द्रीय सांस्कृतिक संकट की समस्याओं से कतरा रहे हों—समस्याएँ जो न सिर्फ़ 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य' में सिकोड़ी जा सकती हैं, न समाजवाद के जादुई मन्त्र और फार्मूले से सुलझाई जा सकती हैं।

और तब मुझे अपने असन्तोष का कारण मालूम होता है—अज्ञेय अधिकांश समय 'मैं' से उठकर 'अन्य' की ओर जाते हैं, अन्य से मुड़कर 'मैं' की ओर। 'मैं' हमेशा सुसंस्कृत, सतर्क और शालीन है, 'अन्य' हमेशा उच्छाड़, ग़लत और हास्यास्पद। इस 'लडाई' में अज्ञेय हमेशा जीत जाते हैं, बिना यह जाने कि जिस 'अन्य' का उन्होंने निर्माण किया है, वह उनके 'मैं' का ही अँधेरा पक्ष है। इस आदर्श 'मैं' और क्षुद्र 'अन्य' के बीच की धरती पर उनकी निगाह कम ही पड़ती है, और जब पड़ती भी है, तो भी वह इस धरती की धूल-गर्द, इतिहास की लौहवत् पदचाप, सृजन-कर्म का आधुनिक संकट, खास हिन्दुस्तानी बुद्धिजीवी की यातनामय विडम्बनाओं से अपना आँचल बचाये रखते हैं। न तो उनका 'मैं' इतना आत्म-आलोचनात्मक है, अपने को तार-तार कर देनेवाला निर्मम, निष्पक्ष 'मैं' जिसके क्षत-विक्षत कवच के पीछे हम उनकी अन्तरात्मा देख पायें, जिसके हर स्पन्दन में 'बाहर' की धमनी धड़कती है, न उनका 'अन्य' ऐसा है, जो इतिहास के कुरुक्षेत्र में, खास अपने समय के धुआँधार नैतिक-द्वन्द्वों के बीच एक तात्कालिक विश्वसनीयता, एक कसौटी,

एक प्रामाणिक परिप्रेक्ष्य बन सके। वात्स्यायनजी की हर बात महत्वपूर्ण है, चाहे वह भाषा के बारे में हो या आज की राजनीतिक संस्कृति के सम्बन्ध में, किन्तु जिस बौद्धिक कोण से वह बात उठाते हैं, उसमें किसी तरह का मानवीय लगाव, कोई नैतिक परेशानी, कोई तीखा, तात्कालिक 'स्टेक' नहीं मिलता; और तब मुझे लगता है कि जिस तरह पेण्टिंग और कविता में केवल रंग या शब्द अपने में कोई महत्व नहीं रखता, जब तक वह अपनी उचित, सही 'स्पेस' से नहीं बोलता, उसी तरह किसी लेखक की वाणी तब तक सत्य की खनक नहीं प्राप्त करती, जब तक लेखक स्वयं एक ऐसी स्पेस, एक ऐसी जगह नहीं चुनता, जहाँ से उसके शब्द, उसकी दृष्टि, उसके आग्रह, शाश्वत की सांसारिकता और संसार का अकेलापन एक साथ ही अपने युग के चेहरे पर अंकित नहीं कर जाते।

अकेलापन ! सम्भव है, अज्ञेय ने अपने 'मैं' के इस अकेलेपन में ही अपनी 'स्पेस' को खोजना चाहा हो। यह अकेलापन ओढ़ा हुआ नहीं है, दिखावटी नहीं है। इसका एक छोर यदि अज्ञेय की आत्मसुरक्षा से जुड़ा है, तो दूसरा छोर हिन्दी साहित्य के उस भयावह वातावरण से बँधा है—जिसमें अज्ञेय ने अपने सर्वश्रेष्ठ वर्ष गुज़ारे हैं। शायद ही किसी लेखक ने अपने ऊपर इतने मूढ़, वैमनस्यपूर्ण, कर्कश प्रहार झेले हों, जितना अज्ञेय ने। एक समय था, जब उन्हें **फ्रायड और लॉरेंस** का 'नकलची' अनुयायी बताया गया—'मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों का शिकार', (खासकर उन मार्क्सवादी आलोचकों ने, जिन्होंने न फ्रॉयड पढ़ा था न लॉरेंस और शायद मार्क्स भी नहीं), फिर 'शीतयुद्ध' के दिनों में वह 'अमेरिकी एजेण्ट' घोषित किये गये, बाद के वर्षों में उन्हें 'गिराने' के लिए समीक्षकों ने बेचारे मुक्तिबोध को अस्त्र बनाया—वही मुक्तिबोध, जो अपने जीवनकाल में इतने अधिक उपेक्षित बने रहे।

जब किसी साहित्य में सार्थक, जीवन्त और संयत समीक्षा-पद्धति मुरझाने लगती है, तो उसके साथ अनिवार्यत: एक परजीवी वर्ग, एक साहित्यिक माफिया पनपने लगता है—एक तरफ विश्वविद्यालयों के साहित्यकार समीक्षक, दूसरी तरफ 'मेरे हमदम, मेरे दोस्त' जैसे अक्खड़ अखाड़ेबाज आन्दोलनकर्त्ता, तीसरी तरफ साप्ताहिक दैनिकों में नौकरी करनेवाले लेखक पत्रकार। इन लोगों का साहित्य और संस्कृति के मूल्यों से सरोकार नहीं, किन्तु पिछले वर्षों में इनके हाथों में एक छद्म किस्म की ताकत जमा होती गयी है। एक तरह से भारतीय राजनीति की निर्मूल और मूल्यहीन सत्तावादिता जीवन के हर क्षेत्र को दूषित कर गयी है; यह आश्चर्य की बात होती, यदि साहित्य इससे अछूता रह जाता। **समकालीन हिन्दी साहित्यकार संस्कृति से अपने को जोड़कर राजनीति में इस अनैतिक, अनाधिकार**

**हस्तक्षेप को रोक सकता था। इसके विपरीत हुआ यह कि स्वयं साहित्य संस्कृति से कटकर राजनीति के सत्तामत्त मतवादी दबाव के आगे घुटने टेकने लगा।**

ऐसी दम घोंटनेवाली स्थिति में साहित्यकार का अकेलापन पलायन नहीं, स्वयं इस स्थिति का विरोध, एक निजी प्रोटेस्ट, एक चुनौती भरा अस्वीकार हो सकता है, होना चाहिए, ऐसा मैं मानता हूँ । अज्ञेय के अकेलेपन को हम केवल हिन्दी के इस वाचाल, अर्थहीन, मरुस्थली सन्दर्भ में ही आँक सकते हैं। हिन्दी के अधिकांश पत्रकार समीक्षकों की मुखरता के पीछे जो विवेकहीन, अर्थहीन शब्दों का घटाटोप है, उसे स्वयं लेखक कवि के अलगाव में सिमटा हुआ 'शब्द' तोड़ सकता है। साहित्य में सृजनात्मक बोध और कलात्मक संवेदना को बचाना, स्वयं साहित्य को बचाने की एक नैतिक चुनौती बन गया है। अज्ञेय एक लेखक के नाते इस चुनौती को स्वीकार करते हैं। इन पुस्तकों की एक बड़ी सार्थकता शब्द की उस गरिमा में निहित है, जो भीतर के मौन और मनन से फूटकर अपनी विशिष्ट, निजी खोज को रेखांकित करती है। मुश्किल तब आती है, जब अज्ञेय स्वयं अपने इस 'अकेलेपन' के प्रति ज़रूरत से ज्यादा सजग हो जाते हैं, उसे एक विवशता न मानकर आभूषण समझने लगते हैं, मानो वह दुनिया को दिखाकर बार-बार यह कहना चाहते हों, देखो, मैं तुमसे कितना अलग-थलग रह सकता हूँ । इससे संकोच और खीज दोनों ही होती है। यह नहीं, कि अज्ञेय के अकेलेपन की सच्चाई पर सन्देह होता है, वह सिर्फ़ थोड़ा-सा अवमूल्यित हो जाता है। अवमूल्यित सिर्फ इसलिए नहीं होता कि लेखक स्वयं उसे दर्शाता है—बल्कि एक गहरे मूल बुनियादी अर्थ में भी—जब हम पाते हैं कि अज्ञेय ने अपने इस अकेलेपन की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए किसी भी सरकारी पुरस्कार, ओहदे, बड़ी अखबारी नौकरी को अस्वीकार नहीं किया। राजमार्ग ने उन्हें न चुना हो, स्वयं उन्होंने राजमार्ग पर चलने में—जब कभी उन्हें ऐसा अवसर मिला हो—कोई अनिच्छा या नैतिक आपत्ति दिखायी हो, ऐसा उनके जीवन-कर्म में देखने को नहीं मिलता—कहीं ऐसा नहीं दिखता कि अकेलेपन ने उन्हें दुनिया के प्रलोभनों से अलग—स्वयं अपने लेखन में ही सन्तुष्ट होना सिखाया हो। वह दूसरों की यशलिप्सा की खिल्ली उड़ा सकते हैं (देखिए **भारतीजी** के पद्मश्री मिलने पर उनका व्यंग्यात्मक मुक्तक) स्वयं अपनी महत्वाकांक्षाओं के खोखलेपन पर नहीं हँस सकते। **वर्जीनिया वुल्फ** ने एक समय किसी सरकारी सम्मान को अस्वीकार करते हुए अपनी डायरी में लिखा था, "मैं सिर्फ अकेले में रहना चाहती हूँ .....जिस दिन सम्मानों की तरफ भागूँगी, लिखना बन्द कर दूँगी।''

ये शब्द अज्ञेय के लिए—उनके समूचे अकेलेपन के बावजूद—कितने पराये जान पठते हैं : वह मानो स्वयं अपने स्वच्छ एकान्त के आगे—कुछ छोटे से पड़ जाते हैं।।

"मैं अकेलापन चुनता नहीं, स्वीकार करता हूँ", अज्ञेय ने लिखा है : यह स्वतन्त्र स्वीकृति ही उन्हें आत्मकेन्द्रित होने से बचा लेती है। अज्ञेय अहं संम्मोहित भले ही हों, आत्मकेन्द्रित नहीं हैं, जिस अर्थ में प्रगतिवादियों ने उन पर आरोप लगाया है। मुझे यह आरोप हमेशा ग़लत और अर्थहीन जान पड़ता है। अज्ञेय में दूसरों तक पहुँचने की गहरी ललक, सम्प्रेषणीयता में अदम्य विश्वास है, जो उनकी कविताओं में एक अजीब तरह की चमकीली ऋजुता, एक तरह की सहज उच्छलता, गहन विचारों के बावजूद एक आत्मविश्वासी हल्कापन ले आता है। वह दुरूह हो सकते हैं, अस्पष्ट नहीं और दुरूहता भी कभी श्रमसाध्य नहीं होती। **"लेखक होने के नाते दूसरे तक पहुँचना—उसके भीतर पैठकर उसे अपने भीतर पैठने देना—पैठाना—मैंने अनिवार्य माना है।"** आज के प्रचारवादी युग में जहाँ सम्प्रेषणीयता की कीमत शब्दों को अवमूल्यित करके चुकानी पड़ती है, वहाँ अज्ञेय अपनी भावनाओं को अक्षुण्ण रखते हुए भी—एलीट मनोवृत्ति और 'सामान्य आदमी' के वल्गर सरलीकरण से ऊपर उठकर कलात्मक सम्प्रेषणीयता की चुनौती का सामना कर सके, यह उनकी साहसपूर्ण उपलब्धि है। उनके भीतर एक अद्भुत आत्मसंयम है—जो उनके रोमाण्टिक भावबोध को भी एक सीमा बाद विगलित नहीं होने देता, बिखरने नहीं देता। यह क्लासिक किस्म का सौष्ठव उनके रोमाण्टिक रुझानों को—स्वयं 'रोमाण्टिक' शब्द को एक नया संस्कार देता है। आधुनिकता और यथार्थवादिता की धारा में बहते हुए जहाँ आलोचकों ने 'रोमाण्टिक' शब्द को ही विकृत और कला से बहिष्कृत करना चाहा है, वहाँ अज्ञेय ने उसे रोमानी प्रवृत्ति से अलग करके एक ऐसे अनुभव के साथ जोड़ा है जो छायावादी परम्परा को एक नया सन्दर्भ, और आयाम देता है।

किन्तु अज्ञेय का रोमाण्टिसिज्म शमशेर और मुक्तिबोध से बहुत भिन्न है। उनका 'मैं' शमशेर का कवि नहीं, जो दुनिया में अपने 'होने' की प्रसवपीड़ा भोगता है, खुद उसमें लय होना चाहता है ताकि अपने खुरदरे, बेलौस अस्तित्व के लिए कोई लय, कोई रंग, कोई राग हासिल कर सके। न अज्ञेय की दुनिया मुक्तिबोध की दुनिया की तरह इतनी भयावह, भीमकाय और घुमावदार है, जो स्वयं कवि के 'मैं' पर चोट करती है, नाखूनों से खरोंचती है, लहूलुहान करती है। अज्ञेय निरीह नहीं हैं, वलनर्बेल नहीं हैं, वह अपने को, अपनी कविता को बचाने की कला जानते हैं। उनकी कोई कविता कभी इतनी अटपटी नहीं होती, जितनी मुक्तिबोध की कुछ कविताएँ हो जाती हैं, किन्तु वह अपनी दुनिया को छोड़कर उस 'अँधेरे में' भी नहीं जाते जहाँ कविता एक अद्भुत मिथक शक्ति प्राप्त कर लेती है, जहाँ कविता का जोखिम ही कविता के सत्य को नापने का यन्त्र बन जाता है। अज्ञेय में यदि अपनी दुनिया को झेलने की शक्ति है, तो इसलिए कि वह अपनी दुनिया को रचाने

की कला जानते हैं, एक ऐसा कवच और कुशन, जिस पर प्रहार पड़ते हैं तो खाल थरथराती अवश्य है, अपने को घायल नहीं होने देती। स्वयं अज्ञेय के शब्दों में, "मैं अपनी दुनिया में रहने का आदी हूँ ; और गहरे में कहीं जानता और मानता आया हूँ कि वह दुनिया मैं ही बनाता हूँ, मैने ही बनायी है, मैं ही गिराऊँगा।" और यह लिखने के बाद उन्हें तुरन्त बोध होता है कि उन्होंने स्वयं अपने 'अहं' की सबसे सही परिभाषा दे दी है, इससे उन्हें अपनी दुनिया की परिहार्यता या अपने 'मैं' की सीमाओं पर क्लेश नहीं होता, सिर्फ़ इसलिए होता है कि दूसरे लोग इसे क्या कहेंगें; तुरन्त इन वाक्यों के बाद वह लिखते हैं, "इसीलिए लोग अहंवादी या अयथार्थवादी कहते हैं, तो क्लेश भले ही हो, आश्चर्य नहीं होता।"

यह अज्ञेय के रोमाण्टिसिज्म की घोर सीमा है, जहाँ वह मुड़कर अपनी दुनिया पर आलोचनात्मक दृष्टि नहीं डाल पाते खुद उसमें प्रश्न-चिन्ह नहीं लगाते। कौन-सा ऐसा लेखक है, जो अपनी दुनिया खुद नहीं बनाता और मिटाता? किन्तु बनाने की प्रक्रिया में जो मोह-माया जागती है, मिटने पर उसकी यन्त्रणा कितनी विध्वंसकारी हो सकती है। खुद अपने को इस विध्वंस के बीच देख पाना–हर महत्वपूर्ण लेखक इस यात्रा से गुज़रता है और ठीक इसी बिन्दु पर लेखक का 'आधुनिक बोध' पुराने रोमाण्टिक कवि से अलग हो जाता है, जो अपनी दुनिया को आदर्श और उदात्त बनाकर ही कटु यथार्थ का अतिक्रमण कर सकता था। आधुनिकता की यह मजबूर, अभिशप्त आत्मचेतना ही है जिसके परिणामस्वरूप लेखक केवल अपनी दुनिया को ही नहीं मिटाता, स्वयं अपने 'मैं' को भी मिटाना चाहता है, जो एक सुर्ख, ज्वरग्रस्त आँख-सा उसके और दुनिया के बीच चमकता रहता है और जब वह उसे सम्पूर्णतया मिटा देता है, तभी वह आधुनिक बोध के आत्मघाती पाप और ज्वर से भी छुटकारा पा लेता है। पूरी तरह से 'अन्धा' होने पर ही वह सम्पूर्ण रूप से देख सकता है। क्या अज्ञेय इस आत्मसंहारी अर्थ में 'आधुनिक' हो पाये हैं?

यह नहीं, कि अज्ञेय अहं के आलोक-मण्डित दायरे से बाहर नहीं देखते–समाज की शायद ही कोई जीवन्त समस्या हो–राजनीति का दूषण, भाषा और शब्द की मर्यादा, काल का रहस्य, आधुनिक संस्कृति के अन्तर्द्वन्द्व–अनेक विषयों पर उन्होंने अपनी पैनी, मर्मभेदी दृष्टि डाली है। इसके बावजूद उनकी इन पुस्तकों को पढ़ते हुए बराबर खीज की किरकिरी चुभती है। क्या है इस खीज का कारण? क्या अज्ञेय, अन्ततः सब कुछ कहने के बाद उस हद पर आकर रूक जाते हैं, जहाँ कलाकार का चिन्तन शुरू होता है–केवल समस्याओं पर विचार-सूक्तियाँ नहीं–बल्कि आत्मावलोकन, जो स्वयं अपनी सृजन-गुत्थियों को सुलझाते हुए 'पुराने समाधानों' को अपने अनुभवों की चुभन और चमक दे जाता है? अज्ञेय

को मालूम है, कि समाज और संस्कृति का संकट स्वयं व्यक्ति के बीच मौजूद है, उन्होंने उन 'समूहवादी' समस्त छलावों और भुलावों को भेदा है, जहाँ व्यक्ति के पतन में स्वयं मनुष्य तिरस्कृत हुआ है; इसलिए शिकायत यह नहीं है कि वह 'व्यक्तिवादी' हैं—बल्कि यह कि वह इस निर्मम हद तक व्यक्तिवादी नहीं हो पाते, जहाँ स्वयं कलाकार का व्यक्तित्व आत्मविश्लेषण की वस्तु बन जाता है, निरीह, कातर, हास्यास्पद, लहूलुहान, चिन्तक का विषय नहीं, बल्कि स्वयं जीने का कच्चा माल, आत्मसुरक्षित सलवटों में सिमटा नहीं, तार-तार उघड़ा हुआ, विडम्बनाओं की धूल-कीचड़ में सना हुआ; गर्वीला, मदमाता दीप नहीं, खुद आग में झुलसा हुआ कलाकार का 'मैं' जो "समय का अतिक्रमण नहीं करता, बल्कि समय का निम्नतम गुलाम है, वह एक बदहवास-सा कुत्ता, जो ज़िन्दगी भर विभिन्न गन्धों की टोह में भटकता रहता है, सौन्दर्यवादी लेकिन सौन्दर्य के तीर द्वारा बँधा हुआ शिकार भी.....एक ऐसा प्राणी जो एक ही समय में दूसरों के विरूद्ध और अपने ख़िलाफ़ हो सकता है। तड़पता हुआ, नाराज, विक्षुब्ध, किन्तु अपने अन्तर्विरोधों के प्रति हर क्षण सचेत। कलाकार से यह माँग करना बहुत क्रूर चीज़ है, वह उतनी ही क्रूर और बुनियादी माँग है जितनी—मृत्यु" (एलियास कैनेटी-'काशंस ऑफ वर्ड्स')।

क्रूर लेकिन मृत्यु की तरह ही अनिवार्य जिसके बिना लेखक सब कुछ हो सकता है—विचारक, चिन्तक, समाज-सुधारक—लेकिन कलाकार नहीं। मुझे यदि असन्तोष होता है तो इसलिए कि अज्ञेय अपने से यह माँग नहीं करते, शायद उसे ज़रूरी भी नहीं समझते, उनकी इन पुस्तकों में 'अर्जित किये हुए सत्य' अवश्य मिलते हैं, स्वयं सत्य को तलाशने की अन्तर्पीड़ा, पिपासा, सन्देह, मन को घुलाती हुई मैल, मैल जो भीतर के सूरज को बार-बार अपने झूठों से छिपा लेती है, इन झूठों का कातर सत्य, उस सत्य को मथनेवाला क्रूर, आत्मवेधी विश्लेषण नहीं मिल पाता। इस विश्लेषण के अभाव में उनकी अपनी पीड़ा भी एक निजी थाती, एक भोग की वस्तु बनकर रह जाती है। जिस यातना और अकेलेपन की चर्चा अज्ञेय इतनी करते हैं, वह आगे बढ़कर हमें साझा करने में उत्प्रेरित नहीं करती, आत्मा की टीस बनकर टिपटिपाती नहीं, झकझोरती नहीं, सिर्फ अज्ञेय की अर्जित, मूल्यवान, प्रेशस अनुभूति बनकर रह जाती है, प्रेशस अनुभवों का संचय, जो सच लगते हैं, सच हैं भी, लेकिन अपनी सचाई हमारे भीतर भोंकते नहीं, हम उनकी बौद्धिक तर्कपूर्ण साफ-सुथरी अवधारणाओं को देखते ज़रूर हैं, सहमत भी होते हैं-प्रसन्न होते हैं कि हिन्दी साहित्य में ऐसे सोच-विचार कम मिल पाते है-लेकिन वहाँ रूकते नहीं, मुँह मोड़ लेते हैं, उनकी तरफ फिर-फिरकर नहीं लौटते। आँखों से ओझल होते ही वे मुरझाने लगते हैं—अपने पीछे ज़रा-सी चुभन, एक दरार, कोई कृतज्ञताबोध नहीं छोड़ जाते।

और यह दुर्भाग्य है—क्योंकि हमारे युग में—खासकर हिन्दी के चिन्तन साहित्य में—अज्ञेय का लेखन महत्वपूर्ण है, नारों और अति सरलीकृत फार्मूलों के घटाटोप वातावरण में वह बहुत कुछ देते हैं, जो एक बार फिर हमारा विश्वास मनुष्य के विवेक और शब्द की गरिमा में प्रतिष्ठित करता है। यदि आज हम उसकी अवहेलना करते हैं, उसे अप्रासंगिक मानकर आगे बढ़ जाते हैं, तो यह न केवल अज्ञेय की सीमाओं पर क्रूर टिप्पणी है, बल्कि उस अभागी मन:स्थिति पर भी, जिसमें आज हम जीते हैं।

# 13. शमशेर : मेरी दृष्टि में

गजानन माधव मुक्तिबोध

शमशेर का काव्य अनेक दृष्टियों से मुझे आकर्षित करता रहा है—शिल्प के कारण, काव्य-व्यक्तित्व के कारण। प्रश्न यह है कि काव्य-व्यक्तित्व के भीतर की वह कौन-सी सक्रिय आवश्यकता है, जिसने अपनी अभिव्यक्ति के शिल्प का विकास किया? शमशेर के काव्य के सम्बन्ध में यह प्रश्न और भी सही है। कहना न होगा कि शिल्प की दृष्टि से शमशेर हिन्दी के एक अद्वितीय कवि हैं।

अपने स्वगं के शिल्प का विकास केवल वही कवि कर सकता है, जिसके पास अपने निज का कोई ऐसा मौलिक विशेष हो, जो यह चाहता हो कि उसकी अभिव्यक्ति उसी के मनस्तत्त्वों के आकार की, उन्हीं मनस्तत्त्वों के रंग की, उन्हीं के स्पर्श और गन्ध की ही हो। दूसरे शब्दों में, अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठने वाला मौलिक-विशेष आत्मचेतस् भी होना चाहिए। यदि यह मौलिक-विशेष आत्मचेतस् न हुआ, तो उसका तो यह आग्रह नहीं रहेगा कि उसके मनस्तत्त्वों की अभिव्यक्ति उसी के आकार और काट की हो। ऐसा कवि नये शिल्प का विकास न कर सकेगा।

इसी मौलिक-विशेष के दो आयाम हैं—एक, मनोरचना अर्थात् आत्मा का भूगोल; और दूसरे, मनस्तत्व अर्थात् आत्मा का इतिहास। इस भूगोल और इतिहास से मौलिक-विशेष का निर्माण हुआ है। यह मौलिक-विशेष आत्मचेतस् होकर अपनी सत्ता स्थापित करता है। उसकी आत्म-प्रस्थापना का एक रूप शिल्प का विकास है। दूसरे शब्दों में, शिल्प का विकास काव्य-व्यक्तित्व से, अटूट रूप से जुड़ा हुआ है, और उस शिल्प में व्यक्तित्व की क्षमता और सीमा, भाव और अभाव, सामर्थ्य और कमजोरी, ज्ञान और भ्रम, सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट होते हैं।

मनोरचना की शैली-विशेष जिस प्रकार कवि के काव्य-व्यक्तित्व को एक रूप देती है, उसी प्रकार कवि के जीवन और चरित्र का विकास उसके आग्रहशील अनुरोधपूर्ण काव्यमनस् और उसके तत्वों को निर्धारित करता है। इस दिक् और काल, भूगोल और इतिहास के परस्पर प्रतिक्रियान्वित रूप का अध्ययन काफी मनोरंजक और महत्वपूर्ण है। किन्तु इस मार्ग पर चलने से शमशेर के काव्य के विश्लेषण का कर्त्तव्य बहुत लम्बा हो जायेगा, और सम्भवतः, उस कर्त्तव्य को सफलतापूर्वक पूरा कर भी न सकूँगा।

अतएव, शमशेर के सम्बन्ध में मैं अपनी कुछ बुनियादी प्रतिक्रियाओं को ही यहाँ रखना चाहूँगा। शमशेर एक समर्पित कवि हैं। उन्होंने अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग और प्रदीर्घ

काव्यक्षण काव्यसाधना में बिताये हैं—नि:स्वार्थ भाव से, यश:प्रार्थी न होकर। शमशेर की आत्मा ने अपनी अभिव्यक्ति का एक प्रभावशाली भवन अपने हाथों तैयार किया है। उस भवन में जाने से डर लगता है—उसकी गम्भीर प्रयत्नसाध्य पवित्रता के कारण। भाषा के विकास-स्तर का नीचापन, अपने अनुकूल सिद्ध हो सकनेवाली और सहायता दे सकनेवाली किसी परम्परा का अभाव, रसज्ञ आलोचकों और मर्मज्ञ पाठकों के स्थान पर विरोधी वातावरण, आदि अनेक असुविधाओं और कठोर उपेक्षाओं के बीच, जिस आत्मा ने दुर्निवार रूप से, दुनिया की परवाह न करते हुए, सस्ती ख्याति के चक्कर में न पड़कर, जो अभिव्यक्ति-शिल्प तैयार किया वह हिन्दी साहित्य को एक अनूठी देन है। शमशेर, नि:सन्देह, एक अद्वितीय कवि हैं। उनकी काव्य-आत्मा नितान्त स्वाभाविक है, बिल्कुल खरी है, साथ ही वह रसमय होते हुए उलझी हुई है—उतनी ही उलझी हुई, जितनी कि, और जैसी कि, प्रत्येक वास्तविकता, अपनी मौलिक विशिष्टता में, उलझी हुई होती है।

शमशेर की मूल मनोवृत्ति एक इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार की है। इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार अपने चित्र में केवल उन अंशों को स्थान देगा जो उसके संवेदना-ज्ञान की दृष्टि से, प्रभावपूर्ण संकेत-शक्ति रखते हैं। वह दृश्य-चित्र में उन्हीं अंशों को स्थान देता है, कि जो उसके संवेदना-ज्ञान की दृष्टि से उस दृश्य के अत्यन्त महत्वपूर्ण, अत: प्रगाढ़, प्रभावपूर्ण, अंग हैं। केवल कुछ ही ब्रशेज़ में वह अपना काम करके दृश्य के शेष अंशों को दर्शक की कल्पना के भरोसे छोड़ देता है। दूसरे शब्दों में, इम्प्रेशनिस्ट चित्रकार दृश्य के सर्वाधिक संवेदनाघात करनेवाले अंशों को प्रस्तुत करेगा, और यह मानकर चलेगा कि यदि यह संवेदनाघात दर्शक के हृदय में पहुँच गया तो दर्शक अचित्रित शेष अंशों को अपनी सृजनशील कल्पना द्वारा भर लेगा।

शमशेर ने अपने हृदय में आसीन चित्रकार को पदच्युत कर कवि को अधिष्ठित किया है। इससे एक बात यह हुई है कि कवि का कार्यक्षेत्र (स्कोप) बढ़ गया है। इम्प्रेशनिस्टिक ढंग का चित्रकार जीवन की उलझी हुई स्थितियों का चित्रण नहीं कर सकता—वह उसके किसी दृश्य-खण्ड को ही प्रस्तुत कर सकता है। उस विचित्र दृश्य-खण्ड में भी, वह दृश्य के सूक्ष्म पक्षों को प्रस्तुत नहीं कर सकता। किन्तु कवि वैसा कर सकता है।

शमशेर ने अपने कवि को यही टेकनीक प्रदान किया है, मनोवृत्ति प्रदान की है, शैली प्रदान की है। और इस प्रकार उसे न्यस्त करते हुए, जीवन का अथाह समुन्दर मापने के लिए उसे छोड़ दिया है। दूसरे शब्दों में पदच्युत चित्रकार के जिस सिंहासन पर कवि विराजमान है, वह सिंहासन अपनी जादुई शक्ति से कवि को बाध्य करता है कि वह इम्प्रेशनिस्टिक टेकनीक और मनोवृत्ति अपनाये, और इस प्रकार इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकला

के मूल नियमों को काव्यकला में गुप्त रूप से संस्थापित करे। किन्तु चित्रकार से कवि का कार्यक्षेत्र बड़ा है। केवल इम्प्रेशनिस्टिक कला उसके लिए अधूरी है। फिर भी चूंकि वह पदच्युत चित्रकार के सिंहासन पर बैठा है, इसलिए उसका टैक्स तो देना ही होगा, फ़ीस तो चुकानी ही होगी, उस सिंहासन की परम्परा को आगे बढ़ाना ही होगा। संक्षेप में, इम्प्रेशनिस्टिक कला ने शमशेर से त्याग करवाया है, साथ ही उन्हें बहुत कुछ मौलिक और विशिष्ट गुण भी दिये हैं, जो किसी अन्य कवि में नही पाये जाते।

कभी-कभी पदच्युत चित्रकार के सिंहासन और उस पर विराजमान कवि में झगड़ा हो जाता है। कवि चाहने लगता है कि सिंहासन के चुंगल से छूटकर स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करे। और तब शमशेर, एकदम कुलाँट खाकर, क्लासिकल पूर्णता की तरफ अग्रसर होते हैं, और बहुत बार वे सफल होते-से नज़र आते हैं। उनकी 'शान्ति' कविता इसका अत्यन्त महत्वपूर्ण और सफल उदाहरण है। वे अपने से कितना अधिक हट सकते हैं, इसका वह एक प्रभावशाली प्रमाण है। यह बिल्कुल निश्चित है कि शमशेर क्लासिकल पूर्णता के प्रति हमेशा आकर्षित रहेंगें और इस पूर्णता से प्रभावित होते रहेंगें। इसका कारण ही यह है कि वह आकर्षण और प्रभाव भीतर ही एक अपूर्णता की पूर्ति करते हैं।

फिर भी, चित्रकार के सिंहासन ने काफी हद तक कवि के काव्य-व्यक्तित्व का निर्माण किया है और उसे अभिनव सफलताओं से ज्योतिर्मान बना दिया है। किन्तु साथ ही, उसने शमशेर की सीमाएँ भी निर्धारित कर दी हैं। क्षमता और सीमा का यह मनोहर योग शमशेर को अत्यन्त मौलिक और अद्वितीय कवि के रूप में प्रस्तुत करता है। शमशेर का निरालापन बहुत ही स्वाभाविक और अन्यत्र दुर्लभ है।

सबसे बड़ी बात यह है कि इम्प्रेशनिस्टिक स्वभाव ने शमशेर को 'विशिष्ट' के प्रति प्रेरित किया है। ऐसा चित्रकार वस्तु-दृश्य को प्रस्तुत करता है। किन्तु शमशेर बाह्य-दृश्य के भीतर, भाव-प्रसंग को उपस्थित करते हैं। अन्य कवि केवल भावना व्यक्त करते हैं। यह भावना अनेक भावनाओं की, वस्तुतः, एक श्रेणी अर्थात् एक सामान्यीकृत भावना होती है। इसके विपरीत शमशेर वास्तविक भाव-प्रसंग में उपस्थित संवेदनाओं का चित्रण करते हैं। संवेदनाएँ वास्तविकता का एक भाग हैं—जो एक वास्तविक परिस्थिति के अन्तर्गत वास्तविक भाव-प्रसंग में उद्‌बुद्ध होती हैं। वे संवेदनाएँ वास्तविक अर्थात जीवन-प्रसंग से बद्ध हैं। यह जीवन-प्रसंग वास्तविकता का एक मूर्त्त और शक्तिशाली भाग है।

इसके विपरीत, अन्य कवियों में होता यह है कि मन के कोने में पड़ी हुई प्रसुप्त भावनाएँ जाग्रत होकर एक भाव-तंरग बन जाती हैं। ये भावनाएँ मन के कोने में पड़े हुए संचित

अनुभव से जुड़ी रहती हैं। कविता लिखते समय, उन अनुभवों का सामान्यीकरण होकर, भावनाएँ भी सामान्यीकृत हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में, यह आवश्यक नियम नहीं है कि वे भावनाएँ अपने-अपने विशिष्ट वास्तविक प्रसंगों के ताने-बाने में बिंधी हुई ही प्रकट हों, प्रसंगबद्ध रूप में उपस्थित हों। संचित अनुभव के अंगरूप में होने के कारण, वे प्रसंग के बजाय, एक रुख (एटीट्यूड) के साथ प्रकट होती हैं। यह रुख़ भावनाओं का सामान्यीकरण कर देता है। वे विशिष्ट प्रसंगबद्ध भावनाएँ नहीं हैं, वरन् सामान्यीकृत भावनाएँ हैं। सामान्यीकरण से मेरा मतलब रस-सिद्धान्त के साधारणीकरण से नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसी भावना अमुक विशेष प्रसंग में उपस्थित वास्तविक भावना है।

परिस्थिति के भीतर प्रसंग उपस्थित होते हैं। परिस्थिति एक विशिष्ट चीज है, सामान्यीकृत नहीं। उसमें अनेक प्रभावों और प्रवृतियों के सूत्र व्यक्ति-चरित्र और परिस्थिति के सूत्र, आपस में उलझे हुए होते हैं। इस परिस्थिति के अंतर्गत जीवन-प्रसंग विशिष्ट होते हैं, सामान्यीकृत नहीं। इन प्रसंगों में जीवन-कथा के अनेक तत्व आपस में उलझे हुए होते हैं। इन प्रसंगों के विभिन्न तत्व एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया करते रहते हैं। प्रसंग एक वास्तविक जीवित चीज़ है। वे प्रसंग आत्मप्रेरक कवि के लिए भाव-प्रसंग हो उठते हैं। बाह्य जीवन-प्रसंगों की भांति ये भाव-प्रसंग वास्तविक होते हैं। ये भाव-प्रसंग, जीवन-प्रसंग के अन्तर्गत उसका एक अटूट अंग हैं। वे वास्तविकता का अखण्डनीय भाग हैं। वास्तविकता के ताने-बाने में वे बिंधे हुए हैं। वास्तविकता हमेशा, अनिवार्य रूप से अटूट नियम की भांति उलझी हुई होती है। उसमें दिक् और काल, भूगोल और इतिहास, व्यक्ति और समाज, चरित्र और परिस्थिति, आलोचक मन और आलोचित आत्म-व्यक्तित्व, आदि-आदि घनिष्ठ रूप से बिंधे हुए होते हैं।

वास्तविकता एक फ़ार्मूला नहीं है। जीवन-प्रसंग अनेक सूत्रों से, अनेक तत्वों से उलझे हुए होते हैं। उनके अन्तर्गत, भाव-प्रसंग उलझे हुए सूत्रों और परस्पर प्रतिक्रियाशील तत्वों से बने हुए ज्वलन्त अग्निखण्ड हैं। उनमें स्वपक्ष और परपक्ष के परस्पराघात से एक मन:स्थिति और परिस्थिति बन जाती है। ये भाव-प्रसंग शमशेर के काव्य-विषय हैं। ये भाव-प्रसंग विशिष्ट हैं। ये काव्य-विषय विशिष्ट हैं। भाव-प्रसंग की मौलिक विशिष्टता के भीतरी ताने-बाने शमशेर को अकुलाते रहते हैं। शमशेर सामान्यीकृत भावनाओं, और सामान्यीकृत रुखों के कवि नहीं हैं।

शमशेर पर लगाया गया यह दोषारोप कि वे उलझे हुए हैं और उनकी बात समझ में नहीं आती, उस आदत को सूचित करते हैं, जिसे हम सामान्यीकरण की आदत कह सकते हैं। चिन्तन के अनुशासन से विहीन व्यक्ति भी बहुत आत्मविश्वास के साथ सामान्यीकरण

करता रहता है। सामान्यीकरणों की इस आदत को ही हम यान्त्रिक विचार-शैली कहते हैं। यान्त्रिक विचारणा विशिष्ट के आन्तरिक ताने-बाने, उसकी मौलिक विशेषताओं, और उसके समृद्ध रूप-तत्व की उपेक्षा करके चलती है। यान्त्रिक विचारणा से अनेक हानियाँ हुई हैं। साहित्यचिन्तन में यान्त्रिक विचारणा की कमी कभी नहीं रही। विशिष्ट की मौलिकता की क़ीमत पर, अर्थात उसकी मौलिकता की उपेक्षा करते हुए, जो सामान्यीकरण होगा, वह छिछला, सतही और यान्त्रिक होगा।

कविता, विशेषकर आत्मपरक कविता ने हिन्दी साहित्य-चिन्तन-धारा को अत्याधिक प्रभावित किया है। हिन्दी की आत्मपरक कविता, व्यक्तिनिष्ठ भले ही हो, उसमें वास्तविक भाव प्रसंगों की मौलिक विशिष्टता का बहुत कम चित्रण किया गया है। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी काव्य में वास्तविक प्रणय-भावना बहुत थोड़ी जगह और बहुत अल्प मात्रा में है। प्रणय-जीवन के वास्तविक मनोवैज्ञानिक चित्रण की कमी बहुत खेदजनक है। प्रणय-जीवन के सर्वोत्तम कवि आज भी मीरा और सूर हैं। उनके उद्‌गार हमें भीतर से हिला देते हैं, इसलिए कि वे विशिष्ट भाव-प्रसंगों का सहारा लिये हुए हैं। विशेष भाव-प्रसंगों की रूपरेखाओं की विस्मृति और प्रणय-जीवन के वास्तविक मनोवैज्ञानिक चित्रों की कमी यह सूचित करती है कि विशुद्ध व्यक्तिनिष्ठता अपने ही उद्देश्य को पराजित कर देती है। वास्तविक भाव-प्रसंगों में क्रमबद्ध और सक्रिय संवेदनाओं के चित्रण के अभाव में, केवल सामान्यीकृत भावना, प्रकृति पर मन के रंगों का आरोप, केवल एक मूड और एक भावनात्मक रुख, और लगभग गणितशास्त्रीय यान्त्रिक शिल्प—यही तथाकथित आधुनिक रोमैण्टिक कविता की उपलब्धि है। वास्तविक प्रणय-जीवन काव्य का 'ह्युमैनाइजिंग इफेक्ट' हमें आधुनिक रोमैण्टिक कविता में अधिक प्राप्त नहीं होता। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है।

ऐसे काव्य-साहित्य ने साहित्य-चिन्तन-धारा को बहुत अधिक प्रभावित किया है। फलतः, 'चिन्तकों' को सामान्यीकृत भावनाएँ चट से समझ में आ जाती हैं—चाहे वे दुरूह छायावादी शैली में ही क्यों न लिखी गयी हों। किन्तु प्रसंग-विशिष्ट संवेदनाएँ, जो एक कथानक और नाटक उपस्थित करती हैं, वे उन्हें समझ में नहीं आतीं। इसलिए कहा जाता है कि शमशेर के काव्य में उलझन है। वह अस्पष्ट और दुरूह है। इसके लिए, कुछ हद तक, स्वयं शमशेर ज़िम्मेदार हैं और कुछ हद तक बिल्कुल नहीं हैं। बाख़ के संगीत पर उनकी कविता अत्यन्त सुन्दर, बिल्कुल स्पष्ट और दुरूहताहीन है। फिर भी एक पत्रिका में उस पर बहुत बुरा 'अटैक' किया गया और कहा गया कि वह दुरूह है।

शमशेर की संवेदनशील दृष्टि भाव-प्रसंग के 'विशिष्ट' पर टिकती है। यह 'विशिष्ट' वास्तविकता का अटूट अंग है। वास्तविकता के सूत्रों में वह गुम्फित और ग्रथित है। इस

विशिष्ट में एक नाटक है, एक कथानक है, कुछ पात्र हैं, एक पार्श्वभूमि है।

शमशेर इस भाव-प्रसंग की वास्तविकता पर अपने मन का रंग नहीं चढ़ाते। वे मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी हैं। उनकी मनोवैज्ञानिकता भाव-प्रसंग के चुनाव में, तथा अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं और बाह्य के संवेदनाघातों के चित्रण में, है। उनकी यथार्थवादिता भाव-प्रसंग में, मानसिक प्रतिक्रियाओं की प्रसंग-बद्धता के निर्वाह में है। ऐसी स्थिति में, यदि मानव-प्रसंग भीतर से बहुत हिला देनेवाला और महत्वपूर्ण हुआ, तो शमशेर की प्रतिक्रियाएँ भी तीव्र व्याख्यात्मक रूप से प्रकट होती हैं। शमशेर की प्रतिभा वहाँ अत्यन्त मौलिक और उज्जवल रूप में प्रकट होती है। किन्तु यदि वास्तविकता ने भाव-प्रसंग ही कम महत्वपूर्ण पेश किया तो वहाँ शमशेर का काव्य भी फीका हो जायेगा। कवि-स्वभाव की दृष्टि से ही यह निश्चित होगा कि कौन-सा भाव-प्रसंग उनंके लिए विशेष महत्वपूर्ण और कौन-सा कम महत्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में, विषय की प्रेरणाशक्ति पर, काव्य की ऊँचाई-निचाई निर्भर करती है। कई कवियों के सम्बन्ध में यह बात सही है। अतएव, शमशेर की मामूली कविताओं को लेकर, उनके विरुद्ध आघात करने से कुछ नहीं होगा। हर कवि साधारण और साथ ही असाधारण कविताएँ लिखता है।

शमशेर मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी कवि होते हुए भी आत्मपरक हैं। उनकी आत्मपरकता उन्हें भाव-प्रसंग के भीतर उपस्थित अपनी संवेदनाओं के चित्रण के लिए बाध्य करती है। उनकी संवेदना वास्तविक है। वह प्रसंगबद्ध है। प्रसंग उस संवेदना के रूप को निर्धारित करता है। शमशेर संवेदनाओं के प्रसंग-विशिष्ट गुणों का बहुत सफलतापूर्वक चित्रण करते हैं। इस चित्रण के बिना इस भाव-प्रसंग का ताना-बाना प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। सामान्यीकृत भावनाएँ प्रकट करना बहुत आसान है, किन्तु भाव-प्रसंग में साक्षात संवेदनाओं के वास्तविक चित्रण के लिए अनेक नये प्रयोग अत्यन्त आवश्यक हो उठते हैं।

इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार तथा अन्य चित्रकारों की भाँति, शमशेर संवेदनाओं के गुण आत्मचेतस रूप से जानते हैं। वे न केवल रूप, स्पर्श, रस, गन्ध की संवेदनाएँ पहचानते हैं—यह मामूली बात है—वरन् वे संवेदनाओं के रूप-स्पर्श, रस-गन्ध का चित्रण करते हैं। वास्तविक संवेदनाओं का चित्रण हिन्दी में बहुत ही कम हुआ है। एक भाव-प्रसंग में विभिन्न संवेदनाओं के प्रभावकारी गुणों के चित्र प्रस्तुत करना शमशेर ही का काम है। वे एक संवेदना की कोमलता को दूसरी संवेदना की कोमलता से पृथक् कर दोनों की विभिन्न कोमलताओं के चित्र प्रस्तुत करते हैं। शमशेर का संवेदन-ज्ञान और संवेदन-चित्रण अद्वितीय है।

शमशेर संवेदन-चित्रण मुख्यत: दो प्रकार से करते हैं। संवेदन की तीव्रता बताने के लिए वे बहुत बार नाटकीय विधान प्रस्तुत करते हैं। संवेदन के विभिन्न गुण-चित्र प्रस्तुत करने के लिए वे मन:प्रतिमाओं का, इमेजेज का, सहारा लेते हैं। ये इमेजेज उनके अवचेतन-अर्धचेतन से उत्पन्न होती हैं। उन इमेज़ेज़ में उनके अवचेतन का गहरा रंग होता है। इसके अलावा, शमशेर का शब्द-संकलन अत्यन्त सचेत और संवेदनानुगामी होता है।

लोगों को शमशेर का काव्य शिल्पग्रस्त प्रतीत होता है तो इसका एक कारण शमशेर के कथ्य की नवीनता है। अभी तक पाठकों और आलोचकों की आत्मचेतना इतनी विकसित नहीं हुई है कि वे अपने जीवन में प्राप्त विभिन्न भावना-प्रसंगों के अंतर्गत स्वयं द्वारा भोगी गयी संवेदनाओं के विभिन्न उलझे हुए रूप, गुण और प्रभाव पहचान पायें। एक चित्रकार होने के नाते, शमशेर की संवेदना शक्ति और संवेदना-ज्ञान अत्यन्त विकसित है। उन्हें बारीक-से बारीक संवेदनाओं के सूक्ष्म प्रभावों की पहचान है। प्रसंग-विशिष्टता के कारण संवेदनाओं की भिन्नता और विशिष्टता का चित्रण कर वे यह सोच लेते हैं कि संवेदनाओं की इस विशिष्टता के चित्रण से प्रभावित होकर, पाठक तथा आलोचक उन संवेदनाओं के प्रेरक भाव-प्रसंगों का पूर्ण चित्र मन-ही-मन तैयार कर लेंगे। किन्तु पाठक और आलोचक अभी तक सक्षम और समर्थ नहीं हैं कि संवेदनाओं की विशिष्टता से प्रसंगों की विशिष्टता का आसानी से अनुमान कर सकें। हमारे पाठकों और आलोचकों की आत्म-चेतना अभी काफ़ी कुहरिल है। उनकी आत्म-चेतना के भौगोलिक प्रदेश पर कुहरा होने से, उन्हें अपने मन के ही पहाड़ और घाटियाँ, जंगल और मैदान, धुन्ध के रूप में ही दिखायी देते है। कलाकारों का यह कर्तव्य है कि वे उस आत्म-चेतना को अधिक भिन्नीकृत स्पष्ट और मूर्त्त बनायें। पाठकों और आलोचकों की वैसी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही है।

इस आत्म-चेतना को विकास के प्रश्न की दृष्टि से देखा जाये तो यह कहना होगा कि शमशेर आत्मपरक साहित्य की यूरोपीय परम्परा से काफ़ी प्रभावित हैं। इस प्रकार, वस्तुत: वे नयी कविता के साहित्य की श्रीवृद्धि में बड़ा योग दे रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी कला या उसके मनस्तत्त्व, प्रतिमाएँ और मुहावरें, कथन की शैली अथवा चित्रण की भंगिमा, यूरोप से उधार ली गयी है। इसका अर्थ यह है कि उनकी आत्मा पर, उनकी भावात्मक संस्कृति पर, यूरोपीय आत्मपरक उपलब्धियों का रचनात्मक और प्रशंसनीय प्रभाव पड़ा है। और अगर, शमशेर के काव्यशिल्प से किसी को आपत्ति हो सकती है, या होगी, तो उसका कारण यूरोपीय प्रभाव में नहीं खोजना चाहिए, वरन् शमशेर की मनोरचना के भीतर चित्रकार के सिंहासन पर आसीन कवि [की] सीमाओं में ही खोजना होगा।

शमशेर के आभ्यन्तर सिंहासन से पदच्युत चित्रकार, इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार है। वह एक विशेष प्रकार का, विशेष स्वभाववाला, विशेष सीमाओंवाला चित्रकार है। इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकला के अनुसार, शमशेर पार्श्वभूमि को महत्त्व नहीं देते। वे केवल उन्हीं संवेदनाघातों का चित्रण करते हैं, जो अत्यन्त प्रभावकारी तो हैं ही, साथ ही जो कवि की समझ से विशेष संकेत-महत्त्व रखते हैं।

किन्तु, इम्प्रेशनिस्टिक कला की कुछ अपनी ऐसी विशिष्ट सीमाएँ हैं, जो समुद्र-मन्थन के सारे अनुभूत सत्यों को एक साथ प्रकट नहीं होने देतीं। कवि का कार्य-क्षेत्र चित्रकार से अधिक विस्तृत है। इसलिए शमशेर चित्रकार के सिंहासन पर बैठकर, उस सिंहासन की जादुई शक्ति से संचालित होकर, अर्थात चित्रकला से प्राप्त संस्कारों के वशीभूत हो, कवि कर्म करते हुए, उन विशेष क्षेत्रों में विचरण करने जाते हैं, जहाँ उनकी चित्रकलात्मक संवेदना और दृष्टि अधिक कारगर साबित नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए, शब्द-ध्वनि रंग-शक्ति नहीं है। केवल एक शब्द की एक ध्वनि तुरन्त ही मनस्पटल पर रंगों, आकारों और रूपों में प्रकट नहीं हो सकती। शब्द, वस्तुत: अमूर्त्त होते हैं। वे प्रकृति की सूचनाओं की प्रथम संकेत-व्यवस्था के भाग न होकर, द्वितीय-संकेत-व्यवस्था के भाग हैं। बाह्य (जो भी हो, चाहे दर्शक मन का मनस्तत्त्व ही सही) और प्रकृति से प्राप्त संवेदनाएँ और उनकी विभिन्न गुत्थियाँ और प्रकार, प्रथम संकेत व्यवस्था हैं। इस प्रथम संकेत-व्यवस्था को सम्पूर्ण सामाजिक रूप में अर्थात साधारणीकृत रूप में, सूचित करनेवाली व्यवस्था द्वितीय संकेत-व्यवस्था है। भाषा द्वितीय संकेत-व्यवस्था है। वह मूलभूत सूचनाओं की सूचना है। यह सूचना प्रथम की तुलना में काफ़ी अमूर्त्त है, ऐब्स्ट्रैक्ट है। इसलिए, जब तक विशेष और विस्तृत तथा जटिल उपाय अमल में न लाये जायें, तब तक द्वितीय संकेत-व्यवस्था द्वारा दी गयी सूचनाएँ प्रथम संकेत-व्यवस्था का उद्दीपन और उत्तेजन नहीं कर सकतीं। अतएव, चित्रकला में, रंग-संकेत जितने कारगर हों उतने केवल शब्द-संकेत काम न कर सकेंगे, जब तक कि विशेष उपाय अमल में न लाये जायें। फलत:, केवल रंगों अथवा केवल ध्वनियों द्वारा सूचित और संकेतिक अर्थों को उत्तेजित करने के लिए, जटिल उपाय अमल में लाना आवश्यक हो जाता है। केवल एक-एक शब्द को एक-एक वाक्य का अर्थ देकर संक्षेपीकरण करते रहने से बहुत बार बात नहीं बन पाती। मेरा ख्याल है कि शमशेर शब्द-संकेत को रंग-संकेत का स्थानापन्न मान बैठते हैं। कवि को चित्रकार का स्थानापन्न बना देने से, और उस स्थानापन्न कवि के सम्मुख कार्यक्षेत्र विस्तृत कर देने से, शमशेर की रचनात्मक प्रतिभा ने बहुत बार घोटाला कर दिया है— ऐसा मेरा ख्याल है। शायद यह अनुमान ग़लत हो। ग़लत हो तो अच्छा ही है। इस सम्बन्ध में मैं भी अपना समाधान करने का इच्छुक हूँ।

दूसरे, शमशेर के शिल्प के सम्बन्ध में यह बात भी मुझे कहनी है कि प्रसंगबद्ध भावना की प्रसंग-विशिष्टता सुरक्षित रखकर, प्रसंग को पार्श्वभूमि में हटाते हुए उसको बिल्कुल ही उड़ा देने से, काव्य के रसास्वादन में कुछ तो बाधा होती ही है। जीवन विभिन प्रसंग उपस्थित करता है। केवल संवेदना-चित्रों के सहारे पाठक को प्रसंग-कल्पना करनी पड़ती है। वह बहुत बार, सुनिश्चित मूर्त्त संकेत चित्रों के अभाव में, प्रसंग-कल्पना ठीक-ठीक ढंग से नहीं कर पाता। यदि पार्श्वभूमि कुछ अधिक रेखांकित [न] हो तो पाठक को कवि की संवेदना, जो बिलकुल विशिष्ट है सामान्यीकृत नहीं, सहज रूप से हृदयगम्य नहीं होती है। यदि प्रसंग अत्यधिक विशिष्ट है तो पार्श्वचित्र और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठते हैं। पार्श्वभूमि के सहारे, पाठक प्रसंग-कल्पना बहुत आसानी से कर सकता है। किन्तु शायद शमशेर बेपर्दगी बरतना नहीं चाहते।

शमशेर, मुख्यत: प्रणय-जीवन के प्रसंगबद्ध रसवादी कवि हैं। शायद इसीलिए, वे आधुनिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप बेपर्दगी नहीं कर सकते। सम्भवत: संक्षेपीकरण की उनकी प्रवृति विशेष तत्वों के बारे में अधिक सक्रिय है। यह संक्षेपीकरण सामाजिक, राजनैतिक तथा प्रणय-जीवन से हटे हुए अन्य विषयों के क्षेत्र में अधिक सक्रिय नहीं रहता। वहाँ वे क्लासिकल पूर्णता की ओर अधिक झुकते हैं। ऐसे क्षेत्रों में, यदि उन्होंने संक्षेपीकरण किया भी, तो भी वह युक्तियुक्त होता है।

इसका अर्थ केवल यह है कि शमशेर के सृजन-प्रक्रियात्मक सेंसर्स काफ़ी महत्वपूर्ण हैं। जो बातें वे नहीं कहते, वे सन्दर्भ की दृष्टि से प्रधान हैं। उनकी प्रधानता गोपन रखने के लिए संक्षेपीकरण की व्यवस्था है।

किन्तु इन कमियों की पूर्ति शमशेर बहुत कुशलता से करते हैं। संवेदनाओं की तीव्रता बताने का उनका नाटकीय विधान और इमेजेज (प्रतिमाएँ) तथा अत्यन्त सचेत, शब्द-संकलन प्रभावशाली रूप से सफल होता है !

असल में, शमशेर की आत्मा एक रोमैण्टिक क्लासिकल प्रकार की है। किन्तु इम्प्रेशनिस्टिक होने के कारण, उनका ज़ोर संवेदन-विशिष्टता और संवेदनाघात [पर]—और केवल इसी पर—होने से, वे नयी कविता के एक अद्वितीय कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। महत्व की बात यह है कि यह इम्प्रेशनिज्म केवल कुछ ही विषयों—प्रणय-जीवन सम्बन्धी बातों—के सम्बन्ध में अधिक तीव्रता से सक्रिय रहता है।

प्रश्न यह है कि शमशेर की प्रधान उपलब्धियाँ कौन—सी हैं? मेरे मत से, प्रणय-जीवन के जितने विविध और कोमल चित्र वे प्रस्तुत करते हैं, उतने चित्र, शायद, और किसी नये

कवि में दिखायी नहीं देते। उनकी भावना अत्यन्त स्पर्श-कोमल है। प्रणय-जीवन में भाव-प्रसंगों के आभ्यन्तर की विविध सूक्ष्म संवेदनाओं के जो गुण-चित्र वे प्रस्तुत करते हैं वे न केवल अनूठे हैं, वरन् अपने वास्तविक खरेपन के कारण प्रभावशाली हो उठे हैं। सूक्ष्म संवेदनाओं के गुण-चित्र उपस्थित करना बड़ा ही दुष्कर कार्य है। किन्तु शमशेर उसे अपनी सहानुभूति से सम्पन्न कर जाते हैं। विशिष्ट भाव-प्रसंगों की मौलिक विशिष्टता के अन्तर्गत, इन सूक्ष्म, कोमल किन्तु महत्त्वपूर्ण संवेदनाओं के ये वास्तव-चित्र कहीं ढूँढने पर भी नहीं मिलेंगे। बाख़ के संगीत की स्वर-लहरियों के ये वास्तव-चित्र कहीं ढूँढने पर भी नहीं मिलेंगे। बाख़ के संगीत की स्वर-लहरियों द्वारा उत्तेजित संवेदनाओं का चित्रण जो शमशेर ने किया है, वह उनके अनुपम काव्य-सामर्थ्य तथा वास्तवोन्मुख भावना का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। शमशेर ने संवेदनाओं के गुण-चित्र उपस्थित करने के क्षेत्र में जो महान् सफलताएँ प्राप्त की हैं, कि वे उस क्षेत्र में अन्यत्र दुर्लभ हैं।

मैं यहाँ शमशेर की उन कविताओं को नहीं भूल सकता जिन्हें हम, व्यापक अर्थ में सामाजिक, और संकुचित अर्थ में राजनैतिक, कह सकते हैं। मनोवैज्ञानिक वस्तुवादी कवि जब सामाजिक भावनाओं तथा विश्व-मैत्री की संवेदनाओं से आच्छन्न होकर मानचित्र प्रस्तुत करता है, तब वह उसी प्रकार अनूठा और अद्वितीय हो उठता है, जैसे कि किसी क्षेत्र में भिन्न तथा अन्य कवि कदापि नहीं। 'शान्ति' पर लिखी शमशेर की कविता क्लासिकल ऊँचाइयों की उपलब्धि कर चुकी है। इससे यह सिद्ध होता है [कि] शमशेर की वास्तवोन्मुख दृष्टि और वास्तवप्राप्त संवेदनाएँ और भी अधिक साहित्यिक उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकती हैं। सच तो यह है कि शमशेर के पास जादुई कीमियागिरी नहीं है, वास्तव का संवेदनात्मक ग्रहण है। इन वास्तव संवेदनाओं के सूक्ष्म की पकड़ इतनी ज़बर्दस्त है कि उनकी शक्ति को देखते हुए यह अपेक्षा की जानी चाहिए कि शमशेर आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय प्रगतिशील चेतना के और भी उत्तमोत्तम भाव-प्रसंग प्रस्तुत करेंगें। शमशेर का काव्य एकदम खरा है, अपने विशेष गुणों के कारण मौलिक है, अपने शिल्प के कारण अद्वितीय है, और ये ही बातें उन्हें श्रेष्ठ कवि सिद्ध करती हैं।

(कृति, अक्तूबर 1958, में प्रथम बार प्रकाशित। नयी कविता का आत्मसंघर्ष में संकलित)।

# 14. शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट

विजयदेवनारायण साही

शमशेर की कविता के बारे में बातें करनें में मैं एक कठिनाई महसूस करता हूँ। मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि चर्चा को किस पहलू से उठाया जाये। मैं महसूस करता हूँ कि शायद बहुत से आरम्भिक सवाल भी शमशेर की कविता को लेकर होंगें। एक स्तर पर शायद लोग यह भी प्रश्न उठाने की ज़रूरत समझें कि जो कुछ शमशेर ने अब तक लिखा है या प्रकाशित कराया है वह कविता है भी या नहीं? फिर, शमशेर की कविताओं की दुरूहता का प्रश्न है। शमशेर के बारे में बात करनेवाले व्यक्ति से शायद यह उम्मीद की जा सकती है कि वह बहुत-कुछ व्याख्याता का काम करे। इससे भी आगे, शिल्प और प्रयोग का एक पहलू है और इससे मिला-जुला इन कविताओं के 'नयेपन' का भी सवाल है। शमशेर ने कविता के छन्द, लय, शब्दावली सबमें बहुत-से नये प्रयोग किये हैं। उन्होंने ऐसे नये प्रतीकों और बिम्बों का सृजन किया है जो कविता के अभ्यस्त पाठकों और श्रोताओं को अकसर चुनौती की तरह लग सकते हैं।

लेकिन इन आरम्भिक सवालों को मैं उत्तरित मानकर चलने की इजाजत चाहूँगा। इन सवालों के विभिन्न पहलुओं में उलझने में खतरा यह है कि बात शमशेर की कविता पर न होकर शमशेर की कविताओं – जैसी कविता पर हो जायेगी और इस तरह शायद कवि शमशेर के साथ हम न्याय नहीं कर सकेंगें। क्योंकि नयी कविता की सामान्य विवेचना के लिए शमशेर को उदाहरण की तरह इस्तेमाल करना एक बात है और कवि शमशेर का जो अपना निजी, स्वत: सम्पूर्ण काव्यजगत् है उसमें प्रवेश करना दूसरी बात है। दोनों तरह की चर्चाएँ महत्वपूर्ण और आवश्यक हैं, लेकिन उनके अभिप्राय अलग-अलग हैं। पहले प्रकार की चर्चा तो काफ़ी हो चुकी है इसलिए भी दूसरे ढंग से विचार करने की उपयोगिता कुछ अधिक दिखती है। इसके अलावा, यदि हम सीधे शमशेर की मनोभूमि में प्रवेश करने की कोशिश करेंगे तो शायद आरम्भिक शंकाओं का उत्तर भी एक हद तक मिल जायेगा।

नयी कविता की बहसों में यह मान्यता अन्तर्भुक्त रही है कि न सिर्फ़ कविता का ऊपरी कलेवर बदला है, या नये प्रतीकों या बिम्बों या शब्दावली की तलाश हुई है, बल्कि गहरे स्तर पर काव्यानुभूति की बनावट में ही परिवर्तन आ गया है। लेकिन बहस में इस पर बल कम दिया गया है। चेतना के जो तत्व काव्यानुभूति के आवश्यक अंग दिखते थे, उनमें से कुछ अनुपयोगी या असार्थक दिखने लगे, कुछ अन्य जो पहले अनावश्यक या विरोधी

लगते थे, काव्यानुभूति के केन्द्र में आ गये। और कुल मिलाकर काव्यानुभूति और जीवन की काव्येतर अनुभूतियों में जो रिश्ता दिखता था, वह रिश्ता भी बदल गया। इसलिए मैं शमशेर के काव्य में अनुभूति की इस बनावट की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा।

कवि मालार्मे ने कहा है–

"अपाहिजत्व की देवी ओ आधुनिक कल्पने! मैं तुझे अपने जीवन की ये थोड़ी-सी पंक्तियाँ समर्पित करता हूँ जो कृपा के उन क्षणों में लिखी गयी हैं, जब तूने मेरे भीतर सृष्टि के प्रति नफ़रत और नितान्त न-कुछ के प्रति बंजर प्रेम का स्फुरण नहीं किया।''

शायद ही आज का कोई कवि हो जिसे अपने ढंग से इस मालार्मीय विडम्बना का सामना कभी-न-कभी न करना पड़ा हो। आखिर यह सृजन-कर्म किसलिए? इस सारे कल्पना-विलास का क्या मतलब है? मालार्मे की ही तरह आज का हर कवि एक-न-एक बार अपने ऊपर पलायनवादी होने का आरोप लगाता है। और अगर वह खुद नहीं लगाता तो और लोग उस पर लगाते हैं। क्योंकि अपनी प्रकृति से ही कविता यह प्रश्न उठाती है: जहाँ हम हैं वहाँ से कहाँ चलें? किस ओर? काव्यानुभूति अपने-आप में एक तरह का अतिक्रमण है। लेकिन किसका अतिक्रमण और किस दिशा में? एक समय उत्तर बहुत आसान था। यह अतिक्रमण तमस् से ज्योति की ओर, असत् से सत् की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर था।

हमारे चारों ओर रोज़मर्रा का एक जीवन है। इसी का अतिक्रमण करने की कोशिश कविता करती है। अगर चारों ओर का प्राकृत जीवन सत्य है तो फिर क्या सचमुच हम सत्य का ही अतिक्रमण नहीं करते? किस ओर? सत् से असत् की ओर? यही काव्यानुभूति की मालार्मीय विडम्बना है। जितने गहरे मालार्मे को यह विश्वास जकड़ता जाता था कि चारों ओर के भौतिक, जड़ जीवन के अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है, उतना ही काव्यानुभूति के लिए आवश्यक अतिक्रमण उसे असम्भव दिखता था। सृजन-प्रक्रिया स्वयं में ही एक विशाल व्यर्थता का प्रतीक लगती थी। मालार्मे के पास इस अपाहिज विडम्बना का एक ही हल था: लिखा ही न जाये। 'सृष्टि के प्रति नफ़रत और नितान्त न-कुछ का बंजर प्रेम'–कविता के जन्म में ही निषेध का तीर बिंधा हुआ है।

मालार्मे की तरह कवि-जीवन में शमशेर किन-किन संघर्षों से गुज़रे हैं, इसकी पूरी जानकारी हमारे पास नहीं है। शायद कभी हो। लेकिन कुछ संकेत उन्होंने दिये हैं। निषेध के तीर

ने कितनी काव्यानुभूतियों को जन्म लेने के समय ही बींध दिया? यह आकस्मिक नहीं है कि इतने लम्बे जीवन में उनके दो ही संग्रह प्रकाशित हुए और उनका नाम रखा गया 'कुछ कविताएँ' (1959), फिर 'कुछ और कविताएँ' (1961)। मालार्मीय विडम्बना एक संकोच के रूप में काव्यानुभूति को बिद्ध करती है। शून्य से, नितान्त न-कुछ से, कविता का जन्म होता है – इस गति में शायद रूकावट नहीं है, लेकिन जन्म लेते ही एक प्रतिगति भी सक्रिय होती है। शमशेर की कविता में एक प्रवृत्ति है उसी शून्य, उसी न-कुछ में वापस चले जाने की। गति और प्रतिगति – अभिव्यक्ति और संकोच के इस तनाव में एक तरह की स्थिरता, सन्तुलन पैदा होता है। यह स्थिरता, यह अटकाव, यह स्थिति अनस्तित्व और अस्तित्व के बीच एक अन्तराल है – विशुद्ध सम्भावना का क्षण है। यह वह मनोभूमि है जहाँ कविता अपने अर्थ से आलोकित होती है।

शमशेर की 'एक पीली शाम' शीर्षक कविता काफी विश्रुत है। उसकी अन्तिम पंक्तियाँ हैं –

"अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
सान्ध्य तारक-सा
अतल में।''

अतल में गिरने के पहले संकोच का, अटकाव का एक झिलमिलाता अन्तराल है जिसमें आँसू अपनी जीवितता ग्रहण करता है। जन्म लेना अलग होना है। अनस्तित्व गर्भ से अतल की ओर जाना है; नितान्त पराया हो जाना है। लेकिन इस बिल्कुल निजी और बिल्कुल पराये के बीच एक और क्षण है – जहाँ आँसू निजी है भी और नहीं भी है; पराया है भी और नहीं भी है। न तो वह बिलकुल आत्मपरक है, और न बिलकुल वस्तुपरक। वह अभिव्यक्ति भी है और संकोच भी है।

अपने दूसरे संग्रह 'कुछ और कविताएँ ' की भूमिका में शमशेर कहते हैं: 'मेरी अक्सर कविताओं के, जो सन् 1940-41 के आस-पास की थीं, प्रकाशन का समय दस-बारह साल बाद आया, या शायद तब भी नहीं आया।.....मैं जितना महत्व ऐसी अभिव्यक्ति को देता हूँ – कवि के जीने मात्र के लिए मैं उसे जितना महत्वपूर्ण समझता हूँ – उतना उसके प्रकाशन को नहीं। कला के 'प्रकाशन' को वास्तव में मैं कोई महत्व नहीं देता। कला कैलेण्डर की चीज़ नहीं है। वह कलाकार की अपनी बहुत निजी चीज़ है।...वह 'अपने-आप' प्रकाशित होगी। और कवि के लिए वह सदैव कहीं-न-कहीं प्रकाशित है।'

आगे इसी भूमिका में वे कविताओं के प्रकाशन के बारे में बारम्बार एक झिझक का इज़हार करते हैं। इस संकोच की जड़ें गहरी हैं और काव्यानुभूति के अस्तित्व को ही स्पर्श करती

हैं। यह संकोच न सिर्फ़ रची हुई सृष्टि को ऊपर आने से रोकता है, बल्कि उसकी अर्थवत्ता या सार्थकता पर प्रश्न-चिन्ह लगाता है। इसका प्रभाव यहाँ तक हो सकता है कि लिखी हुई कविताएँ प्रकाश में न आयें और 'कहीं-न-कहीं' के संदिग्ध अन्तराल में अटकी रह जायें, सिर्फ़ एक 'टिक' के अभाव में। यह लगभग ऐसा है जैसे मालार्मे ने हल यह निकाला हो कि कविता लिख तो ली जाये लेकिन उसे प्रकाशित न कराया जाये।

शमशेर का वक्तव्य है कि कविता में हम अपनी भावनाओं की सच्चाई खोजते हैं। आशा करता हूँ कि ऊपर दिये गये संकेतों से इस वक्तव्य की मार्मिकता स्पष्ट हो जायेगी। अर्थात् हम आत्मपरकता की वस्तुपरकता की तलाश करते हैं। तलाश की यह मुद्रा वस्तुपरकता या सच्चाई की अनुपस्थिति अर्थात् काव्यानुभूति की अपर्याप्तता को मानकर चलती है।

हम एक ऐसी सृष्टि की कल्पना करें जिसमें जन्म देनेवाले ब्रह्मा तो हैं, लेकिन उस सृष्टि को धारण करनेवाले, उसे निरन्तर अस्तित्व प्रदान करनेवाले, सही लगानेवाले विष्णु का अभाव है। सच्चाई की तलाश इसी विष्णुतत्व की तलाश है। देवताओं के इन प्रतीकों का प्रयोग मैं जानबूझकर कर रहा हूँ। क्योंकि एक तरह की वैष्णव भावना, अर्पित निरीहता शमशेर की कविता में बराबर मौजूद है। वही है जो उनके काव्य-जगत को धारण करती है। मालार्मे के काव्य-जगत् में तो रचनेवाले ब्रह्मा का ही अभाव है। लेकिन शमशेर की समस्या विष्णुतत्व को स्थापित करने की है।

चीज़ें जन्म लेती हैं, लेकिन वे अपनी गति से निरन्तर अस्तित्व में स्थापित नहीं होतीं। इस निरन्तर अस्तित्व के लिए एक बाहरी प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है। उसी तरह जैसे विष्णुतत्व जीव को अपनी अंजुली में धारण करके सार्थकता देता है। यह शमशेर की काव्यानुभूति का आरम्भ स्थल है। भारतीय दर्शन की शब्दावली में कहें तो यह रहस्यवाद नहीं है, पुष्टिमार्ग की तलाश है।

इस चर्चा को यहीं छोड़कर अब मैं एक दूसरे तत्व की ओर इशारा करूँगा। आज से लगभग पन्द्रह वर्ष पहले, 'दूसरा सप्तक' में अपनी संग्रहीत कविताओं पर वक्तव्य में शमशेर ने अपनी कविता की परिभाषा यों दी थी :"सुन्दरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन्न होता रहता है। अब यह हम पर है, कि हम अपने सामने और चारों ओर की इस अनन्त और अपार लीला को कितना अपने अन्दर घुला सकते हैं।"

इस सूत्र की लगभग हूबहू वैष्णव शब्दावली अवश्य ही आपका ध्यान आकर्षित करेगी। बहरहाल, मैं, 'अवतार', 'लीला' और 'अपने अन्दर घुलना' इन शब्दों पर जोर न देकर

'सुन्दरता' की चर्चा करना चाहूँगा, क्योंकि तात्त्विक रूप में शमशेर की काव्यानुभूति सौन्दर्य की ही अनुभूति है। जिन लोगों का ख़याल है कि छायावाद के बाद हिन्दी कविता ने सौन्दर्य का दामन छोड़ दिया है, उन्होंने शायद शमशेर की कविताओं का आस्वादन करने का कष्ट कभी नहीं किया। मैं एक क़दम और आगे बढ़कर कहना चाहूँगा कि आज तक हिन्दी में विशुद्ध सौंदर्य का कवि यदि कोई हुआ है तो वह शमशेर है। और इस 'आज तक' में मैं हिन्दी के सब कवियों को शामिल करके कह रहा हूँ।

अपने उसी वक्तव्य में आगे चलकर शमशेर कहते हैं।: "तस्वीर, इमारत, मूर्ति, नाच, गाना और कविता – इन सबमें बहुत-कुछ एक ही बात अपने-अपने ढंग से खोलकर या छिपाकर या कुछ खोलकर कुछ छिपाकर कही जाती है।"

इतने बड़े पैमाने पर यह बात सच है या नहीं, इस झगड़े में न पड़कर हम इस कथन को शमशेर की कविताओं के लिए अवश्य प्रयुक्त कर सकते हैं। – एक ही बात है जो अपने ढंग से खोलकर या छिपाकर या कुछ खोलकर और कुछ छिपाकर इन तमाम कविताओं में कही गयी है। चाहे हाशिये पर 'चीन' का नाम लिखा हो, या 'अल्जीरियाई वीरों' का या 'सौन्दर्य' का या 'सींग और नाखून' का। और वह एक बात वही है जिसे शमशेर ने पहले कहा है: "सुन्दरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन्न होता रहता है।"

सुन्दरता के अवतार की निरन्तर प्रक्रिया में सब-कुछ समाया हुआ दिखता है। इस अनुभव की व्यापकता को उनकी दो बहुत भिन्न कविताओं को साथ रखने पर देखा जा सकता है। एक का शीर्षक 'चीन' है, जो उनके संग्रह' कुछ कविताएँ' में प्रकाशित है। दूसरी कविता का शीर्षक 'सौन्दर्य' है और वह 'नयी कविता' के सातवें अंक में प्रकाशित हुई है।

बेशक दूसरी कविता में झिलमिलापन और भावों की उमड़न पहली कविता के मुक़ाबले अधिक है, लेकिन सिर्फ़ कविताएँ सुनकर यह कल्पना करना लगभग असम्भव है कि पहली कविता का शीर्षक 'चीन' है और वह 'चीनी जनता का लोकसत्तात्मक गणतन्त्र राज्य' के चीनी अक्षरों को चित्र-पहेली की तरह इस्तेमाल करके रची गयी है, और दूसरी कविता का शीर्षक 'सौन्दर्य' है। सच तो यह है कि शमशेर की सारी कविताएँ यदि शीर्षकहीन छपें, या उन सबका एक ही शीर्षक हो, 'सौन्दर्य, शुद्ध सौन्दर्य' तो कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। शमशेर ने किसी विषय पर कविताएँ नहीं लिखी हैं। उन्होंने कविताएँ, सिर्फ कविताएँ लिखी हैं, या यों कहें कि एक ही कविता बार-बार लिखी है। शमशेर इस पल-छिन्न अवतार लेते हुए सौन्दर्य के गवाह हैं—ऐसे गवाह जिसने इस अवतार के हर रंग और हर विस्तार को

उसके 'अनन्त लीला' रूप में स्पृहा के माध्यम से ठीक-ठीक स्वायत्त करने की शपथ ली हो। यह स्पृहामय साक्षी भाव शमशेर की काव्यानुभूति का दूसरा तत्व है।

इन दोनों तत्वों को समन्वित करने के पहले एक और तत्व को भी हम देख लें। वह है हमारे ऐतिहासिक परिवेश का। पिछले बीस-पचीस बरसों की हिन्दी कविता में जो एक व्यक्त या अव्यक्त संघर्ष काव्य के आदर्शों को लेकर रहा है, स्थूलत: प्रगतिवाद बनाम प्रयोगवाद का, क्या उसका हल शमशेर ने निकाल लिया है? सतही तौर पर कहा जा सकता है कि शायद ऐसा है। लेकिन कुछ ऐसा भी है जो इसको अच्छे-खासे कमाल का रूप भी देता है। वक्तव्य उन्होंने सारे प्रगतिवाद के पक्ष में दिये, कविताएँ उन्होंने बराबर वे लिखीं जो प्रगतिवाद की कसौटी पर खरी न उतरतीं। मार्के की बात यह है कि इनमें-से कोई भी पहलू दिखावा नहीं है। ये दोनों ही मुद्राएँ उनके निजीपन की वास्तविक आवश्यकता से ही उपजती हैं। उनकी कविताएँ तो उनके लिए नितान्त निजी हैं ही, प्रगतिवाद से उनका उलझाव भी कम निजी नहीं है। शमशेर से ज़्यादा इससे और कौन अवगत है कि इन दोनों के बीच में एक खाई है जिसे वे भर नहीं पाते? जितनी बार वे प्रगतिवाद के आदर्श की चर्चा करते हैं उतनी ही बार वे 'ऊँच रुचि और मति' तक पहुँच पाने की अपनी असमर्थता का भी बलपूर्वक उद्घोष करते हैं।

मनोविश्लेषण को ही काव्य-विश्लेषण का पर्याय माननेवाले इस स्थिति को विभाजित व्यक्तित्व का सटीक उदाहरण समझकर सन्तुष्ट हो जायेंगे। लेकिन मनोविश्लेषण आदमी के व्यक्तित्व के बारे में जो कुछ भी बतलाता हो, कविता के बारे में कुछ नहीं बतलाता। क्योंकि कविता का आधार वह 'निजीपन' है, मनोविश्लेषण का 'अहं' जिसके आगे सतही मालूम पड़ता है।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के विवाद जब आज पुराने पड़ चुके हैं तब शमशेर की इस दुविधाग्रस्त स्थिति के अवशेष उनके दोनों संग्रहों में एक रोचक ढंग से दिखलाई पड़ते हैं। हमने आपके सम्मुख चीन पर लिखी उनकी पुरानी कविता का उल्लेख किया। अगर कविता के साथ छपी टिप्पणी और हाशिये के चीनी अक्षरों का जिक्र न किया जाये तो कविता में अपने आप में प्रगतिवाद का कोई अवशेष नहीं रह जाता। इसी तरह 'माई', 'का० भारद्वाज', ऐ शाम है', 'हमारे दिल सुलगते हैं' आदि कविताओं का प्रगतिवाद भी इन कविताओं में उतना नहीं है जितना इन कविताओं के साथ जुड़ी हुई टिप्पणियों में। यह निष्कर्ष निकालने का लोभ होता है कि शमशेर का प्रगतिवाद उनकी कविता के हाशिये तक सीमित रह गया। क्या इस निष्कर्ष से शमशेर की काव्यानुभूति के केन्द्र तक पहुँचने में सहायता मिलती है?

शायद ! क्योंकि प्रगतिवाद शमशेर के लिए मात्र वह नहीं है जो वह है, बल्कि वह है जो उनकी निजी ज़रूरत को पूरा करता है; उनकी काव्यानुभूति की बनावट का अंग बनकर प्रस्तुत होता है। इसी अर्थ में वह उनके लिए अभिनय नहीं है, वास्तविकता है।

ऊपर हमने अभिव्यक्ति को 'कवि के जीने मात्र' के लिए ज़रूरी होने का ज़िक्र किया है। स्थूल रूप में कविता किसी के जीने मात्र के लिए जैविक आवश्यकता की तरह महत्वपूर्ण नहीं होती। शमशेर के लिए यह स्तर मनोवैज्ञानिक जीवन का भी नहीं है। ऐसा नहीं है कि कवि कविता न लिखे तो पागल हो जाये। कविता और जीवन की अभिन्नता अनुभूति के स्तर पर है। काव्यानुभूति और जीवनानुभूति एक ही वस्तु है।

इस सन्दर्भ में ही प्रगतिवाद के बारे में शमशेर का वक्तव्य हम समझ सकते हैं।: "जहाँ तक वह मेरी निजी उपलब्धि है वहीं तक मैं उन्हें, दूसरों के लिए भी मूल्यवान समझता हूँ।'' इसमें 'जहाँ तक' और 'वहीं तक' पर बल खुद शमशेर का दिया हुआ है। शमशेर का मार्क्सवाद आरम्भ से ही इस 'जहाँ तक-वहीं तक' की बारीक शमशेरीय छन्नी से छाना हुआ मार्क्सवाद है।

दूसरे सप्तक के वक्तव्य में शमशेर 'समाज-सत्य' को आग्रहपूर्वक 'मार्क्सवाद' का पर्याय घोषित करना ज़रूरी समझते हैं। 1961 तक जो चीज़ मार्क्सवाद थी, वह 'समाज-सत्य का मर्म' हो गयी। बेशक इन दस वर्षों में परिवर्तन हुआ है, कम से कम आग्रह का। कम से कम शमशेर के लिए एक लाभ इसमें अवश्य दिखता है—कि 'अपनी भावनाओं में', 'अपनी प्रेरणाओं में', 'अपने संस्कारों में'—'समाज-सत्य के मर्म' को ढालना और उसमें 'अपने को पाना' उतना कठिन नहीं है, जितना वह जिसे वे मार्क्सवाद के नाम से अभिहित करते हैं।

केन्द्रीय शब्द 'निजी उपलब्धि' है। सत्य की निजी उपलब्धि की यह प्रक्रिया क्या है? समाज-सत्य वह है जो हमारे निजत्व के बाहर है। मूलत: यह वह 'अतल' है जिसमें 'अटका हुआ आँसू' गिरता है। इस बाहर के सत्य को अपने भीतर खींच लाने की प्रक्रिया ही 'निजी उपलब्धि' है। बाहर का सत्य इस भीतर खींचने की प्रक्रिया का प्रतिरोध करता है। इसीलिए वह अनुभूति में 'जहाँ तक' 'वहीं तक' की कशमकशवाली शब्दावली में अभिव्यंजित होता है। मैने आरम्भ में उस गति की चर्चा की थी जो आत्मपरकता की वस्तुपरकता की तलाश करती है। निजी उपलब्धि की यह दूसरी गति उसका विलोम है—वस्तुपरकता की आत्मपरकता की तलाश है। यह अतल का वह प्रक्षेप है जो आँख की

कोर पर अटके हुए आँसू को शून्य गर्भ से पृथक्त्व का जीवित क्षण प्रदान करता है। बाह्य यथार्थ, सामाजिक सत्य, वस्तुजगत, भिन्न रुचि अथवा अतल वह है जो आन्तरिकता पर, कविता पर, जीवनानुभूति पर 'टिक' लगाता है, उसकी पुष्टि करता दिखता है।

इस तरह समाज-सत्य अर्थात् काव्येतर अनुभूति को निजी उपलब्धि बनाना उसे काव्यानुभूति के उपयोग में लाना है। लेकिन शमशेर के लिए काव्यानुभूति के केन्द्र में, उसके साथ सायुज्य में उसकी सत्ता नहीं है। प्रगतिवाद से उलझाव के दौर में भी वह एक तरह से हाशिये पर स्थित है। वह काव्यानुभूति की 'पहुँच के बाहर' एक क्षितिज, एक अतल, एक काव्येतर अनुभूति की तरह अस्तित्व ग्रहण करता है। काव्यानुभूति के साथ इस ख़ास रिश्ते में जुड़ना ही उसका एक साथ ही निजी उपलब्धि भी होना है, और 'पहुँच के बाहर' भी होना है। जहाँ तक उसकी यह अवस्था शमशेर के काव्य में है वहीं तक वह औरों के लिए भी उपयोगी है। आजकल की शब्दावली में कहें तो काव्यानुभूति और प्रगतिवाद एक तरह के सह-अस्तित्व में आमने-सामने दर्पण की तरह रखे हुए हैं – कविता और हाशिये पर की लिखावट की तरह। लेकिन यह सह-अस्तित्व निरपेक्षता नहीं है, साक्षात्कार है। रिश्ते का अभाव नहीं है, रिश्ते की सम्भावना है। वस्तुत: सम्भावना ही वह आधारभूमि है जिसमें आत्म और वस्तु दोनों का अस्तित्व होता है। इस सम्भावना को सिर्फ़ दिमाग़ी कौल की तरह नहीं, बल्कि सीधी, माध्यमहीन, जीवन की धड़कन की तरह अनुभूत करना ही काव्यानुभूति है।

आरम्भ में जिसे शमशेर मार्क्सवाद कहते थे, उसके लिए दस वर्ष कुछ अधिक ढीली शब्दावली 'समाज-सत्य' या उससे भी अधिक ढीली शब्दावली 'समाज-सत्य का मर्म', 'इतिहास की धड़कन' आदि का प्रयोग करते हैं। शायद यह हाशिये की लिखावट को कुछ और सूक्ष्म, या धुँधला बनाने की कोशिश है। इस अर्थ में यह अनुभूति की मुख्य बनावट में थोड़े-से परिवर्तन का सूचक है। बाहरी आकार से मर्म की ओर जाने का यह आग्रह इस निजी उपलब्धि को काव्येतर अनुभूति से अलग एक आप्तता देने का उपक्रम है। लेकिन अभी भी इसका रूप आत्मपरक और वस्तुपरक, चित् और अचित् के सायुज्य का नहीं है। एक तरह से शमशेर की प्रकृति हमेशा वस्तुपरकता को उसके शुद्ध रूप या, उन्हीं के शब्दों में, उसके 'मर्म रूप' में पकड़ने की रही है। इसीलिए 'उस दौर' में भी, जब वह वस्तुपरकता के बाहरी आकारों की ओर बहुत आकर्षित थे, उनके लिए मार्क्सवाद शुद्ध वस्तुपरकता का ही दूसरा नाम था। लगता यह है कि बाद की शब्दावली एक अनावश्यक शब्दभार को हटाने-भर की कोशिश है – जो कुछ हमेशा था, उसे ही ठीक तौर पर कहने का आग्रह है। इसीलिए मार्क्सवाद का छूटता हुआ दामन, उनके लिए मोह-भंग का रूप

नहीं लेता, बल्कि केंचुल छोड़कर चुपचाप आगे बढ़ जाने की अनुभूति देता है। आज भी उनकी काव्यानुभूति में वस्तुता अपनी शुद्ध स्थिति में अभेद्य किन्तु सूक्ष्म क्षितिज की तरह मौजूद है – और पहले भी मार्क्सवाद इससे अधिक क्या था?

इस प्रकार शमशेर मालार्मीय विडम्बना का हल अपने ढंग से निकालते हैं, वस्तुपरकता के मर्म में आत्मपरकता का, और आत्मपरकता के मर्म में वस्तुपरकता का आविष्कार करके। चित् और अचित् एक-दूसरे का निषेध नहीं करते, बल्कि एक-दूसरे को प्रतिबिम्बित करते हैं। तात्त्विक दृष्टि से यह स्थिति छायावाद से भिन्न है, जिसमें चेतना के ही दो दर्पण इस पार और उस पार रखे हुए हैं, और बीच का अचित् ब्रह्माण्ड उनकी परस्पर छाया की तरह आभासित होता है; यह दृष्टि मार्क्स के अद्वैतात्मक भौतिकवाद से भी भिन्न है जिसमें प्रकृति और पुरूष के दोनों दर्पण अचित् के ही हैं और चेतना भौतिकता के ही दर्पण में भौतिकता की पड़ती हुई छाया की तरह आभासित होती है।

कविता दर्शन नहीं है। क्योंकि कवि अपनी मान्यताओं का चुनाव जिस तरह करता है उस तरह दार्शनिक नहीं। दार्शनिक अपनी मान्यताओं में उनकी अपनी परस्पर संगति खोजता है, जबकि कवि के पास मान्यताओं के लिए एक ही संगति है – जीने की ज़रूरत से ही उनकी संगति। इसलिए शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट की इस व्याख्या को आप उनके दर्शन के रूप में नहीं – बल्कि दृष्टि के रूप में, एहसास के रूप में ग्रहण करें। उसके रूप में जिसकी गवाही वे देते हैं – "सुन्दरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन होता रहता है।"

मैंने सुविधा के लिए चेतना को वस्तुपरकता और आत्मपरकता के दो छोरों में बाँटकर विश्लेषण किया, और उनकी दो गतियों को आपके सामने रखा। लेकिन काव्यानुभूति के क्षण में यह सारी स्थिति इस तरह, अलग-अलग नहीं प्रस्तुत होती। उसकी प्रतीति एक समूची इकाई की तरह होती है। यह इकाई यथार्थ की इकाई है।

इस प्रकार देश-काल से बँधे हुए यथार्थ के मर्म में ही एक दरार, फाँक या रिक्तता है। जहाँ देश न वैसा देश है जिसे हम साधारणत: जानते हैं, और न काल घटनाओं की न लौटनेवाली गति है जिसे घड़ी नापती है। उदाहरण के लिए इस तस्वीर को आप देखें-

"एक आदमी दो पहाड़ों को कुहनियों से ठेलता
पूरब से पच्छिम को एक क़दम से नापता
बढ़ रहा है।

कितनी ऊँची घासें चाँद-तारों को छूने को हैं
जिनमें घुटनों को निकालता वह बढ़ रहा है
अपनी शाम को सुबह से मिलाता हुआ
फिर क्यों
दो बादलों के तार
उसे महज उलझा रहे हैं ?''

देश की तरह काल में भी फाँक है। यों शमशेर की कल्पना काल को भी देश की ही तरह अनुभूत करती है, एक विशाल विस्तार की तरह जिसमें पौर्वापर्य्य की बाध्यता नहीं है। देश के रूप में काल की अनुभूति, या यों कहें कि काल की वह सरहद जहाँ वह देश से अभिन्न दिखता है, अस्तित्व की किस अवस्था का सूचक है, यह विवेचना की अलग दिशा है, और मेरे लिए बहुत आकर्षक भी है। लेकिन यह विस्तार की बात है। बहरहाल, इस सिलसिले में मैं उनकी 'अमन का राग' और हाल में ही 'कल्पना' में प्रकाशित 'गिन्सबर्ग के नाम' कविताओं का ज़िक्र करूँगा जहाँ काल देश में परिवर्तित होकर 'यूटोपिया' का निर्माण करता है। यह इतिहास को इतिहास के भीतर देखने की कोशिश है। शमशेर के लिए यूटोपिया का अस्तित्व भविष्य की भविष्यता में नहीं, भविष्य की वर्तमानता में है। बल्कि अतीत और भविष्य दोनों की वर्तमानता में है। इसीलिए वह इतिहास की सरहद पर नहीं ऐतिहासिक क्षण के मर्म में, उसकी धड़कन में विद्यमान है। उसमें नैरन्तर्य या पौर्वापर्य्य नहीं है, बल्कि नि:सीमता है।

खैर, इस प्रसंग को छोड़कर, मैं आपका ध्यान उद्धृत कविता की ओर आकृष्ट करूँगा, जिसमें दो पहाड़ों को ठेलकर उभरते हुए आदमी का बिम्ब है। इस कविता की काया शमशेर की अन्य कविताओं के मुकाबले में ज़्यादा भरी-पुरी है, और इसीलिए उतनी दुरूह नहीं है। ठेले जाते हुए पहाड़ देश में, और सुबह और शाम काल में दरार या रिक्तता की स्थापना करते हैं, इतना तो स्पष्ट होगा। यह फाँक वही है जो 'ये लहरें घेर लेती हैं' नामक कविता में 'अन्तरिक्ष में' ठहरे हुए 'एक दीर्घ समतल मौन' से व्यक्त होती है–

"आसमान में गंगा की रेत आईने की तरह हिल रही है।
मैं उसी में कीचड़ की तरह सो रहा हूँ।
और चमक रहा हूँ, कहीं
न जाने कहाँ ।''

यथार्थ के मर्म में जो फाँक है, वह और कुछ नहीं है कवि के मर्म की ही फाँक है। चेतना के अन्तरिक्ष में ही इस अभाव का, न-कुछ का, दीर्घ समतल मौन का, जन्म होता है। उसी तरह जैसे पानी की सतह पर फैले हुए तेल की झिल्ली, फैलने की प्रक्रिया में ही बीच से फट जाती है, और पानी की सतह पर एक शुद्ध अभाव छोड़ जाती है। इस अन्तर्वर्ती शुद्ध विस्तार के उस पार आईने में जो दिखता है वह और कोई नहीं है कवि स्वयं है। ब्रह्माण्ड चेतना के उस पार नहीं है, बल्कि चेतना के भीतर, अन्तर्वर्ती शुद्ध विस्तार के उस पार है।

लेकिन इस 'बेठोस नीले आईने' में, बर्फ की इस पारदर्शी पोली परत में, वह जो अपने को ही देखता है – उसका प्रतिबिम्ब हूबहू वैसा ही नहीं है जैसा वह है। और न वह बिल्कुल दूसरा, बिल्कुल भिन्न ही है, न तो वह प्रतिच्छवि ही है और न छायाभास ही है – वह इन दोनों के बीच की स्थिति अर्थात बिम्ब है। देखने की क्रिया ही बिम्ब देखना है। बिम्बों का सृजन ही काव्यानुभूति की वह नैसर्गिक अवस्था है जहाँ वह जीवन की अनुभूति से एकाकार होती है। बिम्ब आत्मा की वस्तुता और वस्तु की आत्मा की तलाश है। इस स्थिति को मैं 'ऑपटिक्स' के उदाहरण से स्पष्ट कर सकता हूँ। जिस तरह वर्तुल आईने में देखने पर प्रतिबिम्ब आईने और देखनेवाले के बीच अन्तर्वर्ती विस्तार में अटका हुआ मालूम पड़ता है – उसी तरह चित्त और अचित् के दोनों दर्पण बीच में एक बिम्बलोक का निर्माण करते हैं। यथार्थ के दो नहीं, तीन लोक हैं –

"तीन
ब्रह्माण्ड
टूटे हुए मिले चले गये हैं।"

यथार्थ के मर्म में, अथवा चेतना के मर्म में, जो फाँक है क्या उसे पाटना सम्भव है? काव्यानुभूति का क्षण जो एक साथ ही अन्तर्वर्ती विस्तार के दो छोरों पर रखे हुए आईनों के साक्षात्कार का और इसीलिए अपने को ही दो हिस्सों में विभाजित पाने का क्षण है, इस काँपते हुए, डरे हुए, पिघलते हुए प्रश्न का भी क्षण है। यह तथ्य कि काव्यानुभूति के तल में प्रश्न है उत्तर नहीं है, शमशेर को छायावाद के निकट ले जाता है – विशेषत: महादेवी के, जिनमें भी काव्यानुभूति मुख्यत: प्रश्न का रूप लेती है। लेकिन महादेवी का प्रश्न शुद्ध प्रश्न है-वह शुद्ध 'मैं' का शुद्ध 'तू' के प्रति फेंका हुआ तीर है। दूसरी तरफ़ शमशेर का प्रश्न, प्रश्न की शुद्धावस्था नहीं है; वह मैं का ऐसे तू के प्रति फेंका हुआ तीर है जो प्रश्न के पहुँचते-पहुँचते मैं में ही परिवर्तित हो जाता है। शमशेर के प्रश्न के छोर पर उत्तर की सम्भावना झिलमिलाती है। वस्तुत: वह प्रश्न नहीं है, उत्तर भी नहीं है:

उत्तर की सम्भावना है। मेरे लिए यहाँ उदाहरण देना सम्भव नहीं है लेकिन में आप विद्वज्जनों से प्रार्थना करूँगा कि जहाँ -जहाँ शमशेर की कविताओं में 'कौन?' 'न जाने कौन' आदि प्रश्नवाची व्यंजनाएं प्रयुक्त हुई हैं उनकी आप महादेवी के 'कौन', न जाने कौन' आदि से तुलना करें तो समानता और अन्तर दोनों स्पष्ट होंगें। महादेवी का 'कौन' एक खुले हुए असीम की स्थापना करता है; शमशेर का 'कौन' भी असीम की स्थापना करता है, लेकिन यह असीम घिरा हुआ असीम है। आशा करता हूँ कि 'घिरे हुए असीम' की कल्पना सिर्फ़ शाब्दिक उलटबाँसी नहीं लगेगी, लेकिन आप देखेंगे कि यह वही है जिसे पहले दरार, फाँक या अन्तर्वर्ती विस्तार का नाम दिया गया।

प्रश्न के छोर पर उत्तर की जो सम्भावना झिलमिलाती है वही बिम्बलोक है। यह सम्भावना मालार्मीय विडम्बना के बीच कल्पना के अनुग्रह की दुर्लभ घड़ियों की तरह—कभी-कभी ऐसा होता है कि बिम्बलोक दरार को पूरा का पूरा भर देता है। सुन्दरता का अहैतुक अवतार, अनन्त और अपरम्पार लीला होने लगती है। यह यूटोपिया का वह क्षण है, जिसमें पूरा का पूरा काल, देश में परिवर्तित हो जाता है। अत्याधिक उल्लास, और चमकते हुए उत्साह के साथ, परिपूर्ति का यह अनुभव कवि का साक्षात्कार एक नये तरह की नि:सीमता – बन्धन - मुक्ति और स्वतन्त्रता की नि:सीमता—से कराता है। क्योंकि यह सिर्फ़ उल्लास और आवेग का ही नहीं, बल्कि एक बहुत बड़ी विजय का भी क्षण है। यह पाश टूटना, उस संकोच और प्रतिरोध के पाश का टूटना है जो आत्मा और वस्तु की परस्पर उन्मुख गतियों को परस्पर विपरीत गतियों में बदलता रहता है। परिपूर्ति की यह धारासार बारिश जो लगता है कि कोई भी खाली जगह नहीं छोड़ती, शमशेर की यूटोपियन कविताओं में व्यक्त हुई है। मै पहले कह चुका हूँ कि यूटोपिया भविष्य की भविष्यता नहीं, बल्कि उसकी वर्तमानता है। अर्थात यूटोपियन दृष्टि भविष्य का निषेध नहीं करती, भविष्य और वर्तमान के बीच जो अन्तराल है उसका निषेध करती है। तब उस 'घिरे हुए असीम' का क्या होता है? क्या वह घिरा हुआ या असीम नहीं रह जाता? घिरा हुआ असीम वह तब भी रहता है, फ़र्क इतना ही है कि जो कुछ पहले अभाव या रिक्तता की तरह लगता था वह सहसा भाव या परिपूर्ति में बदल जाता है। शून्य अवस्था घन अवस्था में बदल जाती है। क्या इस रिक्तता को जो अलग करती दिखती थी, इस तरह नहीं देखा जा सकता कि वह दोनों आईनों को जोड़ती हुई दिखे? शमशेर की यूटोपियन कविताओं में ही उनके बिम्ब सर्वाधिक सघन, ठोस और अपारदर्शी मालूम पड़ते हैं। या यों कहें कि वे कम से कम बिम्ब रह जाते हैं और अधिक से अधिक प्रतिच्छवि मालूम पड़ने लगते हैं। उनकी वह गहराई जो उन्हें एक बिम्बलौकिक चमक देती है, विलीन होने लगती है। यूटोपिया की तलाश हाशिये की लिखावट की तलाश है। अर्थात् जैसे-जैसे कवि यूटोपिया की ओर

बढ़ता है, वह अपनी मृत्यु की ओर बढ़ता है। क्योंकि यूटोपिया की अन्तिम परिणति मार्क्सवाद है, (कम से कम शमशेर के लिए अब तक रही है) और मार्क्सवाद वह हिस्सा है जो काव्यानुभूति के बाहर पड़ता है। वह शुद्ध वस्तुपरकता है जहाँ कवि मर जाता है। कवि ही क्यों, यथार्थ भी मर जाता है। हाथ आता है सिर्फ़ एक मरा हुआ वर्तमान और मरा हुआ भविष्य।

आख़िरकार यूटोपिया का मतलब क्या है? वह लोक जिसका अस्तित्व नहीं है। इस तरह उसके अस्तित्व में ही अनस्तित्व की शर्त है। उसका संकल्प जितना शुद्ध जितना उन्मुक्त होगा, उतना ही वह निषिद्ध एवं वर्जित होता जायेगा। इसी कारण यह बिम्बलोक है। सरहद के पार यूटोपिया की स्पृहा अपने अन्तिम रूप में मृत्यु की स्पृहा की तरह महसूस होती है—

"आईनो, रोशनाई में घुल जाओ और आसमान में
मुझे लिखो और मुझे पढ़ो।
आईनो, मुसकराओ और मुझे मार डालो।
आईनो, मैं तुम्हारी ज़िन्दगी हूँ।"

लेकिन शमशेर की कविता के हाशिये पर सिर्फ मार्क्सवाद का नाम नहीं लिखा है। दूसरी तरफ एक और हाशिया है जिस पर एक और इबारत है, जो एक दूसरे अर्थ में वर्जित है। उस इबारत का नाम शमशेर देते हैं—सुर्रियलिज्म या अतियथार्थवाद। यह पहली इबारत की ठीक उलटी इबारत है। धन का ऋण पक्ष है। अतियथार्थ वस्तुतः इतिहास में क्या था या क्या है, यह उतना प्रासंगिक नहीं है जितना यह कि उसका निजी इस्तेमाल शमशेर क्या करते हैं। उनके लिए अतियथार्थवाद शुद्ध आत्मपरकता है, जिस तरह मार्क्सवाद शुद्ध वस्तुपरकता है। रेखाचित्रों की शक्ल में वह 'कुछ कविताएँ' नामक संग्रह में 'घनीभूत पीड़ा' शीर्षक कविता में हाशिये पर मौजूद है—और ये चित्र 'चीन' नामक कविता के चीनी अक्षरों की भाँति—कविता की 'पहुँच के बाहर' होते हुए भी कविता के 'अभिन्न अंग' हैं। बहरहाल, मुख्य बात यह है कि दोनों हाशियों की तरफ कवि का रुख एक जैसा नहीं है। मार्क्सवाद या वस्तुपरकता वह है जिसका कवि क़ायल है, लेकिन जिसे वह काव्यानुभूति में ला नहीं पाता। अतियथार्थवाद वह है जो बरबस काव्यानुभूति में फूटा पड़ता है लेकिन कवि जिसका क़ायल नहीं है और जिसे दबाकर, निकालकर कविताओं में से अलग कर देना चाहता है। एक तरफ अपने को वायवी बनाकर असम्भव ऊँचाई को छू लेने की स्पृहा है, दूसरी तरफ़ अपने को पत्थर की तरह ठोस बनाकर उमड़ती हुई

वायवीयता को दबा देने की कोशिश है। इन दोनों हाशियों के बीच शमशेर की काव्यानुभूति एक व्याकुल शान्ति की तरह स्थिर है। मूलत: वह जिसे हम जीवन कहते हैं दो अतियों अथवा सीमान्तों के बीच गति और प्रतिगति का एक झीना, झिलमिलाता हुआ और बेचैन सन्तुलन है।

मार्क्सवाद की तरह अतियथार्थवाद भी एक यूटोपिया की सृष्टि करता है। यह यूटोपिया एक तरह का निषेधात्मक यूटोपिया है। धन बिम्बलोक के मुकाबले में ऋण बिम्बलोक है। 'कुछ और कविताएँ' में दी हुई दो कविताएँ 'सींग और नाखून' तथा शिला का खून पीती थी' इस निषेधात्मक, या यों कहें, निषिद्ध यूटोपिया का चित्र प्रस्तुत करती हैं। यहाँ भी काल घूर्णत: देश में समाहित हो जाता है—जैसे समय का प्रवाह पत्थर होकर रुक गया हो। इसके आगे राह नहीं है। अर्थात् घिरा हुआ असीम यहाँ भी पूरा का पूरा भर गया-सा लगता है—

"शिला का ख़ून पीती थी
वह जड़
जो कि पत्थर थी स्वयं
सीढ़ियाँ भी बादलों की झूलतीं
टहनियों—सी
और वह पक्का चबूतरा
ढाल में चिकना:
सुतल था।"

आप देखेंगें कि वह बेचैन छटपटाहट जो गति और प्रतिगति के बीच सन्तुलन खोजती हुई 'अमन का राग' में उन्मुक्त हो गयी थी, यहाँ आकर ठोस, बिल्कुल जड़ हो गयी है। इन कविताओं के बिम्ब भी उतने ही सघन, ठोस और अपारदर्शी हैं। लेकिन इस ध्रुवान्त पर वे सबसे अधिक दुरूह लगते हैं। 'अमन का राग' या 'चीन' में अर्थ जो शब्दों की सतह पर तैरता दिखता है, यहाँ आकर 'गुम' हो गया है। पूरी कविता के भीतर एक विशाल अनुपस्थिति की व्यंजना होती है। इस निषिद्ध यूटोपिया के पास पहुँचने पर भी बिम्ब अपनी बिम्बलौकिकता खोने लगते हैं; वे बिम्ब नहीं रह जाते, वे प्रतीक हो जाते हैं। ये प्रतीक किसके प्रतीक हैं? ये प्रतीक हैं—'कुछ नहीं' के। अक्षरश: 'कुछ नहीं' के। यह पीड़ा की वह अवस्था है जहाँ उसमें से स्पृहा, उच्छ्वास, तड़प, बेचैनी सब कुछ अनुपस्थित हो जाता है और दर्द एक जड़ चट्टान की तरह जम जाता है। हाशिये की इस ऋण दिशा

में भी कविता जैसे-जैसे बढ़ती है, अपनी मृत्यु की ओर बढ़ती है। इसलिए कि इसके आगे पागलपन, मानसिक विक्षिप्तता की स्थिति है जो चेतना की मृत्यु का पर्याय है। घबरा-घबराकर शमशेर इस प्रतीकात्मक अतियथार्थ से यदि वापस लौटते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं। वह अपने होशो-हवास की दुरुस्ती को बनाये रखने के लिए ही संघर्ष करते हैं।

सीमान्तों तक जाकर इस खाई को नहीं पाटा जा सकता। फिर आदमी क्या करे? हारकर, हताश कातरता के साथ शमशेर उस घिरे हुए असीम के बीच में सन्तुलन की तलाश करतें हैं। यह मध्यता एक फाँक, अटकाव, की तरह महसूस होती है: जैसे कुछ ऐसा है जो हमेशा के लिए चुंगल में फँस गया हो। मध्य का यह फाँसदार सन्तुलन निष्क्रिय नहीं है। वह मुख्यत: गति है – "ओ सुदूरपन ओ केवल लयगति।"

लेकिन मध्य का यह सन्तुलन एक विधायक, सक्रिय, स्वयम्भू उत्स की तरह नहीं जन्म लेता, जैसा कि अज्ञेय के काव्य में है। इसके विपरीत यह सन्तुलन दो निषेधों के आपसी निषेध से पैदा होता है। शमशेर मूलत: अतिवादी हैं, ऐसे अतिवादी जो अपने ही अतिवाद से सहमकर वापस लौटने की चिरन्तन मुद्रा में गिरफ्तार हो गये हैं। यही है जो उलझी हुई भावनाओं का रूप ग्रहण करता है। दो पहाड़ों को ठेलकर उभरते हुए आदमीवाली कविता में भी, जो उनकी दूसरी कविताओं के मुक़ाबले इस सन्तुलन को अधिक से अधिक विधायक रूप देती दिखती है – अन्त में बादलों के दो तार निषेध करनेवाली दो गतियों की तरह उस फाँस की याद दिला ही देते हैं।

इस प्रकार यथार्थ की तह में निषेध है जो बिम्बलोक को जन्म देता है। यह निषेध मालार्मे की तरह सिर्फ़ रिक्तता की सृष्टि न करे इसलिए इसको ज्यों का त्यों आत्मसात् करना सम्भव नहीं है। दूसरी तरफ, इसकी सत्ता से इन्कार करना धन या ऋण यूटोपिया में पहुँचना है, जो मृत्यु का ही दूसरा नाम है। अत: इसके प्रति सहमा हुआ-सा कातर, निरीह वैष्णव भाव ही एकमात्र उपाय है। जैसे ही यह भाव उदित होता है, बिम्बलोक एक बेचैन सन्तुलन की भाँति जन्म लेता है।

शायद अब आप देखेंगे कि शमशेर सचमुच कितनी साँसत में हैं। उनकी स्पृहा की समस्या इस निषेध को विधेय रूप में आत्मसात् करने की है। बिना तट पर पहुँचे हुए ही तटस्थ होने की है। चेतना के सीमान्तों को चेतना के मध्य में महसूस करने की है। इसी कारण इतनी ऐंठन, इतना उलझाव, इतना पेचों-ख़म है – और उनके ऊपर तैरती हुई निरीह, मौन, आर्द्र सरलता है। ख़ास बात यह है कि यह मुख्य स्थिति भाव या वस्तुओं के तमाम

रूपों में छिपकर अलग-अलग नहीं आभासित होती है, बल्कि भावों या वस्तुओं के मर्म में मौजूद यह एक ही स्थिति दिखती है। इसी को शमशेर बारम्बार घुलना या घुलाना कहते हैं-और इसीलिए काव्यानुभूति यथार्थ के जिस हिस्से को पकड़ती है, शीर्षकों के बावजूद एक ही कविता का निर्माण करती दिखती है।

'घिरे हुए असीम' के निषेधों की यह भावभूमि बारम्बार उन बिम्बों को जन्म देती है जो अपनी विविधता के बावजूद एक ही हैं-

(1) रह गया सा एक सीधा बिम्ब
चल रहा है जो
शान्त इंगित-सा
न जाने किधर।

(2) मैं सुनूँगा तेरी आवाज़
परती बर्फ़ की सतहों में तीर-सी।

(3) एक दरिया उमड़ कर पीले गुलाबों का
चूमता है बादलों के झिलमिलाते
स्वप्न जैसे पाँव।

(4) मौन आहों में बुझी तलवार

(5) कठिन प्रस्तर में अगिन सूराख

(6) ग़रीब के हृदय, टँगे हुए

(7) सुर्मई गहराइयाँ, भाव में स्थिर

(8) पूरा आसमान का आसमान है एक इन्द्रधनुषी ताल

(9) मोह मीन गगन लोक में बिछल रही

(10) मैं खुले आकाश के मस्तिष्क में हूँ

(11) कई धाराएं खड़ी हैं स्तम्भवत् गति में

(12) उषा के जल में सूर्य का स्तम्भ हिल रहा है

(13) धुँधली बादल-रेखा पर टिका हुआ आसमान

(14) क्षितिज के बीचोंबीच खिला हुआ फूल

(15) अन्धकार के चमकीले निर्झर में, तुम्हारे स्वर चमकते हैं

(16) खून बजता है हवा में। आदि-आदि।

ये सारे बिम्ब निषेध की प्रक्रिया में सन्तुलित हैं। उनका अस्तित्व लगभग घुलकर रिक्त होने जाने के क्षण में है। उनकी चमक, उनकी पारदर्शिता और उनकी गत्यात्मकता इसी से उपजती है। इसके अलावा वे उसी घिरे हुए असीम में अटके हुए हैं; अन्धकार का चमकीला निर्झर उस असीम में गिर रहा है, लेकिन उसमें चमकता हुआ स्वर उसे पूरा का पूरा नहीं भरता। इस सन्तुलन में एक थरथराहट है। यह थरथराहट एक गति में फँसी हुई प्रतिगति है। बिम्ब न सही तो थरथराहट, झिलमिलापन उस असीम को भरता हुआ दिखता है। घिरे हुए असीम को भरती दिखती हुई बिम्बों के साथ की थरथराहट, या चमक ही उनकी बिम्बलौकिकता है। इस बेचैन, छीजते हुए सन्तुलन को हम पदार्थों की रेड़िया-प्रक्रिया के दृष्टान्त से समझ सकते हैं।

मैने 'बिम्बलोक' शब्द का प्रयोग किया है। बिम्ब और बिम्बलोक के अन्तर को स्पष्ट करना यहाँ आवश्यक है। यह लगभग उसी तरह का अन्तर है जो विष्णु और विष्णुलोक में है। विष्णुतत्व और विष्णुलोक में अन्तर है। उसी तरह बिम्ब के बिम्बतत्त्व और बिम्बलौकिकता में अन्तर है। शमशेर की कविता में घिरे हुए असीम को बिम्ब की बिम्बात्मकता नहीं, उसकी बिम्बलौकिकता भरती है। अन्तिम रूप में शमशेर की काव्यानुभूति बिम्ब की नहीं, बिम्बलोक की अनुभूति है। इसी का निर्माण वे बार-बार करते हैं, और विविध बिम्बों के बावजूद एक ही कविता लिखते हैं। अन्ततः इस बिम्बलोक में बिम्ब का भी पर्यवसान हो जाता है। लेकिन बिम्ब का पर्यवसान उस लोक का भी पर्यवसान है।

निषेध का अन्त नहीं है। विधेय रूप में निषेध को आत्मसात् करने पर भी वह निषेध ही बना रहता है। उसका अन्त नहीं होता। निषेध का अन्त वहाँ है जहाँ से विधायकता का आरम्भ होता है। शमशेर का बिम्बलोक कब तक इस निषेधात्मक यूटोपिया से घिरा रहेगा? अवतार को लीला रूप में देखने की कोशिश तात्त्विक दृष्टि से घटित होने को केवल होने के रूप में देखना है। आप देखेंगें कि यही समस्या भक्तिकाल की दार्शनिक समस्या है। यूरोप के अस्तित्ववादी दार्शनिक यास्पर्स ने कहा है कि असली प्रश्न यह है कि क्या नास्तिक सन्त होना सम्भव है? यास्पर्स का दर्शन इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश है। शमशेर की काव्यानुभूति के मौन विस्तार में भी यही प्रश्न मँडराता रहता है।

काव्यानुभूति की इस बनावट का शिल्प के स्तर पर एक नतीजा यह निकलता है कि शब्द जो जड़ थे, सहसा पोले पड़ने लगते हैं। शब्द की जड़ अवस्था वह है जो उनको रूढ़ अर्थों के पाश में बाँधती है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध एक अचल स्थिरता की तरह परिभाषाबद्ध हो जाता है। उनके पोले पड़ने का मतलब है कि अर्थ को परिभाषा के तात्त्विक कैवल्य की भाँति नहीं बल्कि प्रक्रिया की तरह देखा जाये। तब शब्द के पाश टूटने लगते हैं, और वे परिभाषा का अर्थ नहीं, जीवन की अनुभूति का अर्थ देने लगते हैं। शब्द की अर्थशक्ति में इतना बड़ा परिवर्तन हिन्दुस्तान में एक बार और हो चुका है जब गुमनाम ध्वनिकार ने व्यंजना शक्ति का आविष्कार किया। उस समय शब्दों के पास टूटने की अनुभूति हुई होगी। ध्वनि सिद्धान्त तत्त्वत: घटित को अस्तित्व की तरह फैलता हुआ देखने का प्रयास है। क्या ध्वनि सिद्धान्त और बाद में विकसित होनेवाले विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत में कोई असंलक्ष्यक्रम रिश्ता है? आप विद्वज्जनों के सम्मुख मैं इस ख़तरनाक क्षेत्र में प्रवेश करने की मूर्खता नहीं करूँगा। इस गुत्थी को खोलना समर्थ व्यक्तियों का काम है। मैं केवल इतना कहना चाहता हूँ कि शब्दों के प्रति शमशेर की, और समूची नयी कविता की दृष्टि हिन्दुस्तान की पुरानी उपलब्धियों से अलग नहीं है, बल्कि ठेठ उनके मध्य में स्थापित है। आज की कविता की समस्या लगभग उसी शक्ल में सामने आती है, जिस तरह वह ध्वनिकार के सामने आयी थी। उसमें पहले की सभी दृष्टियों का समाहार हो गया। शमशेर की कविता, या समूची नयी कविता को ठीक-ठीक देखने के लिए नयी कविता के प्रतिमान की जरूरत नहीं है, बल्कि कविता के नये प्रतिमान की ज़रूरत है।

जब एक बार शब्दों को जकड़े हुए अर्थों के पाश टूट जाते हैं, तब उनकी इस नयी मुक्ति की अवस्था में, उन्हें नये-नये रिश्तों में जोड़ना सम्भव होने लगता है। शमशेर के शब्दों में –

> "जो कि सिकुड़ा हुआ बैठा था, वो पत्थर
> सजग-सा होकर पसरने लगा
> आप से आप।"

ऐसी अवस्था में ऐसे-ऐसे शब्द साथ-साथ आने लगते हैं, जिनके साहचर्य की कल्पना पहले नहीं की गयी थी, और 'साँस की गंगा', 'हल्की मीठी चा-सा दिन', 'हँसी का फूल', 'मौत के रंगीन पहाड़, 'अगोरती विभा', 'कागज़ी विस्मय', 'सुलगता हुआ पहरा', 'मोतियों को चबाता हुआ गुल' जैसे प्रयोग सिर्फ चौंकानेवाले करिश्में नहीं लगते, बल्कि एक गूँजते हुए अर्थ से भर जाते हैं। कविता शब्दों और शब्दों के संयोग से नहीं बनती, बल्कि शब्दों का

जाल जो यथार्थ पर फेंका जाता है उससे बनती है। यह फेंका हुआ जाल ही अर्थ है। और अगर यथार्थ स्थिरता नहीं, गत्यात्मक प्रक्रिया है तो शब्दार्थ को भी गत्यात्मक प्रक्रिया होना पड़ेगा। यही शमशेर के शिल्प की समस्या है।

मैंने आपके सम्मुख काव्यानुभूति की बनावट प्रस्तुत की। ऐसे बहुत-से सवाल हैं जो मैंने छोड़ दिये हैं। इस बनावट से कवि का जो स्पृहात्मक सम्बन्ध है उसकी प्रकृति क्या है? यह 'सौन्दर्य' की तरह क्यों आभासित होता है? इस समूचे अस्तित्व का हमारे रोज़मर्रा के जीवन से क्या सम्बन्ध है? छायावाद या हिन्दी काव्य की परम्परा से इसका किस तरह का रिश्ता है? सबसे बढ़कर वह भावात्मक अवस्था जो इस बनावट को ऐन्द्रिकता देती है उसका व्यापार किस तरह का है, यह सब मैंने छोड़ दिया है। इनमें से कुछ प्रश्न तो ढाँचे की इस विवेचना के बाहर हैं, और कुछ का उत्तर देना शमशेर के ही शब्दों में मुझसे ज्यादा 'ऊँच रुचि और मति' वाले विद्वानों का काम है।

इसलिए शायद आपको लगे कि काव्यानुभूति की बनावट की इस विवेचना में मैंने शमशेर की कविता के रेशे-रेशे बिखेरकर रख दिये और कविता की इहलीला समाप्त हो गयी। आख़िरकार विश्लेषण कविता की जगह तो नहीं ले सकता। क्षमा याचना के रूप में मैं आपके सामने शमशेर की दो बहुत मार्मिक कविताएँ 'सागर तट' तथा 'लौट आ ओ धार' रखकर इस विवेचना को समाप्त करूँगा। इन कविताओं में जो अवतरित होता हुआ सौन्दर्य है, यथार्थ पर थपेड़े मारता हुआ चेतना का जो स्पन्दन है, यदि उसकी धड़कन को कुछ अधिक गहराई के साथ आप महसूस कर सकेंगें तो मैं अपने इस प्रयास को सफल समझूँगा: आपके प्रति भी और कवि शमशेर के प्रति भी।

# 15. मुक्तिबोध की कविता की बनावट

कुँवर नारायण

मुक्तिबोध ने केवल कविता लिखी नहीं है, कविता लिखे जाने की मानसिकता और रचनाप्रक्रिया पर भी विस्तार से विचार किया है। इससे उनकी कविताओं को समझने में मदद मिलती है और किसी हद तक आज की कविता को भी।

मुक्तिबोध छोटी कविताओं के कवि नहीं हैं। उनका कहना है-"मैं छोटी कविताएँ लिख नहीं पाता और जो छोटी होती हैं वे वस्तुत: छोटी न होकर अधूरी होती हैं। इस प्रकार की न मालूम कितनी कविताएँ मैने अधूरी लिखकर छोड़ दी हैं। उन्हें खत्म करने की कला मुझे नहीं आती...." उनकी लम्बी कविताएँ छोटी न होकर क्यों लम्बी ही होती हैं इस पर भी उनकी दिलचस्प टिप्पणी है। एक कविता के लिए कहते हैं-"अगर वह कविता भावावेशपूर्ण होती तो एक बार उसकी आवेशात्मक अभिव्यक्ति हो जाने पर मेरी छुट्टी हो जाती। लेकिन वैसा हो सकना असम्भव है क्योंकि भावावेश किसी बात को लेकर होता है, वह बात किसी दूसरी बात से जुड़ी होती है, दूसरी बात किसी तीसरी बात से। इस तथ्य को मैं यों कहूँगा: यथार्थ के तत्त्व परस्पर गुम्फित होते हैं, साथ ही पूरा यथार्थ गतिशील होता है।"

यथार्थ को इस तरह परस्पर गुम्फित और गतिशील देखना हमें मुक्तिबोध की कविताओं की बनावट का पहला संकेत देता है। उनकी लम्बी, आदि-अन्त रहित-सी कविताओं की भाषा की बेसब्र गति परस्पर गुम्फित अनुभव-खण्डों की याद दिलाती है। बारीक तराश और पच्चीकारी उनकी कविता की खास पहचान नहीं है, न वे अपनी कविताओं द्वारा उस तरह का असर ही पैदा करना चाहते हैं जैसा छोटी कविताओं द्वारा पैदा किया जाता है। शब्द, बिम्ब, अर्थ, ध्वनियाँ आदि भी परस्पर गुम्फित भँवर की तरह चक्कर खा आगे बढ़ते हैं। अक्सर एक ही बिम्ब, शब्द या अर्थ एक ही कविता में घूम-फिरकर वापस आता है, मगर टेक की तरह नहीं, चक्राकार घूमते छोटे-छोटे पहियों की गति की तरह। 'शब्दों का अर्थ जब' शीर्षक एक कविता है जिसमें ये ही चार शब्द 37 बार लाये गये हैं। इसी तरह 'अँधेरा' शब्द जितनी बार मुक्तिबोध की कविताओं में आया है दूसरे किसी कवि में मिलना मुश्किल है। अपनी कई कविताओं में मुक्तिबोध तुकों का इस्तेमाल भी अर्थों पर किसी तरह का विश्राम देने के लिए नहीं करते, आवर्तन द्वारा गति का आभास देने के लिए करते हैं..... उनका प्रभाव धक्के का-सा होता है मानो कविता को आगे ढकेलने के लिए। 'हर चीज़ जब अपनी' से कुछ उदाहरण लेना चाहूँगा:

कि आखिर बहसियत एक आदमी के
न कि सवालात की हवालात
या कि समस्याओं की
सुनहरी अकादेमी के
हाँ, बहैसियत सिर्फ आदमी के.....

नफरत और नफासत
बीबी के साथ भी सियासत

भीड़ भड़क्का है
सँभलो, अपनी अटैची सँभालकर रक्खो
जमाना उचक्का है
इसीलिए दिमाग के भीतर एक दिमाग में
जहरीली आग है
अकेले में दाँत पीसता हुआ झाग है।
टिकट कलेक्टर है ऊँचा सफेदपोश वक्त।
वैल-शेव्ड चेहरा है, काला और सख्त।
भीतर घुस नहीं सकता है
बिना टिकट कोई भी
समस्या विकट है,
जिसके पास पैसा है उसके पास टिकट है।

–भूरी भूरी खाक धूल

इस कविता में एक वृत्ताकार गति है। अन्तिम तीन पंक्तियों में 'टिकट', 'विकट' और फिर 'टिकट' द्वारा जिस चक्राकार संरचना को गढ़ा गया है उसका फैलाव पिछली पंक्तियों में भी महसूस किया जा सकता है। कभी-कभी वे गति लाने के लिए एक अक्षर की पुनरावृत्ति को आधार बनाते हैं, जैसे इन पंक्तियों में 'ढ़' अक्षर की स्थिति द्रष्टव्य है:

इस सल्तनत में
हर आदमी उचककर चढ़ जाना चाहता है,
धक्का देते हुए बढ़ जाना चाहता है,
हर एक को अपनी-अपनी पड़ी हुई है।
चढ़ने की सीढ़ियाँ
सिर पर चढ़ी हुई हैं।

अक्सर ऐसा लगता है कि मुक्तिबोध की कविताएँ एक 'एवलांश' की तरह लुढ़कती-पुढ़कती, शब्द बटोरती, आगे बढ़ती हैं – किसी ऊबड़-खाबड़ सतह पर सरपट, जिसमें एक प्राकृतिक दृश्य की छटा है, पर कसाव और संगठन के लिए धैर्य नहीं। इसलिए शायद बहुधा यह लगता है कि उनकी कविताओं में एक भाषाई पैटर्न तो है पर वह संरचना नहीं जिसके पीछे एक खास तरह का सतर्क नियोजन, निदेशन और संयोजन होता है। वे असंगठित लगती हैं: लगती ही नहीं शायद होती भी हैं मानो उन्हें जान-बूझकर इस तरह रचा गया हो कि वे एक उखड़े हुए, बड़बड़ाते यथार्थ के पागलपन का एहसास करा सकें – अपने कथ्य द्वारा ही नहीं अपने फार्म द्वारा भी। यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि यह फॉर्म – या फॉर्म विहीनता – क्या किसी तरह की पूर्वयोजना के मुताबिक है? या कविताएँ स्वत: स्फूर्त (सेल्फ जैनरेटिंग) भाषाई नियम के अनुसार.....नियम जो अपने आप में रचनात्मक दिमाग का स्वभाव माना गया है.....विकसित होती हैं, एक स्वचालित प्रक्रिया या 'सेल-डिवीजन' की तरह सायास उतनी नहीं जितनी अनायास। रचना-प्रक्रिया के सिलसिले में स्वयं मुक्तिबोध ने 'फन्तासी' और 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' की भी बात उठायी है। फिलहाल. एक और बात मन में उठती है।

कविताओं की प्रकृति को देखते हुए उनकी एक व्याख्या क्या इस प्रकार हो सकती है कि यह अनगढ़ता और खुरदुरापन कहीं मुक्तिबोध के यकीनों से तो नहीं जुड़ता? यह अनगढ़ता कहीं उस सुगढ़ता के खिलाफ एक विद्रोह और हिकारत का प्रतीक तो नहीं जिस सुगढ़ता के पीछे एक ऐसी संस्कृति और इतिहास की यादें हैं जिसके पास बारीक कारीगरी, पच्चीकारी वगैरह के लिए धैर्य और आराम का लम्बा सामन्ती समय था? मुक्तिबोध की कविताएँ एक खास तरह की झपट और जल्दी में हैं....एक मिल, एक मशीन की तरह जल्दी में: कहीं कुछ ऐसे आवश्यक को नष्ट हो जाने से बचाने की जल्दी में जिसके साथ आदमीयत के जीवन मरण का प्रश्न झूल रहा हो?

लेकिन यह स्पष्टीकरण हमेशा दूर तक हमारा साथ नहीं देता, क्योंकि इसके साथ प्रेषणीयता के सवाल का सामंजस्य नहीं बैठता और एक खास तरह का अन्तर्विरोध सामने आता है। मुक्तिबोध का कथ्य या सन्देशा जितना स्पष्ट और सीधा है उनकी कविताओं की बनावट उतनी ही जटिल और उलझी हुई: वे सहज बोधगम्य नहीं। समझे जाने के लिए वे भारी धैर्य और लम्बा समय चाहती हैं। यानी, एक तरह से मुक्तिबोध की कविताओं का फॉर्म उनके सन्देश या कथ्य के लिए बहुत अनुकूल फॉर्म नहीं ठहरता.....सन्देशा, जिसे मुक्तिबोध महत्व देते हैं और जिसे वे भरपूर पाठकों तक पहुँचाना चाहते हैं। उद्देश्य अगर कविताओं के मात्र सन्देशवाहक होने का ही होता तो शायद ग़जल या गीतों के स्थापित फॉर्म

ज्यादा काम के ठहरते। वैसे मुक्तिबोध की कविताएँ अपने ढंग से भरपूर प्रभाव छोड़ती हैं, बशर्ते कि पाठक में वह लम्बा धैर्य हो जिसकी माँग उनकी कविताओं की बनावट करती है। लेकिन मुक्तिबोध की असली समस्या एक प्रचारक या विचारक की नहीं एक अत्यन्त आत्मसजग कलाकार की है, इसलिए उनकी कविताओं की बनावट की कुंजी विशेष रूप से उनकी रचनात्मक प्रतिबद्धता में खोजनी चाहिए।

यहाँ मुक्तिबोध की कविताओं की बनावट को लेकर कोई अन्तिम निष्कर्ष निकालने की कोशिश नहीं की गयी है क्योंकि मुक्तिबोध स्वयं इस बारे में किसी अन्तिम निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सके थे। कुछ ऐसे बिन्दुओं पर खुला विचार किया है जो मुझे उनकी कविताओं की बनावट से निकलते हुए लगे.....उसे निर्धारित करते हुए नहीं।

मुक्तिबोध ने अपने चिन्तन में 'फन्तासी', 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' और 'मार्क्सवादी यकीनों' की बात की है। ये तीनों बिन्दु महत्वपूर्ण हैं जिनसे वे अपने समय की दुनिया, अपने यथार्थ-बोध और अपनी रचना-प्रक्रिया को समझने-समझाने की कोशिश करते हैं। रचनाशीलता और आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में विचार करते हुए उनके बीच निहित अन्तर्सम्बन्धों की थोड़ी छानबीन ज़रूरी है ताकि मुक्तिबोध की कविताओं का स्वरूप और स्वभाव कुछ स्पष्ट हो सके!

पहले वैज्ञानिक दृष्टिकोण और रचनात्मकता के अन्तर्सम्बन्धों की बात उठाना ठीक होगा, यह देखने के लिए कि क्या मुक्तिबोध की विज्ञान-सम्बन्धी धारणाओं का कोई निकट या दूर का रिश्ता उनकी रचनात्मक सम्वेदनाओं से है? वे स्वयं अपनी साहित्यिक समझ को वैज्ञानिक चिन्तन-पद्धति और फन्तासी से जोड़ते हुए कहते हैं....."मैं चाहता हूँ कि साहित्य सम्बन्धी धारणाएँ वास्तविक साहित्य में विश्लेषण के आधार पर बनायी जायें। जिस प्रकार विज्ञान में इण्डक्शन से डिडक्शन पर आया जाता है, तथ्यों के संग्रह से, उनके विश्लेषण द्वारा.....उसी प्रकार साहित्य में....." और आगे चलकर वे कला के तीन महत्वपूर्ण 'क्षणों' की व्याख्या इन शब्दों में करते हैं....."कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना, एक ऐसी फैण्टेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैण्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णता तक की गतिमानता....फैण्टेसी को शब्दबद्ध करने की प्रक्रिया के दौरान जो-जो सृजन होता है, जिसके कारण कृति क्रमशः विकसित होती जाती है – वही कला का तीसरा और अन्तिम क्षण है।" –'तीसरा क्षण: एक साहित्यिक की डायरी'

मुक्तिबोध के अनुसार कला का यह 'तीसरा क्षण' फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ तथा उसका क्रमशः विकसित होते जाना, सृजन का सबसे महत्वपूर्ण चरण है। मुख्य बात है यहाँ मुक्तिबोध की विज्ञान और कलाओं की सृजनात्मकता के बीच लगभग एक-सी रचना-प्रक्रिया की पहचान। इसीलिए वे 'कला के दूसरे क्षण में उपस्थित फैण्टेसी की इकाई में सम्वेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सम्वेदना को' अभिन्न मानते हैं। विज्ञान का सबसे सृजनशील पक्ष, कविता की ही तरह, अन्वेषी और आविष्कारात्मक है और दोनों में ही एक खास तरह की सूझ-बूझ और कल्पनाशीलता बुनियादी है। मुक्तिबोध इस पर ज़ोर देते हैं कि "सौन्दर्य-प्रतीति का सम्बन्ध सृजन-प्रक्रिया से है। सृजन-प्रक्रिया से हटकर सौन्दर्य-प्रतीति असम्भव हो जाती है।" यानी सौन्दर्यानुभूति केवल एक अनुभव या विचार का अनुभव नहीं है, सबसे पहले वह रचनात्मकता का अनुभव है। वैज्ञानिक चिन्तन-विधि और कविता की रचनाप्रक्रिया में एक बुनियादी समानता दिखती है – पहला सूत्रबद्ध और दूसरा रूपबद्ध होने के पूर्व पहले तो बिम्बों, शब्दों, संकेतों, संख्या आदि में विश्लेषण है और फिर उनका एक नया संश्लेषण या संश्लिष्ट रूप (ए प्रोसेस ऑव् डीकन्स्ट्रक्शन एण्ड रिकन्स्ट्रक्शन) है, एक नयी रचना, कृति या इक्वेशन में।

यह नयी रचना या इक्वेशन न तो कवि के ही लिए, न ही वैज्ञानिक के लिए अन्तिम होती है। वह फिर एक नयी रचना के लिए कच्चे माल या खाद का काम करती है। (राजशेखर ने भी 'काव्यमीमांसा' में जो सोलह काव्यार्थ स्रोत गिनाये हैं उनमें 'विरचना' को भी एक जायज काव्यस्रोत माना है।)

मुक्तिबोध की कविताओं की बनावट में ही एक खास तरह का घुमावदार चिन्तन व्याप्त लगता है: अपने ही कथनों को मानो बार-बार जोतता-बोता हुआ, कविता की जमीन में 'प्लाऊ-बैक' करता हुआ चिन्तन जिस तरह एक वैज्ञानिक विचारों को उलट-पुलटकर उनकी जाँच-परख करता है, साथ ही, जिस तरह विज्ञान अपनी रचनात्मकता में तथ्यमूलक भी होता है और रहस्यात्मक भी, उसी तरह मुक्तिबोध की कविताओं में भी समानान्तर यथार्थमूलक और रहस्यमय पक्ष देखे जा सकते हैं.....और ये दोनों ही तत्त्व 'फन्तासी' या 'मिथक' में भी मौजूद होते हैं। इस प्रकार साहित्य, विज्ञान और मिथक की संरचना में एक तरह का त्रिकोणात्मक सम्बन्ध देखा जा सकता है जिसका मूलाधार है आदमी के अनुभव और कल्पनाशक्ति पर निर्भर उसकी सर्जनात्मक मनोवृत्ति तथा उसे दूसरों तक पहुँचाने की इच्छा। यह सर्जनात्मक पैशन या जुनून ज़रूरी है, इसके बिना एक कलाकार अपनी 'विश्वदृष्टि' को कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं दे सकता।

रचनात्मकता की जो समस्याएँ मुक्तिबोध ने उठायी हैं उन पर अगर हम थोड़ा विचार 'मिथक' या 'फन्तासी' की ओर से भी करें तो मुक्तिबोध की कविताओं की बनावट के एक प्रमुख पक्ष को समझ सकेंगें। (यहाँ मैं 'फन्तासी' और 'मिथक' के मिलते-जुलते प्रयोजनों को ध्यान में रखते हुए दोनों को समानाशयी शब्दों की तरह इस्तेमाल कर रहा हूँ।)

मुक्तिबोध की कविताएँ मुझे कई मायनों में काफ्का की याद दिलाती हैं। उनके समकालीन यथार्थ की समझ और अभिव्यक्ति के तरीकों में अद्‌भुत समानता है। लम्बा-लम्बा उलझा वाक्यविन्यास, फन्तासी का इस्तेमाल, कविताओं की मिथकीय बनावट, वर्तमान ज़िन्दगी को लेकर दहशत और गहरी व्यग्रता का भाव, अर्धविक्षिप्त-सी मन:स्थितियाँ, एक अन्तहीन कु:स्वप्न की तरह यथार्थ...दानवीय, विकृत और बेतरतीब.....जिसकी अमानुषिक जकड़ में आज का सामान्य आदमी। मुक्तिबोध की एक लम्बी कविता 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' की कुछ पंक्तियाँ हैं.....

यह बँगला है, लाल भवन है....
कमरे के भीतर कमरे हैं,
परदों के भीतर परदे हैं,
जो सबके अन्दर ठीक केन्द्र में बैठा है,
वह एक बड़ा अफसर है, उसकी सत्ता है,
आतंक बहुत
उसके दिमाग में गुपचुप जो कुछ चलता है
वह सरकारी गुप्तता नियम के अन्तर्गत
अनकहा रहेगा आखिर तक, हाँ आखिर तक.....

और आखिर तक काफ्का के भी प्रसिद्ध उपन्यास 'द ट्रायल' में लम्बी उबाऊ और पस्त कर देनेवाली सरकारी तहकीकात के बाद भी पता नहीं चलता कि नायक को किस अपराध के दण्ड में फाँसी दी जा रही है। अर्धप्रकाशित गलियारों, फाइलों, रेडटेप, प्रश्न.....प्रश्न.....प्रश्न का दमघोट चक्रव्यूह, और अन्तत: मुक्तिबोध के सामने भी:

वही सनातन प्रश्न,
यहाँ मैं क्योंकर आया?
किस इच्छा-मशीन से धक्का खाकर मैंने
इस टीले पर खुद को पाया ! !

उसी कविता में मुक्तिबोध देकार्त की प्रसिद्ध उक्ति को शब्द देते हैं:

मैं जिन्दा हूँ,
मैं हूँ
'आई एग्जिस्ट'
साबित सही सलामत।

समकालीन जीवन के भयानकतम अंश को दोनों ही एक लम्बे कु:स्वप्न (नाइटमेयर) की तरह देखते और उसे एक जटिल फन्तासी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। लेकिन मुक्तिबोध मनुष्य के खिलाफ उसकी जैविक परिस्थिति के बुनियादी संत्रास को नहीं रखते, यन्त्रमूलक पूँजीवादी व्यवस्था को रखते हैं जो मृत्यु की तरह जीवन-विरोधी तो है पर जिससे छुटकारा सम्भव है। इसीलिए संत्रास के चित्रण में समानता होते हुए भी मुक्तिबोध का अन्तिम विश्लेषण काफ्का से भिन्न है। खास बात है मनुष्य के भयों और दुश्चिन्ताओं का एक फन्तासी या कु:स्वप्न की तरह प्रकट होना, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहीं उन भयों का बहिष्कार और उनसे निवृत्ति भी है। काफ्का के अमूर्त भय और मुक्तिबोध के ब्रह्मराक्षस या ओरांगउटांग हमें अनेक पौराणिक कथाओं की याद दिलाते हैं जिनके द्वारा शायद मनुष्य अपने आदिम भयों का विवेचन करता रहा है। मुक्तिबोध की दुश्चिन्ताओं का सन्दर्भ सामाजिक है। काफ्का के उपन्यासों की एक बन्द दुनिया है। मुक्तिबोध की कविताओं की बनावट स्वच्छन्द और खुली हुई है, एक बीहड़ जंगल की तरह जिसमें स्पष्ट स्वार्थों का खुला डाका है। उनकी बनावट एक किले की तरह नहीं है। भूलभुलैया की तरह है, जिसके बाहर-भीतर हम आ-जा सकते हैं, पर ऐसा लगता है कि आसानी से उसका पार नहीं पा सकते ! दोनों ही की मुख्य चिन्ता मनुष्य है.....उसका निष्कासन, बेगानापन या एलियनेशन.....जो अदृश्य ताकतों के मुकाबले अपने को असहाय और लुटा हुआ पाता है। मुक्तिबोध भी मनुष्य की उस जटिल मानसिकता के प्रति सचेत हैं जो अनेक बाहरी विकृतियों और विसंगतियों को पैदा भी करती है, केवल बाह्य परिस्थितियों का परिणाम ही नहीं होती। आदमी की इन भीतरी प्रवृत्तियों को भी वे खासा महत्व देते हैं:

स्वप्न के भीतर एक स्वप्न,
विचाराधारा के भीतर और
एक अन्य
सघन विचारधारा प्रच्छन्न ! !
कथ्य के भीतर एक अनुरोध

विरूद्ध विपरीत,
नेपथ्य संगीत ! !
मस्तिष्क के भीतर एक मस्तिष्क
उसके भी अन्दर एक और कक्ष
कक्ष के भीतर
एक गुप्त प्रकोष्ठ और
कोठे के साँवले गुहान्धकार में....
.....कोई बन्द है
यक्ष
या कि ओरांगउटांग.....
.....
कहीं प्रत्यक्ष न यक्ष हो।

मस्तिष्क की इन अप्रत्यक्ष तहों की तरह मुक्तिबोध की कविताओं की भी अनेक तहें हैं, भाषाई भी और सन्दर्भात्मक भी, जो कभी बिल्कुल यथार्थ के स्तर पर काम करती हैं और कभी मिथकीय या जातीय स्मृति के स्तर पर। कविता जो केवल हमारी घृणा और प्यार को सम्बोधित नहीं, उस विवेक और विचारशीलता को भी सम्बोधित होती है जो आदमी की मौजूदा विसंगतियों, विकृतियों और गलत स्थितियों के मूल तक जाना चाहती है।

स्वप्न और मिथक का आधुनिक चिन्तन में खास महत्व रहा है। अनेक आधुनिक कृतियाँ और विचारधाराएँ मिथक सम्बन्धी चिन्तनों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी हैं। और मुक्तिबोध के सन्दर्भ में भी कई बातें सामने आती हैं। साधारणीकरण और सम्प्रेषणीयता की भी समस्या का एक हल मिथकों को माना गया है – एक लेखक या चिन्तक का अपने विशिष्ट अनुभवों को एक ऐसा आकार देने का आधार जिस आकार में मनुष्य-जाति के तमाम भले-बुरे, कड़वे-मीठे, अनुभवों की यादों के सन्दर्भ हों। विशिष्ट अनुभव या विचार भी मिथकीय ढाँचे में ढलकर एक सार्वजनिक और सार्वकालिक महत्व प्राप्त कर लेते हैं। अक्सर ऐसा भी देखा गया है कि ऊपर से स्वतन्त्र दिखती विचारधाराओं की रूपरेखा भी मिथकीय खाकों का अनुसरण-सा करती लगती है। यथार्थ के साथ मिथक या फन्तासी के एक और तरह के सम्बन्ध पर भी ध्यान जाता है। कल जो फन्तासी था आज सच है, आज जो फन्तासी लगता है कल को वह सच हो सकता है। फन्तासी की मूल शक्ति इस प्रत्यक्ष और परोक्ष, यथार्थ और कल्पित, अपूर्ण और आदर्श को जोड़ सकने में भी है। मुक्तिबोध के सामने निश्चित मार्क्सवादी आदर्श हैं और प्रत्यक्ष यथार्थ का अनुभव भी या

अनुभव से जन्मी फन्तासी जो उनके अनुसार स्वतन्त्र विकासमान है। विकास की धारणा वैज्ञानिक भी है और मार्क्सवादी भी, तथा दोनों ही अपने सामने भविष्य की एक कल्पना रखते हैं। फन्तासी और यथार्थ के रिश्ते पर मुक्तिबोध कहते हैं....."फैण्टेसी यथार्थ में भोगे गये वास्तविक अनुभव की प्रतिक्रिया नहीं हो सकती। वैयक्तिक से निर्वैयक्तिक होने के दौरान ही उस फैण्टेसी ने कुछ ऐसा नवीन ग्रहण कर लिया कि जिससे वह स्वयं भी वास्तविक अनुभव से स्वतन्त्र बन बैठी। फैण्टेसी अनुभव की कन्या है और उस कन्या का अपना स्वतन्त्र विकासमान व्यक्तित्व है। वह अनुभव से प्रसूत है, इसलिए वह उससे स्वतन्त्र है'' यहाँ दो बातें प्रमुख हैं। एक तो फैण्टेसी का अनुभव से सम्बन्ध, दूसरा फैण्टेसी का स्वतन्त्र विकासमान व्यक्तित्व। दोनों को मुक्तिबोध की कविता के सन्दर्भ में क्रमश: 'अनुभव' और 'रचना-प्रक्रिया' के समानान्तर रखा जा सकता है। मुक्तिबोध के सामने एक भविष्य है और उस तक पहुँचने के निश्चित तरीके हैं। इनसे उनके विचारों या कथ्य की कुछ निश्चित सीमाएँ बनती हैं, पर उनकी कविताओं के स्वरूप की सीमाएँ नहीं बनतीं, क्योंकि वे ज्यादातर स्वतन्त्र रूप से विकसित होती लगती हैं। इसीलिए उनकी अधिकांश कविताएँ जहाँ बेहतर कविताएँ हैं वहाँ उनमें सिद्धान्तों की जकड़ उतनी नहीं जितना उनके अनुभवों का जिन्दा एहसास और खुलापन है।

मैने यहाँ मुक्तिबोध की कविताओं में कुछ उन बुनियादी सूत्रों को पकड़ना चाहा है जो साहित्य में भी तथा कुछ दूसरे विषयों में भी उनकी गहरी रुचि से जुड़े हैं। मुक्तिबोध की कविताओं में एक सुनहरा स्वप्न है और एक कटु यथार्थ है जिसे वे 'स्वार्थान्ध सभ्यता के शासन के चक्रव्यूह' कहते हैं और जिसके साथ वे किसी तरह का समझौता नहीं करना चाहते। वे हिकारत से कहते हैं:

जाकर उन्हें कह दो कि सफलता के जंग खाये
तालों और कुंजियों की
दुकान है कबाड़ी की।

जीवन की तथाकथित
सफलता के पाने की
हमको फुरसत नहीं.....

पूँजीवादी छेदों में
आधुनिक जीवन बुद्धिजीवियों का
ठीकरे-सा लगता है।

मुक्तिबोध इस सभ्यता पर प्रहार करते हैं एक खास तरह के शब्द-बाहुल्य – शब्दों के बवण्डर कहना चाह सकता हूँ – द्वारा। शब्दों के अर्थ द्वारा उतना नहीं जितना उनकी घटाटोप उपस्थिति, उनकी झल्लाती उमड़ती हुई बहुसंख्या द्वारा, यहाँ तक कि अक्सर यह लगता है कि उनकी भाषा में जितना आयतन है उतना वजन नहीं: शक्ति का प्रदर्शन है, उसका सधा हुआ इस्तेमाल नहीं। ब्रेख्त की याद आती है जिनके शब्दों के इस्तेमाल में अपव्यय नहीं विचारों की-सी चुस्ती और अनुशासन है तथा प्रभाव में एक खास तरह की पैनी मार। मुक्तिबोध की भाषा में छायावादी किस्म का फैलाव और उलझाव है। उनकी कविताओं में ही नहीं, गद्य में भी। कविता में इस तरह की भाषा की अपनी जगह हो सकती है पर गद्य में वह ज़रूरी नहीं लगती। गद्य को जो भाषा रास नहीं आती, कविताओं में वही एक नाटकीय असर पैदा कर ले जाती है और एक विशिष्ट अर्थ में कविता की जमीन को विस्तृत भी करती है। लेकिन मुख्य रूप से यह भाषा भावात्मक है, लक्ष्यभेदी नहीं। मुक्तिबोध वह तीरन्दाज नहीं हैं जिनका तीर ठीक लाल निशान पर जाकर बैठे ! शब्दों का हुजूम है जो अचानक ढेले-पत्थरों की तरह बरसने लगता है और अचानक थम जाता है, मगर हमारी उस मनहूस नींद को बुरी तरह भंग करता है जो हमें हमारे मौजूदा हालात की तरफ से बेखबर बनाती है। वैसे भी, एक निश्चित राजनीतिक आदर्श से प्रेरित होते हुए भी मुक्तिबोध की कविताएँ किसी खास मसले या राजनीतिक मामलों पर केन्द्रित कविताएँ नहीं हैं। वे जानते हैं कि समकालीन राजनीति का अर्थ और समकालीन कविता के पूरे सन्दर्भ का अर्थ एक नहीं होता। भारी-भरकम डील-डौलवाली उनकी कविताओं का लैण्डस्केप बड़े-बड़े पहाड़ों, पठारों, नगरों, जंगलों आदि की याद दिलाता है, धैर्य से काटे-छाँटे और चमकाये नगों की नहीं। उनकी कविताओं में एक बीहड़ नदी का आवेग और उन्माद है, टकराव है, चक्कर हैं, छलाँगे हैं, संघर्ष हैं.....मैदानी नदी की सोचती हुई सी स्थिरता नहीं। कविताओं में भव्यता है पर उनमें एक भव्य स्थापत्य के गुण – जैसे सन्तुलन, समता, अनुपात आदि तत्व--नहीं हैं। किन्तु अपनी समग्रता और जीवनपरकता में मुक्तिबोध की कविताएँ जिन मानवीय आयामों को छूती हैं उनमें कविता के वृहत्तर उद्देश्यों की व्यापकता, ईमानदारी और ताकत है।

# 16. अँधेरे में : परम अभिव्यक्ति की खोज

डॉ. नामवर सिंह

इसीलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झाँक-झाँककर देखता हूँ हर एक चेहरा
प्रत्येक गतिविधि,
प्रत्येक चरित्र,
व हर एक आत्मा का इतिहास,
हर एक देश व राजनैतिक परिस्थिति
प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श
विवेक-प्रक्रिया, क्रियागत परिणति ! !
खोजता हूँ पठार....पहाड़.....समुंदर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म-संभवा !

'अँधेरे में', कविता की ये अंतिम पंक्तियाँ उस अस्मिता या 'आइडेंटिटी' की खोज की ओर संकेत करती हैं जो आधुनिक मानव की सबसे ज्वलंत समस्या है। निस्संदेह इस कविता का मूल कथ्य है अस्मिता की खोज; किंतु कुछ अन्य व्यक्तिवादी कवियों की तरह इस खोज में किसी प्रकार की आध्यात्मिकता या रहस्यवाद नहीं, बल्कि गली-सड़क की गतिविधि, राजनीतिक परिस्थिति और अनेक मानव-चरित्रों की आत्मा के इतिहास का वास्तविक परिवेश है। आज के व्यापक सामाजिक सबंधों के संदर्भ में जीनेवाले व्यक्ति के माध्यम से ही मुक्तिबोध ने ''अँधेरे में' कविता में अस्मिता की खोज को नाटकीय रूप दिया है।

नाटकीय कौशल के लिए कविता का 'मैं' दो व्यक्ति-चरित्रों में विभक्त कर दिया गया है : एक है काव्य-नायक 'मैं' और दूसरा है उसका प्रतिरूप 'वह'। यह विभाजन वस्तुत: एक नाटकीय कौशल मात्र नहीं, बल्कि इसका आधार आत्म-निर्वासन (सेल्फ-एलिएनेशन) है। 'अँधेरे में' का काव्य-नायक एक आत्म-निर्वासित व्यक्ति है, जिसके आत्म-निर्वासन का प्रतीक है उसका गुहावास। दोस्तोएव्सकी के 'अंडरग्राउंड मैंन' के समान ही यह व्यक्ति

भी बाह्य परिस्थितियों से भय खाकर एक तिलिस्मी खोह में निवास करता है। कविता का आरंभ इस तिलिस्मी खोह के रहस्यमय दृश्य से होता है, जो अपने प्रभाव में काफी नाटकीय है :

ज़िन्दगी के
कमरों में अँधेरे
लगाता है चक्कर
कोई एक लगातार;

किंतु यह रहस्यमय व्यक्ति दिखायी नहीं देता, केवल उसके चलने की आहट भर सुनाई देती है। अकस्मात भीत से फूलें हुए पलस्तर गिरते हैं और भीत पर खुद-ब-खुद कोई बड़ा चेहरा बन जाता है: नुकीली नाक, भव्य ललाट, दृढ़ हनु ! प्रश्न उठता है : कौन मनु? और इस प्रश्न के साथ ही जैसे काव्य-नायक प्रकट होता है। उसे याद आता है कि यह रहस्यमय व्यक्ति वही है, जो कभी शहर के बाहर पहाड़ी के उस पार तालाब के सलिल के तम-श्याम शीशे में कुहरीली श्वेत आकृति के रूप में प्रकट हुआ था; और फिर थोड़ी देर बाद लाल-लाल कुहरे में से एक रक्तालोक-स्नात पुरूष के रूप में निकला हुआ दिखा था। रात के अँधेरे में बंद दरवाजे की साँकल खटखटाने वाला पुरूष शायद वही है। आत्म-निर्वासित काव्य-नायक को पता है कि "वह रहस्यमय व्यक्ति अब तक न पाई गई मेरी अभिव्यक्ति है'' तथा "'हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव वह आत्मा की प्रतिमा'' है। उस प्रतिरूप से काव्य-नायक डरता है, कतराता रहता है और इसीलिए उसे टालता भी है कि स्वयं उसे अपनी कमजोरियों से लगाव है; उसे डर इसलिए है कि वह "हृदय को देता है बिजली के झटके''' और तुंग-शिखर के खतरनाक कगार पर बिठाकर रस्सी के पुल से पर्वत-संधि के गह्वर पार करने के लिए कहता है। इसके साथ ही यह भी तथ्य है कि "भविष्य का नक्शा दिया हुआ उसका/सह नहीं सकता।'' फिर भी "नही, नहीं, उसको मैं छोड़ नहीं सकता।'' भय और प्रीति का यह नाटकीय द्वन्द्व ही इस आत्म-निर्वासित मन का मुख्य आकर्षण है। अंतत: वह दरवाजा खोलने का संकल्प करता है, किंतु देखता है कि "बाहर कोई नहीं, कोई नहीं बाहर।'' रात का पक्षी कहता है :

वह चला गया है,
वह नहीं आएगा, आएगा ही नहीं
अब तेरे द्वार पर।
वह निकल गया है गाँव में शहर में

उसका तू खोज अब
उसको तू शोध कर !

रवींद्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि के एक गीत में भी कुछ-कुछ इसी प्रकार की पंक्तियाँ हैं, किंतु उस रहस्यवादी संदर्भ से इन पंक्तियों का संदर्भ कितना भिन्न है! रात के पक्षी के कथन के बावजूद आत्म-निर्वासित काव्य-नायक को वह रहस्यमय पुरूष फिर दिखाई पड़ता है, लेकिन स्वप्न में। इस बार उसके दर्शन उस समय होते हैं जब शहर में कर्फ्यू लगा हुआ है और मार्शल-लॉ जारी है। रात के सन्नाटे में सिरफिरा एक जन "आत्मोद्बोधमय कोई गान" गाता है, जिसे सुनते ही साफ हो जाता है कि "व्यक्तित्व अपना ही, अपने से खोया हुआ/वही उसे अकस्मात मिलता था रात में।" गान का प्रभाव यह है कि :

प्रत्यक्ष,

मैं खड़ा हो गया किसी छाया-मूर्ति-सा समक्ष स्वयं के।

काव्य-नाटक के घटना-क्रम में यह रहस्यमय पुरूष एक बार और मिलता है, अंतिम बार, जब शहर में जन-क्रांति छिड़ जाती है। माहौल ऐसा कि "कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई।" आत्म-निर्वासित व्यक्ति प्रसन्न मुद्रा में गैलरी में खड़ा होता है कि दिखाई पड़ता है "एकाएक वह व्यक्ति/आँखों के सामने/गलियों में, सड़कों पर लोगों की भीड़ में/चला जा रहा है।.....पुकारने को खुलता है मुँह/कि अकस्मात्/वह दिखा, वह दिखा/वह फिर खो गया किसी जन-यूथ में..../उठी हुई बाँह यह उठी हुई रह गई।"

खोज और उपलब्धि के बीच की दुविधा या 'सस्पेंस' ही 'अँधेरे में' कविता को अद्भुत नाटकीयता प्रदान करती है; और यह केवल काव्य-शैली का चमत्कार नहीं, बल्कि कथ्य की गहरी अर्थवत्ता का सूचक है। अस्मिता की खोज संबंधी ज्यादातर कविताओं में या तो केवल एक प्रकार की हताश खोज मिलती है या फिर उपलब्धि की बलात् आत्मतुष्टि ! आकस्मिक नहीं है कि दोनों ही प्रकार की कविताएँ प्राय: प्रकृत्या प्रगीतधर्मी होती हैं। प्रगीत शैली के अनुरूप ही उनके कथ्य में भी अस्मिता की खोज का अतिसरलीकृत सपाट रूप मिलता है। मुक्तिबोध ने इस सपाटता से बचकर एक तीखे तनाव को सफलता के साथ व्यंजित किया है, जिसका मुख्य आधार 'अँधेरे में' कविता का कौशलपूर्ण घटना-विन्यास है। अरस्तू ने जिस अर्थ में 'मिथोस' को त्रासदी की आत्मा कहा था, उसकी पुष्टि एक तरह से 'अँधेरे में' के घटना-विन्यास से होती है।

इस घटना-विन्यास का महत्व इस दृष्टि से भी है कि इसके द्वारा अस्मिता को एक व्यापक संदर्भ प्राप्त होता है। आत्मनिर्वासन और अस्मिता के लोप की चर्चा तो प्राय: की जाती है किंतु उसके वस्तुगत कारणों का उल्लेख बहुत कम किया जाता है। 'अँधेरे में' कविता के अंतर्गत स्वप्न-कथा के रूप में तीन घटनाएँ वर्णित हैं: किसी मृत-दल की शोभा-यात्रा, सैनिक शासन और जन-क्रांति का सूत्रपात। स्पष्टत:: पहली दोनों घटनाएँ कवि की दृष्टि में अस्मिता के खोने का वस्तुगत कारण उपस्थित करती हैं। किसी मृत-दल की शोभा-यात्रा और सैनिक शासन के आतंक से अस्मिता के खोने की बात एकदम स्पष्ट हो जाती है। संदर्भ की भयावहता अस्मिता के बोध की तीव्रता को और भी उभार देती है। भावबोध की यह तीव्रता संदर्भ के जिस प्रभावशाली चित्र से संबद्ध है, वह स्वयं मुक्तिबोध के शब्दों में "भाव का वस्तुमूलक आकलन" है। इसे ही आचार्य शुक्ल ने विभावन व्यापार की संज्ञा दी है और टी.एस.इलियट ने "ऑब्जेक्टिव को-रिलेटिव" की।

'अँधेरे में' कविता का प्रभाव जिस परिवेश के चित्रण पर निर्भर है, उसकी चित्रण-कला भी विचारणीय है। सबसे पहले कविता में रात के अँधेरे की भूमिका। क्या इस कविता में वातावरण के प्रभाव का बहुत-कुछ श्रेय अँधेरे को नहीं है? अँधेरा काव्यगत वातावरण को भयावह और रहस्यमय बनाने के साथ ही मूर्त भी बनाता है। अँधेरे में वस्तुओं को मूर्तिमान करने की विशेष क्षमता इसलिए होती है कि आसपास की बहुत-सी वस्तुएँ ओझल हो जाती हैं, इसलिए अभीष्ट वस्तुएँ विशेष रूप से उद्भासित होती हैं। अँधेरे में रेखाओं की संख्या कम होती है, किंतु उनके उभार की मात्रा अधिक होती है। उदाहरण के लिए मृत-दल की शोभा-यात्रा का चित्र इस कविता में इसीलिए इतना स्फुट (विविड) है कि उसकी पीठिका में रात का अंधकार है। दिन के उजाले में यही जुलूस शहर की भीड़-भाड़ में दब जाता; किन्तु आधी रात के सन्नाटे में वह उभरकर सामने आता है। मशाल की रोशनी में लोगों के चेहरे, उनकी पोशाक, घोड़ों के रंग और संगीन की नोकें और भी चमक उठती हैं, यहाँ तक कि सन्नाटा बैंड की आवाज को भी उभार देता है। दिन के उजाले में कोलतार की जो सड़क मामूली मालूम होती है वही रात के अँधेरे में 'मरी हुई खिंची हुई कोई काली जिह्वा' मालूम होती है। इसी तरह चौराहे, दरख्त और घंटाघर भी इस अंधकार के जादुई असर में और-के-और हो जाते हैं। उल्लेखनीय है कि 'सीमांतवादी', भावबोध के लेखकों ने अपनी कृतियों में प्राय: अंधकार का उपयोग किया है। निर्मल वर्मा की 'लंदन की एक रात' कहानी में भी यही अंधकार है। दोस्तोएव्सकी के उपन्यासों का घटना-काल प्राय: रात से संबद्ध है। कोई चाहे तो इसे एक कला-रूढ़ि भी कह सकता है, किंतु मुक्तिबोध ने अंधकार को स्वप्न-कथा से संबद्ध करके एक और आयाम दे दिया है।

कथन-शैली की दृष्टि से 'अँधेरे में' एक स्वप्न-कथा है। हिन्दी में कविता के अंतर्गत 'फैंटेसी' के उपयोग के लिए मुक्तिबोध विख्यात हैं, किंतु इस उपयोग की कलात्मक सार्थकता पर बहुत कम विचार किया गया है। स्वयं मुक्तिबोध 'फैंटेसी' शब्द का प्रयोग काफी व्यापक अर्थ में करते थे। उनके लिए कामायनी भी एक तरह की 'फैंटेसी' थी। इस प्रकार स्वप्न-कथा 'फैंटेसी' का एक प्रकार मात्र है। मुक्तिबोध की दृष्टि में कविता के अंतर्गत 'फैंटेसी' के प्रयोग की सबसे बड़ी सुविधा यह है कि लेखक वास्तविकता के प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता है। कहना न होगा कि स्वप्न-शैली में कथा कहने के कारण 'अंधेरे में' कविता में काफी मितव्ययिता और सघनता आ गई है तथा वर्णन के अनावश्यक विस्तार से अपने-आप ही निजात मिल गई। स्वप्न-शैली के कारण एक ओर कथा अनिवार्यत: चित्रात्मक हो गई तो दूसरी ओर एक से अधिक कथाओं के क्रमबद्ध संयोजन में भी लाघव आ गया, क्योंकि स्वप्न-क्रम प्रकृत्या अतार्किक और विषयधर्मी होता है। स्वप्न-शैली के साथ एक सुविधा यह भी है कि आवश्यकतानुसार देश और काल की दृष्टि से नितांत असंबद्ध तथा दूर की वस्तुओं को भी एकत्र रखा जा सकता है। 'अँधेरे में' के अंतर्गत तालस्तॉय, तिलक और गांधी इसी जादू की छड़ी से बुला लिए गये हैं। इसी प्रकार सामान्यत: असंभव प्रतीत होने वाली घटना भी स्वप्न संभव दिखायी जा सकती है और उसके औचित्य के बारे में कोई संदेह भी नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए 'अँधेरे में' के अंदर गांधी जी काव्य-नायक के कंधे पर एक शिशु रखकर अचानक गायब हो जाते हैं और वही शिशु थोड़ी देर बाद सूरजमुखी-फूल के गुच्छे में बदल जाता है, जिसके स्थान पर अगले क्षण वजनदार रायफल आ जाती है। यदि स्वप्न-कथा की शैली न होती तो इस प्रकार के चमत्कार कैसे संभव होते? किंतु ये चमत्कार अपने आपमें सार्थक नहीं हैं। सवाल यह है कि कवि इन चमत्कारों के जरिए हासिल क्या करता है? यदि ये चमत्कार वास्तविकता के किसी विशेष पहले को उजागर करने में समर्थ नहीं होते तो वे केवल कुतूहल के विषय होकर रह जाएँगें।

यहाँ यथार्थवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत अयथार्थवादी शिल्प के औचित्य का प्रश्न उठता है। 'समाजवादी यथार्थवाद' के आग्रही कुछ जड़ लेखकों ने काफ्का के ही नहीं बल्कि बर्टोल्ट ब्रेख्त के अयथार्थवादी शिल्प पर एतराज किया है। किंतु मुक्तिबोध ने **कामायनी : एक पुनर्विचार**, की भूमिका में इस विषय पर निर्भ्रांत विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि :"यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी दृष्टिकोण में अंतर है। यह बहुत ही संभव है कि यथार्थवादी शिल्प के विपरीत, जो भाववादी शिल्प है-उस शिल्प के अंतर्गत, जीवन को समझने की दृष्टि यथार्थवादी रही हो।'' इसी संदर्भ में मुक्तिबोध ने जैसा कि कुछ पहले कहा है, "साहित्यिक कलाकार अपनी विधायक कल्पना द्वारा जीवन की पुनर्रचना करता

है। जीवन की यह पुनर्रचना ही कलाकृति बनती है। कला में जीवन की जो पुनर्रचना होती है वह सारत: उस जीवन का प्रतिनिधित्व करती है जो जीवन इस जगत् में वस्तुत: जिया और भोगा जाता है – स्वयं द्वारा तथा अन्यों द्वारा। यह जीवन जब कल्पना द्वारा पुनर्रचित होता है तब उस पुनर्रचित जीवन में तथा वास्तविक जगत-क्षेत्र में जिए और भोगे गए जीवन में गुणात्मक अंतर उत्पन्न हो जाता है। पुनर्रचित जीवन, जिए और भोगे गए जीवन से, सारत:, एक होते हुए भी, स्वरूपत: भिन्न होता है। यदि पुनर्रचित जीवन वास्तविक जीवन से नि:सारत: एक हो, सिर्फ ऊपरी तौर पर एक-सापन रखता हो तो वह पुनर्रचित जीवन निष्फल होता है। पुनर्रचित जीवन और वास्तविक जीवन के बीच जो अलगाव है, उनकी जो पृथक-पृथक स्थिति है, उस अलगाव और पृथक्-पृथक् स्थिति के कारण ही कला के भीतर के सारे मूर्त विधान के बावजूद उस कला में मूलबद्ध रूप से, एक **अमूर्तीकरण** और **सामान्यीकरण** उत्पन्न होता है।'' 'अँधेरे में' कविता के अंतर्गत अपनाए गए स्वप्न-कला के अयथार्थवादी शिल्प में निहित यथार्थवादी दृष्टिकोण की इससे स्पष्ट व्याख्या अनावश्यक है।

निस्संदेह 'अँधेरे में' सामान्य स्वप्न-कथा नहीं, बल्कि दु:स्वप्न का कथालोक है, जिसमें हर चीज़ प्राय: कुछ विकृत, कुछ अन्यथा रूप में दृष्टिगत होती है। किंतु काव्य-नायक की असाधारण मन:स्थिति को देखते हुए यह असंगत नहीं लगता। काव्य-नायक के मन पर परिस्थितियों का इतना गहरा दबाव है कि वह अतिरिक्त भयाक्रांत है। उसने अपने बहुमूल्य भावों और विचारों को उपचेतन के तलघर में छिपा दिया है। एकाकीपन में उसे अपनी ही आकृति भूतों-जैसी दिखाई पड़ती है। उसके मन में हर समय किसी-न-किसी दुर्घटना की आशंका है। हर समय उसके मन में यह खटका लगा हुआ है कि कोई उसका पीछा कर रहा है। वह प्रत्येक दुर्घटना का कारण अपने-आपको मानता है: "मानो मेरे कारण ही लग गया मार्शल-लॉ वह/मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया/मानो मेरे कारण ही दुर्घट हुई यह घटना।'' ऐसी मन:स्थिति में दु:स्वप्नों का आना अस्वाभाविक नहीं।

किंतु ये दु:स्वप्न उन्हीं लोगों को अवास्तविक लग सकते हैं जो बड़ी-से-बड़ी दुर्घटना के अभ्यस्त हो चुके हैं और जिनकी खाल मोटी हो चुकी है। क्या वह मशाल-जुलूस अवास्तविक है जिसमें रात को वही पत्रकार, कवि, आलोचक, मंत्री, उद्योगपति आदि शहर के कुख्यात हत्यारों के साथ शामिल होते हैं, जो दिन में विभिन्न दफ्तरों, कार्यालयों, केंद्रों और घरों में मिलकर षड्यन्त्र करते हैं। एक फासिस्ट खतरे का आभास देनेवाला यह जुलूस कैसे अवास्तविक कहा जा सकता है, जबकि दंगों में इससे भी ज्यादा भयावह अनुभव से हम गुजर चुके हैं? इसी प्रकार सैनिक प्रशासन भी यथार्थ से अधिक अतिरंजित नहीं।

इस माहौल में "भागता मैं दम छोड़/घूम गया कई मोड़" की बेचैनी भी काफी जानी-पहचानी अनुभूति है। इस सामान्य वर्णन के प्रसंग में संभवत: सबसे मार्मिक है अपने कमरे में मृत पड़े हुए उस कलाकार का चित्र, जिसका तृषार्त अंतर मुक्ति का इच्छुक था और जो निरंतर मुक्ति के यत्नों के साथ था, किंतु अचानक झोंक में आकर क्या कर गुज़रा कि संदेहास्पद समझा गया और मारा गया वह वधिकों के हाथों। परंतु सबसे दहशत भरा दृश्य है 'स्क्रीनिंग' का, जब काव्य-नायक को टूटे-से स्टूल पर बिठाकर उसके शीश की हड्डी तोड़ी जा रही है और अस्थि-कवच को निकालकर मस्तक-यंत्र की जाँच की जा रही है। पढ़ते-पढ़ते जार्ज आर्वेल का '1984' याद आ जाता है जो अब 'फैंटेसी' न होकर एक जीती-जागती सच्चाई बन गया है। यदि 'अँधेरे में' कविता में वास्तविकता का केवल यही निषेधात्मक पक्ष होता तो ऐसी अनेक निषेधात्मक कविताओं की तरह 'अँधेरे में' भी एक सपाट रचना होती। कविता का एक दूसरा पक्ष भी है, जिसका संबंध अंधकार के विरूद्ध लड़ने वाली शक्तियों से है। कुछ लोगों के लिए यह एक किंवदंती मात्र है और वे उस पर खामोश रहते हैं, किंतु काव्य-नायक की दृष्टि में "यह कथा नहीं है, यह सब सच है।" उल्लेखनीय है कि भयाक्रांत काव्य-नायक के मस्तिष्क में दु:स्वप्नों के साथ जन-क्रांति का भी स्वप्न आता है। यह इच्छा-पूर्ति भी हो सकती है। इसे कुछ लोग वास्तविकता पर आशावादी कल्पना का आरोप भी कह सकते हैं। किंतु देखना यह है कि कविता के अंतर्गत अन्य स्वप्न-चित्रों के समान ही यह स्वप्न-चित्र भी काव्यात्मक मूर्तिमत्ता के साथ चित्रित हुआ है या नहीं? और असंदिग्ध है कि "कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई" की आवृत्तियों के साथ आनेवाला समूचा क्रांति-चित्र कहीं अधिक मूर्त और सजीव है। वैसे, वास्तविकता की जाँच की कसौटी इस स्वप्न के लिए भी वही होगी जो अन्य दु:स्वप्नों के लिए है।

'अँधेरे में' की संरचना की सबसे बड़ी विशेषता है परस्पर विरोधी भावचित्रों का धूप-छाँही मेल, जिसे आचार्य शुक्ल 'विरूद्धों का सामंजस्य' कहते थे। अंधकार की गहरी पटभूमि पर एक आलोक-रेखा खींचकर कालजयी काव्य-कृतित्व का जो प्रतिमान किसी समय निराला की **राम की शक्तिपूजा** ने उपस्थित किया था, 'अँधेरे में' के द्वारा मुक्तिबोध ने उसी तरह की दूसरी काव्य-कृति प्रस्तुत की। 'अँधेरे में' के अंतर्गत सर्वत्र अँधेरा ही नहीं है, बल्कि चमकती हुई रंग-बिरंगी मणियाँ भी हैं; बंदूक और गोली ही नहीं, फूलों के गुच्छे भी हैं; पिशाच-आकृति पुरूष ही नहीं, सकर्मक सत्-चित्-वेदना-भास्कर नए-नए सहचर भी हैं; भय ही नहीं, मानव-करूणा भी है; पीड़ा ही नहीं, आस्था भी है। संपूर्ण कविता के अंधकार के ऊपर अस्तित्व की एक अलौकिक सुगंध परिव्याप्त है:

रात्रि के श्यामल ओस से क्षालित
कोई गुरू-गंभीर महान् अस्तित्व
महकता है लगातार
अँधेरे में पता नहीं चलता
मात्र सुगंध है सब ओर,
पर, उस महक-लहर में
कोई छिपी वेदना, कोई गुप्त चिंता
छटपटा रही है, छटपटा रही है।

अस्तित्व की यह सुगंध वस्तुत: मानवीयता है: कविता के अंतर्गत मानवीय उपस्थिति ही सुगंध के रूप में व्याप्त है। इस उपस्थिति का कारण है कवि का परिप्रेक्ष्य-बोध। उचित परिप्रेक्ष्य के बिना जो परिवेश अन्य अनेक कवियों के लिए अंधकारपूर्ण है, मुक्तिबोध ने उसी में यदि प्रकाश की किरण भी देख ली तो इसलिए कि उनकी दृष्टि भविष्य तक विस्तृत है। यह भविष्य ही आज के परिवेश को सही परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है। इसे काल्पनिक आशावाद कहकर टाला नहीं जा सकता। अस्तित्वहीन होते हुए भी भविष्य वर्तमान को एक अर्थ प्रदान करता है—इतिहास का यह एक विरोधाभास है।

कवि मुक्तिबोध के लिए अस्मिता की खोज व्यक्ति की खोज नहीं बल्कि अभिव्यक्ति की खोज है। एक कवि के नाते उनके लिए परम अभिव्यक्ति ही अस्मिता है। भाषा स्वभावत: इस अभिव्यक्ति का आधार है। 'अँधेरे में' कविता के अंतर्गत जगह-जगह इस काव्यगत अभिव्यक्ति की समस्याएँ भी उठाई गई हैं। जैसे कुछ नाटकों में नाटक के भीतर एक और नाटक होता है, 'अँधेरे में' कविता के अंदर कविता की निजी समस्याओं का निरूपण करती है। इस प्रकार एक स्तर पर यह 'कविता के बारे में कविता ' है। दिमागी 'स्क्रीनिंग' के बाद रिहा होने पर काव्य-नायक नये सिरे से ज़िंदगी शुरू करने का संकल्प करता है। एक ओर साथियों की खोज और दूसरी ओर नये दायित्व के अनुरूप अभिव्यक्ति को सँजोने का प्रयास। वह जमीन पर पड़े चमकीले पत्थरों को चुनता है: लेकिन तुरंत ही उसे उन पत्थरों की अपर्याप्तता का अनुभव होता है:

किंतु, असंतोष मुझको है गहरा,
शब्दाभिव्यक्ति-अभाव का संकेत
काव्य-चमत्कार उतना ही रंगीन
परंतु, ठंडा।

मेरे भी फूल है तेजस्क्रिय, पर
अतिशय शीतल।

इसके बाद यह असंतोष जिस संकल्प का रूप लेता है उसकी झलक इन पंक्तियों में मिल सकती है:

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगें।
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब।
पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार
तब कहीं देखने मिलेंगी बाँहें
जिनमें कि प्रतिपल काँपता रहता
अरूण कमल एक।

स्पष्ट है कि मुक्तिबोध के लिए भाषागत अभिव्यक्ति जीवन की अभिव्यक्ति से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। अभिव्यक्ति के खतरे उठाने का मतलब है मठों और गढ़ों को तोड़ना, साथ ही 'अरूण कमल' के लिए दुर्गम पहाड़ों के पार जाने का जोखम उठाना है। इस प्रक्रिया में मुक्तिबोध ने काव्य-भाषा को एक नया तेवर दिया है,जो नई कविता की सामान्य काव्य-भाषा की तुलना में काफी अनगढ़ और बेडौल लगती है। किंतु इससे केवल यही सिद्ध होता है कि मुक्तिबोध की भाषा काव्यात्मक नहीं है; इससे उसकी 'व्यंजकता' असिद्ध नहीं होती। अंग्रेज़ी में कुछ आलोचकों ने कविता की भाषा के लिए 'पोएटिक' और 'पोएटिकल' दो शब्दों का प्रयोग किया है। अनुकरणशील कवि प्राय: उस 'पोएटिकल' भाषा का प्रयोग करते हैं जो परंपरा से काव्यात्मक भाषा के रूप में प्राप्त होती है। इसके विपरीत सृजनशील कवि परंपरागत काव्यात्मक भाषा के दायरे को तोड़कर अपने नये कथ्य के अनुरूप 'काव्य. भाषा' का निर्माण करता है जो आरंभ में खुरदरी लगते हुए भी अपनी अर्थवत्ता में जानदार होती है। इस दृष्टि से निराला के समान ही मुक्तिबोध की भाषा भी तेजस्क्रिय है। जिस प्रकार 'राम की शक्तिपूजा' में समासबहुला संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के साथ ही बोलचाल की भाषा के टुकड़े पिरोए हुए हैं उसी तरह 'अँधेरे में' भी भाषा के दोनों रूप मिलते हैं। कविता में भाषा कठिन है या सरल, संस्कृतनिष्ठ है या बोलचाल की आदि, प्रश्न अप्रासंगिक हैं। 'अँधेरे में' जैसी नाटकीय कविता में देखना यह है कि भाषा का नाटकीय उपयोग किस रूप में किया गया है और किस हद तक। और कहना न होगा कि 'अँधेरे में' के अंतर्गत संदर्भ-भेद से भाषा की नाटकीय भंगिमाएँ विविध हैं। कहीं सघन बिंबों की माला है तो कहीं ठेठ सपाटबयानी। कहीं "साँवली हवाओं में काल टहलता है"

तो कहीं इस प्रकार के दो टूक कथन:

कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ
वर्तमान समाज चल नहीं सकता।

मुक्तिबोध की भाषा पर अनगढ़ता का आरोप लगाते समय इस बारे में सोच देखना चाहिए कि जिस तिलिस्मी दुनिया की सृष्टि वे कविता में कर ले जाते हैं, वह क्या असमर्थ भाषा में कभी संभव है ? वस्तुत: 'अँधेरे में' का खौफनाक काव्य-संसार समर्थ भाषा की ही सृष्टि है। मुक्तिबोध जब कहते हैं कि 'बिंब फेंकती वेदना नदियाँ' तो वे एक तरह से उस कवि-कल्पना की ओर संकेत करते हैं जो अपनी अजस्र सृजनशीलता में बिंब फेंकती चलती है। वस्तुत: कवि की शक्ति कल्पना के उस वेग और विस्तार से मापी जाती है जिसे अंग्रेज़ी में 'स्वीप ऑफ इमेजिनेशन' कहते हैं; और कहना न होगा कि 'अँधेरे में' की कल्पना-शक्ति अपने समवर्ती समस्त कवियों में सबसे विकट और विस्तृत है इसीलिए वे प्रगीतों के युग में भी महाकाव्यात्मक कल्पना के धनी और नाटकीय प्रतिभा के प्रयोगकर्ता हैं।

वस्तुत: मुक्तिबोध की अभिव्यक्ति की अर्थवत्ता फुटकल शब्द-प्रयोगों से नहीं आँकी जा सकती और न दो-चार बिंबों अथवा भाव-चित्रों से मापी जा सकती है। उनकी अभिव्यक्ति की गारिमा का पता उस विराट बिंब-लोक से चलता है जो 'अँधेरे में'-जैसी महाकाव्यात्मक कविता अपनी समग्रता में प्रस्तुत करती है। इस संदर्भ के द्वारा ही कविता के अंतर्गत आए हुए छोटे-छोटे सामान्य सपाट कथन भी अर्थ-गौरव से पूर्ण लगते हैं। उदाहरण के लिए:

क्या करूँ, किससे कहूँ
कहाँ जाऊँ, दिल्ली या उज्जैन?

जैसी सीधी-सादी उक्ति भी कविता के नाटकीय संदर्भ में आधुनिक मानव की ऐतिहासिक बेचैनी को ध्वनित करती है। 'अँधेरे में' भाषा की ऐसी नाटकीय संभावनाओं के उद्घाटन का अनूठा काव्य-प्रयास है।

'अँधेरे में' मुक्तिबोध के प्रतिनिधि काव्य-संकलन 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की ही अंतिम कविता नहीं, कदाचित् उनकी अंतिम रचना भी है जिससे कवि-कर्म की चरम परिणति भी कहा जा सकता है। कुल मिलाकर इसे यदि नई कविता की भी चरम उपलब्धि कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी।

# 17. सृजनशीलता का संकट रघुवीर सहाय की कविता

डॉ० नित्यानंद तिवारी

रघुवीर सहाय के अधुनातन संग्रह 'लोग भूल गये हैं' में 'कविता' शीर्षक से एक कविता है:

कविता तभी होती है जब विषय से दूर और वस्तु के
निकट होती है
कविता अकेला करती है
और जब हम बहुत तरह के अन्य काम करते हैं तो
उनसे कविता में बाधा इसलिए नहीं पड़ती
कि वे दूसरे प्रकार के काम हैं
बल्कि इसलिए कि वे हमेशा बाध्य करते हैं
कि हम दूसरों के साथ काम करें
जबकि कविता अकेले ही काम करने का
तकाजा करती है।

इन पंक्तियों को पढ़ते समय मुझे जायसी के 'पद्मावत' की वे पंक्तियाँ याद आ गयीं जिनमें उन्होंने अपने विषय और वस्तु को अलग-अलग पहचानने की चर्चा की है। यह याद, जाने संयोगवश आ गयी या इसलिए कि रघुवीर सहाय की कविता में ऐसा कुछ था जिसमें कवि-कर्म की बुनियादी शर्त चीन्हने की कोशिश थी, स्मृति को शायद ज़रूरी बनाने लगती है। जायसी की पंक्तियाँ हैं:

सुना साहि छेंका आई। हिन्दू तुरकहिं भई लराई।
आदि अन्त जासि कथ्था अहै। लिखि भाषा चौपाई कहे।
कवि बियास रस कैंला पूरी। दूरहिं निअर-निअर भा दूरी।

जायसी कहते हैं, "जैसी कथ्था थी, मैंने कह दिया, लेकिन भाषा चौपाई में जब कह दिया तो वह निकटवाले के लिए दूर और दूरवाले के लिए निकट हो गयी यानी जो सिर्फ हिन्दू या सिर्फ तुर्क बना रहा (हिन्दुओं और तुर्कों की लड़ाई कविता का विषय है), वह कविता से बहुत दूर हो गया या कविता उसके लिए बहुत दूर हो गयी और जो हिन्दू और तुर्क से दूर अपने को मनुष्य रूप में पहचानने की योग्यता रख सकता था, उसके लिए कविता बहुत निकट हो गयी।

'कहने' की प्रक्रिया में भाषा और विषय टकराते हैं – एक दूसरे में अन्तर्प्रवेश करते हैं,

'कहने' की प्रक्रिया में भाषा और विषय टकराते हैं – एक दूसरे में अन्तप्रवेश करते हैं, तब वस्तु का निर्माण होता है। इसी टकराहट और अन्तप्रवेश की प्रक्रिया में भाषा और विषय दोनों मुक्त होते हैं और अर्थ के मानवीय तथा सर्जनात्मक विन्यास में संगठित होते हैं। रघुवीर सहाय कवि-कर्म की इस अनिवार्यता को खूब पहचानते हैं। कविता लिखने या 'कहने' को हर जमाने में कवियों ने बड़ी भारी मुसीबत माना है क्योंकि भाषा और विषय को लड़ाना असल में अपने व्यक्तिगत अस्तित्व और समाज को लड़ाना है। व्यक्तिगत स्तर पर सिर्फ जीने की खातिर यह लड़ाई कमोबेश सभी लड़ते हैं, लेकिन कहने के खातिर सिर्फ कवि लड़ते हैं। इस लड़ाई को कहने की ज़रूरत, यथास्थितियों में किसी भी तरह अपनी एक सुरक्षित जगह या तलाश पा लेने से पैदा नहीं होती बल्कि यथास्थितियों को बदलने की बेचैनी से पैदा होती है। वह कविता होती है जो औरों की तरह आराम-चैन से रहने नहीं देती। 'कहने' की इसी अतिशय बेचैनी के कारण कविता, अकेला बनाती है। वे लोग जो समाज में दुखी, शोषित और असहाय हैं और नहीं जानते कि इसके कारण समाज में ही निहित हैं, वे समाज में गर्क हैं। कारण जान लेने पर समाज की प्रभुशक्तियों के सामने अपना अकेलापन उभरने लगेगा। न्याय-अन्याय, समता-विषमता के तात्कालिक और सुदूर स्रोत झलकने लगेंगे। उसका काम अतिशय रूप से बढ़ जायेगा। वे न्याय-अन्याय, समता-विषमता के तात्कालिक प्रसंगों और सुदूर स्रोतों से जुड़ने और तोड़ने में सक्रिय हो उठेंगें यानी कविता जिस तरह से अकेला बनाती है और अकेले ही काम करने का तकाजा करती है, वह जुड़ने और तोड़ने की सक्रियता है। न्याय और समता में चरितार्थ मानवीय अस्मिता और इसके पक्ष या विपक्ष में परम्परागत और तात्कालिक शक्तियों के बीच सहयोग और विरोध का रिश्ता अगर कविता नहीं झलकाती तो वह अकेला (विवेकवान) नहीं बनाती, विषय से दूर वस्तु के निकट नहीं आती, वह विषय और वस्तु में घालमेल नहीं करती है। कविता द्वारा अकेले ही काम करने का तकाजा करना, समूह में गर्क होने के विरूद्ध काम करना है, लेकिन समूह के विरूद्ध काम करना नहीं है। जब हम कविता के अलावा दूसरे काम करते हैं तो वे काम दूसरे होने के कारण कविता की सृजनात्मक प्रकृति पर दबाव नहीं डालते बल्कि वे सामूहिक ढंग से (वैयक्तिक वैशिष्ट्य के बिना) यान्त्रिक स्तर पर काम करने के लिए बाध्य करते हैं। कविता यान्त्रिक ढंग से काम करने का प्रतिरोध करती है। कविता का अकेले काम करने का तकाजा, सर्जनात्मक वैशिष्ट्य को बनाये रखने का तकाजा है। यानी कविता जिस अकेलेपन में ले जाती है वह 'अकेलापन' मानवीय नियति की संकल्पना नहीं है बल्कि व्यक्ति और समूह (समाज) के बीच एक आवश्यक दूरी या अन्तराल है जिसके बिना दोनों अपनी परस्परता खो देते हैं।

यह परस्परता खोना व्यक्ति और समाज दोनों का सिर्फ विषय हो जाना है। लेकिन, व्यक्ति और समाज जब अपने पारस्परिक सम्बन्धों में होते हैं तो वे एक-दूसरे की अपेक्षाओं में पहचाने जाने और काम करने के लिए बाध्य होते हैं। इस तरह से व्यक्ति, समाज का और समाज व्यक्ति का, मौके के मुताबिक इस्तेमाल नहीं कर सकता। व्यक्ति और समाज के अवसरवादी इस्तेमाल के विरुद्ध मानवीय योग्यता को सक्रिय बनाये रखना, वस्तु है। वस्तु, सम्बन्धों की मूर्त प्रक्रिया है जो व्यक्ति और समाज दोनों को अमूर्त संकल्पना में पर्यवसित होने से बचाती है, इसीलिए वह चिन्तन और ध्यान की चीज़ कम और व्यावहारिक क्रिया अधिक है। यानी रघुवीर सहाय की कविता में 'अकेलापन' मानव-जीवन की स्वविषयान्वेषी थीम नहीं है बल्कि परस्परता के अन्वेषण के लिए आधारबिन्दु है।

सब चेहरे सुन्दर हैं पर सबसे सुन्दर है वह चेहरा/जिसे मैंने देर तक चुपके से देखा हो/इतनी देर तक कि मैंने उसमें और उसके जैसे/एक और चेहरे में अन्तर पहचाना हो।

क्या चेहरे और चेहरे के बीच इस अन्तर को पहचान लेने के स्तर पर (और इस अर्थ में) कविता अकेला करती है? क्या यह अन्तर सब चेहरों में से एक चेहरे को चुनकर अलग कर लेता है या सम्बन्धों के भीतर उसे प्रतिफलित होते हुए पाता है? देर तक चुपके से देखना और एक जैसे दो चेहरों के बीच अन्तर को पहचान लेना, सामूहिकता, यान्त्रिकता या सामान्यीकरण से अलग एक मानवीय क्रिया को महत्व देना है। चेहरों की भीड़ और गति में 'देर तक चुपके से देखना' उस अवकाश में होना है जहाँ से चेहरे का अन्तर दूसरों के बीच होते हुए भी पहचान में आ सके। यह अवकाश, सर्जनात्मक समय है, जिसके भीतर कवि को यह पता चलता है कि कोई भी चेहरा अपनी खास विशेषता में तभी हो सकता है जब वह अपने में अन्तर्निहित सम्बन्धों की एक व्यवस्था हो और सम्बन्ध की इस अन्तर्व्यवस्था को ठीक-ठाक तभी पहचाना जा सकता है जब वह अपने से बाहर की बहुत सी चीजों के सम्बन्ध में हो। किन्तु 'मसनद लगाया हुआ व्यक्ति' (जो ज़िन्दगी को आँकड़े में बदलनेवाला ज्ञान हो या किसी भी प्रकार शक्ति तथा सत्ता पर काबिज रहने में माहिर प्रतिमानवीय शक्ति का प्रतिनिधि हो) पहचानने की इस प्रक्रिया को गड्डमड्ड करता है। किन्तु वही एक नहीं है, इस अपराध में कवि अपने को भी शामिल करता है (दिखूँगा या तो/रिरियाता हुआ/या गरजता हुआ/किसी को पुचकारता/किसी को बरजाता हुआ/अपने से लग सिरजता हुआ कुछ अनाथ/मूल्यों को/नहीं मैं दिखूँगा/)। इसमें जनता भी शामिल है, जो अहंकारी शासन को बदलने के बदले अपने को बदलने की सुरक्षित,

कायर किन्तु फायदेमन्द आदत में गर्क हो गयी है। जनता की यह आदत स्वतन्त्रता-प्राप्ति के कुछ वर्षों बाद की विकसित एक सर्वग्रासी चारित्रिक विशेषता है। बनिया, ब्राह्मण और कायस्थ बने रहते हुए ही बौद्धिक कार्यों में निष्णात प्रतिभाएँ आधुनिक हो जाती हैं। उसका चरित्र, रूढ़िबद्ध स्वार्थ-चतुर और अवसरवादी हो गया है और उसकी बुद्धि घोर सैद्धांतिक स्वार्थ-चतुर चरित्र और सैद्धांतिक बुद्धि उस सर्जनात्मक अवकाश में आदमी (या कवि) के होने को कठिन से कठिनतर बनाती जा रही है। जो कविता, या रचनाकार उस अवकाश में से जीवन, व्यक्ति और समाज को चीन्हने के विरल क्षण में होता है, उसके भीतर वास्तविकता और प्रतिवास्तविकता के सम्बन्ध, प्रति-सम्बन्ध झलक उठते हैं। वह आदमी को एक बहुत खास स्थिति में सही बिन्दु पर देख लेता है जहाँ वह निपट अकेला है और चारों ओर से घिरा है:

निर्धन जनता का शोषण है/कहकर आप हँसे/लोकतन्त्र का अन्तिम क्षण है/कहकर आप हँसे/सबके सब हैं भ्रष्टाचारी/कहकर आप हँसे/चारों ओर बड़ी लाचारी/कहकर आप हँसे/कितने आप सुरक्षित होंगें/मैं सोचने लगा/सहसा मुझे अकेला पाकर/फिर से आप हँसे।

जनता का शोषण, लोकतन्त्र का अन्त, भ्रष्टाचार और लाचारी बहुत अहम् मसले हैं, लेकिन वे जिस शैली में कहे जा रहे हैं, वह शब्दों को अर्थ के विरूद्ध करके उन संकल्पनाओं को बेमतलब बना देती है–(बेहतर है कि जब कोई बात करो तब हँसो/ताकि किसी बात का कोई मतलब न रहे)। इन शब्दों के ऊपर तैरती हुई चिन्ता और हँसी के भीतर से फूटती हुई बेफिक्री और सुरक्षा के बीच कविता के 'मैं' का सोचने लगना, सहसा अकेला हो जाना है–जो निरर्थ किये जा रहे शब्दों से भरी भाषायी दुनिया में शब्दों के अर्थ की चिन्ता करता है। कविता का 'आप' 'मैं' की इस हरकत को भाँपता है और 'फिर से' ('फिर से' पर बल) हँसता है, फिर से हँसी जानेवाली हँसी, दूसरी है जो सिर्फ ताक़त की क्रूरता से पैदा हुई है। ध्यान रखने की चीज़ यह है कि यह 'मैं' चारों ओर से घिरा हुआ अकेला है। इन घेरनेवाली शक्तियों से लड़े बिना और तोड़े बिना उसके अकेलेपन की कोई मानवीय चरितार्थता नहीं है। यह अकेलापन दार्शनिक नहीं है जिसके भीतर मानवीय नियति की चरम सार्थकता निहित है। इसकी प्रकृति ऐतिहासिक है जो एकांत चिन्तनधर्मी होकर नहीं, ठोस स्थितियों के भीतर संघर्षधर्मी होकर सार्थक हो सकता है।

यह लक्ष्य करने की बात है कि रघुवीर सहाय अपनी कविता में कही भी स्थितियों और वस्तुओं के भीतर से उभरनेवाली निर्देशक संभावनाओं को चीजों और स्थितियों से इतनी

दूर नहीं ले जाते जहाँ उनके रिश्ते टूट जायें। यानी कविता और वस्तुएँ एक-दूसरे की सीमाओं से लड़ते-लड़ते घनिष्ठ परस्परता में एक-दूसरे का विस्तार करती हैं। यही कारण है कि रघुवीर सहाय जिस अकेलेपन का साक्षात्कार करते/कराते हैं, वह किसी भी प्रकार के सैद्धान्तिक आग्रह की अपेक्षा मानवीय व्यवहार के परिस्थितिगत पेंचों के साथ जीवन को समग्रत: एक जटिल ऐतिहासिक संघात के रूप में प्रस्तावित करना है। परिस्थिति में निहित वस्तुगत वास्तविकता का दबाव रघुवीर सहाय की कविता में इतना अधिक है कि उनका बंधन तोड़कर मानवीय अनुभव की तथाकथित दार्शनिक और बौद्धिक ऊँचाइयों, सूक्ष्मताओं और गहनताओं के स्वतंत्र प्रदेश में प्रवेश कर जाने की सुविधा उसे नहीं मिल पाती।

रघुवीर सहाय को अपने कवि-कर्म के बीच अनुभूति के तत्त्व दार्शनिक स्वरूप में रुचि नहीं है। उनकी रुचि अनुभूति की कथा में है:

कई कोठरियाँ थी कतार में/उनमें किसी में एक औरत ले जायी गयी/थोड़ी देर बाद उसका रोना सुनायी दिया/उस रोने से हमें जाननी थी एक पूरी कथा/उसके बचपन से जवानी तक की कथा।

इस कविता का शीर्षक है 'औरत की ज़िन्दगी', जिसमें घटना है और घटना में कथा है। घटना जब कथा बनती है तब वह अपने घटने के कई प्रसंगों के अंत:सम्बन्धों में विकसित होती है। औरत की ज़िन्दगी में रोने के जितने कारण और प्रसंग हो सकते हैं, उनकी ओर कविता अभिमुख करती है और औरत के प्रति हमारे विचारों और भावों के आयतन को मानवीय अर्थ में बढ़ाती और गहरा करती है। कविता अपनी वस्तु के ठोस संदर्भों से लगातार संवाद की स्थिति में होने के कारण ऐसा कर पाती है। औरत के दुख के तात्कालिक प्रसंग, कारण और अधिक-से-अधिक उस दुख का इतिहास कविता की सीमा है। यह सीमा सबसे पहला काम तो यह करती है कि इस दुख के सामान्यीकरण की अनुमति बिल्कुल नहीं देती और अर्थ अपने प्रसंग और इतिहास की सीमाओं में कसा हुआ अत्यंत सक्रिय और भरपूर बना रहता है।

दूसरा काम यह करती है कि भावना और विचार को एक-दूसरे के आमने-सामने करके परस्पर निर्भरता के साथ उन्हें ढहते-बनते रहने की गतिशीलता प्रदान करती है। भावना और विचार, दोनों एक-दूसरे को तोड़ते हुए एक संतुलित संवेदन बिन्दु पर थमे रहते हैं और अनुभव की व्याख्या तथा प्रतिपादन के लिए कविता को उत्साहित नहीं करते। यानी रघुवीर सहाय की कविता अनुभव की कथा के दर्शन में न जाकर अनुभव में प्रतिफलित होती है। मुझे कुछ ऐसा लगता है कि जिस तरह प्रेमचन्द ने घटना को वास्तविकता की

तरह पहचानकर उन्हें आधुनिक अर्थ में जीवन की सम्भावनाओं और अर्थ का वहन करने में सक्षम बनाया, सम्भवत: कुछ उसी उद्देश्य से रघुवीर सहाय भी घटनाओं को सजीव पाकर काव्यार्थ को योग्य और सक्रिय बनाना चाहते हैं। घटनाओं का अपना आन्तरिक विधान जीवन्त होता है और अपने उपयोग किये जाने की सम्भावनाओं को वह स्वयं में धारण करता है। घटना में निहित इन गतिशील वस्तुगत सम्भावनाओं को पहचाननेवाला रचनाकार अपने दृष्टिकोण और विचारधारा के लिए उन्हें सिर्फ़ इस्तेमाल करने की स्वतन्त्रता हासिल नहीं कर सकता। रघुवीर सहाय ने 'लिखने का कारण' में लिखा : "कविता वस्तुओं के अन्दर से निकले, वस्तुओं को छूकर न निकल जाये" ××× 'लेखक को यह अनुभव करना चाहिए कि शैली में किया हुआ कोई भी प्रयोग विचारवस्तु के दिलोदिमाग में उतरने के तरीके पर निर्भर रहेगा और ज़रूरी है कि वह अपनी अनुभूति को उसी प्रकार सुधारे ताकि कविता भी वैसी जानदार हो सके जैसाकि वे वास्तविकताएँ हैं, जिनसे वह कविता की प्रेरणा लेता है।"

कविता वस्तुओं के अन्दर से निकले। वस्तुओं को छूकर न निकल जाये का स्पष्ट तात्पर्य है कि वस्तुओं और घटनाओं को बहाना न बनाया जाये। वे अपने अन्तर्विरोधों-अन्त:सम्बन्ध ा में सजीव वास्तविकता की तरह ग्रहण की जायें अर्थात् उनकी अपनी विशिष्टता को प्रतीक, बिम्ब और सामान्यीकृत सूत्रों के लिए उपयोग में न लाया जाये। किन्तु उनमें अन्तर्निहित और विकसित कथा की अनदेखी न की जाये। कथा का सीधा अर्थ है उन वस्तुओं और घटनाओं के भीतर और बाहर के सम्बन्धों का जाल, जो उन्हें सजीव बनाता है और उनकी विशिष्ट सत्ता को बनाये रखते हुए बाहरी शक्तियों और सत्ताओं के साथ सम्बन्ध की यथास्थितिपरक और गतिशील पहलुओं के विरोध या पक्ष में विचारों और भावों को संगठित करता है। प्राय: ही यह अनुभव किया जा सकता है कि रघुवीर सहाय की कविताएँ बहुत कुछ परिभाषित साहित्यिक अर्थ में साहित्यिक कविताएँ नहीं हैं। वे वस्तु और घटना की जीवंत वास्तविकता के पक्ष में कविता न हो पाने का खतरा उठाकर भी साहित्यिक और प्रचलित काव्य-रीतियों को स्वीकार नहीं करतीं। मसलन 'बड़ी हो रही है लड़की' कविता से कुछ पंक्तियाँ हैं:

जब वह कुछ कहती है/उसकी आवाज़ में/एक कोई चीज/मुझे एकाएक औरत की आवाज लगती है जो/अपमान बड़े होने पर सहेगी/वह बड़ी होगी/डरी और दुबली रहेगी/और मैं न होऊँगा/वे किताबें वे उम्मीदें न होंगी/जो उसके बचपन में थीं/कविता न होगी, साहस न होगा/एक और ही युग होगा जिसमें ताकत ही ताकत होगी/और चीख़ न होगी।

इस लड़की को या सेब बेचनेवाले को या रामदास को मात्र साहित्यिक बिम्ब और प्रतीक कौन मानेगा? यह लड़की एक ठोस वास्तविकता है जिसकी आवाज़ में वह चीज़ दिखायी पड़ती है जो औरत होकर अपमान के रूप में वह सहेगी। इस लड़की की आवाज़ में कुछ लगना और पिछली औरत की रुलाई, दोनों में वास्तविकता की घटना — संकुल कथा है जो केवल तात्कालिक परिस्थितियों के सम्बन्ध में औरत की ज़िन्दगी और लड़की को नहीं देख लेती वरन उनके साथ सम्बन्धों के पूरे इतिहास में भी रखकर कही जाती है। रघुवीर सहाय कहने के एक खास ढब को विकसित करते हैं जो उन वस्तुओं और घटनाओं में निहित सम्बन्धों के विन्यास से पाया गया है। इस कविता की हर पंक्ति वास्तविकता के घनिष्ठ सम्पर्क में होकर उसके साथ संवाद करती है। इस संवाद के भीतर कविता अपनी विचारवस्तु और सौन्दर्यात्मक सार्थकता को अर्जित करती है। जब वह कुछ कहती है तो उसकी आवाज़ के भीतर, बड़ी होने पर सहे जानेवाली अपमान की आहट सुन पड़ती है। वह अपमान, डर, दुर्बलता के साथ—साथ बड़ी होती जायेगी और चारों ओर से सिर्फ ताकत से घिर जायेगी। लगता है, लड़की का बड़ा होना और अपमान, डर, दुर्बलता का बढ़ते जाना एक ही प्रक्रिया है और उसका ताकत से घिर जाना भी उसी स्रोत से सम्बन्धित है यानी अपमान, डर, दुर्बलता और जकड़नेवाले क्रूर ताकत का केन्द्र एक ही है जो इस लड़की की आवाज़ में कहीं बहुत भीतर धँसा है। वह लड़की दहशत की वह जीवित वास्तविकता और व्याकुल अनुभूति हो जाती है जिसे सिर्फ कविता लिखकर निपटा देना असम्भव है। रघुवीर सहाय अपने कवि-कर्म के भीतर आरम्भ से ही चीजों को कविता में निपटा देने की अपर्याप्तता महसूस करते रहे हैं और आसान तथा कवि के स्टेटस को बनाये रखनेवाले उस तथाकथित गम्भीर और सूक्ष्म रास्ते को तो सबसे पहले इन्कार करते हैं और लगातार कठिनतर किन्तु सही रास्ते की ओर बढ़ते हैं।

"इस स्थिति में सबसे आसान यह है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की अभी तक बची सुविधा का फायदा उठाकर मैं अपने लिए बची रहने की निजी, बिल्कुल अहस्तांतरणीय रियाएत ले लूँ। उससे कुछ मुश्किल यह है कि मैं यह रियायत अस्वीकार करूँ और उनके आसरे ज़िन्दा रहूँ जो इन्सान के लिए दूसरे हथियारों से लड़ते हैं—साहित्येतर हथियारों से। सबसे मुश्किल और एक ही सही रास्ता है कि मैं सब सेनाओं में लड़ूँ—किसी में ढाल सहित, किसी में निष्कवच होकर—मगर अपने को अन्त में मरने सिर्फ अपने ही मोर्चे पर दूँ—अपने भाषा के, शिल्प के और उस दोतरफा जिम्मेदारी के मोर्चे पर जिसे साहित्य कहते हैं।" (-आत्महत्या के विरूद्ध : वक्तव्य से)। ज़ाहिर है, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की बची सुविधा का फायदा उठाकर जीनेवाला व्यक्ति या रचनाकार लड़की के भीतर की इस दहशत को

पहचान ही नहीं पायेगा और पहचान लेने के बाद व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को स्वीकार नहीं कर पायेगा। तब रघुवीर सहाय यह बिल्कुल ठीक कहते हैं कि एक ही रास्ता है कि सभी मोर्चों पर एक साथ लड़ा जाये। कविता भी उनमें से एक है और कविता के मोर्चे पर लड़ी जानेवाली लड़ाई दूसरे मोर्चों पर चल रही लड़ाई के साथ ही है। और वे परस्पर पूरक हैं यानी नागरिक और कवि के दायित्व एक-दूसरे के बिना निभाये नहीं जा सकते। नागरिक मात्र तो संभवत: कुछ दूर तक निभा भी ले, कवि नहीं निभा सकता। यहाँ अज्ञेय की कुछ पंक्तियों को उद्धृत करना काफी प्रासांगिक हो सकता है:

—"लेखक होने से मुझे सामाजिक उत्तरदायित्व से छुट्टी नहीं मिल जाती क्योंकि लेखक हो जाने पर ऐसा नहीं है कि मैं नागरिक नहीं रहता। दूसरी ओर कवि होने का यह अर्थ भी नहीं है कि मैं कविता के लिए भी समाज के प्रति उत्तरदायित्व मानने को बाध्य हूँ। ....कवि हूँ ; यह संयोग है, मेरा परम सौभाग्य है। पर नागरिक हूँ, यह मेरा कर्त्तव्य है। कवि न भी होता तो भी मेरे नागरिक कर्त्तव्य बने रहते। विशेष सौभाग्यवान नागरिक हूँ तो ऐसे उपाय खोज सकता हूँ जिससे मेरा सौभाग्य मेरे समाज को भी समृद्धतर बनाये। यों मैं दुगुना भाग्यवान हूँगा, दुगुना अच्छा नागरिक भी। अगर ऐसा कुछ है जो समाज को मेरी देन हो सकती है, तो यही। नहीं तो मेरा नागरिक कर्त्तव्य—अपने समाज के प्रति दायित्व—तो है ही। मेरा कवि-कर्त्तव्य भी है—अपने सौभाग्य के प्रति दायित्व।' (-भवंती)।

जिस रियायत को रघुवीर सहाय इनकार करते हैं, उसे अज्ञेयजी अपने कवि होने का परम सौभाग्य मानते हैं। जिसे रघुवीर सहाय साहित्यकार होने के नाते अपनी अनिवार्य दोतरफा जिम्मेदारी मानते हैं, उसे अज्ञेयजी साफ-साफ कह देते हैं कि कवि होने का मतलब यह नहीं कि मैं समाज के प्रति उत्तरदायित्व मानने को बाध्य हूँ। अज्ञेयजी के अनुसार कवि का दायित्व अपने सौभाग्य के प्रति है। सौभाग्य क्या हो सकता है? सृजन ! किसका सृजन? कवि होने के सौभाग्य का ! स्पष्ट है, यह सौभाग्य व्यक्ति की परम स्वाधीनता है जिसका साक्षात्कार करते हुए यदि समाज को समृद्धतर बनाने का उपाय भी खोजा जा सके तो वह कवि और समाज दोनों का अतिरिक्त लाभ है। अन्यथा नागरिक का कर्तव्य निभाते हुए समाज का और सौभाग्य को निभाते हुए कवि का अलग-अलग दायित्व तो पूरा किया ही जा रहा है। अज्ञेय को अपने कवि होने के स्टेटस का गुमान है, दूसरी ओर रघुवीर सहाय को दोहरी जिम्मेदारी निभाने की तकलीफ !

यानी रघुवीर सहाय उस अर्थ में आत्मचेतन कवि नहीं हैं जिस अर्थ में अज्ञेय जी। अज्ञेयजी की आत्मचेतना (आत्मविह्वलता) का एक उदाहरण आवश्यक होगा। 'कितनी नावों में

कितनी बार' में एक कविता है 'सवेरे उठा तो धूप खिली थी।' इसमें कवि का आत्मचेता 'मैं' 'धूप से गरमाई, चिड़िया से मिठास, घास से हरियाली, हवा से खुलापन, आकाश से असीमता उधार माँगता है। सब देते हैं। 'मैं' जीता है। लेकिन, रात के अँधेरे में कोई अनदेखा अरूप, विविध अनुभवों से समृद्ध 'मैं' से थोड़ा-सा प्यार उधार माँगता है। वह यह भी कहता है कि मैं उसे 'सौगुने सूद के साथ लौटाऊँगा।' किन्तु 'मैं' के अनुभव से परे था, प्यार का उधार दिया जाना। अरूप यह भी कहता है, 'यह अकेलापन, यह अकुलाहट, यह असमंजस, अचकचाहट, आर्त अनुभव, यह खोज, यह द्वैत..... यही सब चीजें तो प्यार हैं'। लेकिन, इसके बावजूद, यह आत्मचेता 'मैं' कितने आत्मलीन ढंग से तटस्थ हो जाता है, देखने लायक है:

उसने यह कहा/पर रात के घुप अँधेरे में/मैं सहमा हुआ चुप रहा; अभी तक मौन हूँ/अनदेखे अरूप को/उधार देते मैं डरता हूँ/क्या जाने यह याचक कौन है?

क्या बिना अपने को कुछ भी दिये, उसे पहचाना जा सकता है? यह संवाद की स्थिति नहीं है। और संवाद नहीं है तो एक स्वविषयान्वेषी आत्मस्थिति मात्र है जो जीवन की मौलिक और एकांत सत्ता का स्रोत और सार्थकता है। जहाँ अज्ञेयजी के लिए यह मौन, यह संवादहीन शुद्ध सत्ता में होना, परम सौभाग्य, शक्ति और सार्थकता है, वहाँ रघुवीर सहाय के लिए यह बाँझ और नपुंसक स्थिति है। जहाँ अज्ञेयजी अपने सौभाग्य को निभाते हुए उसके जाँचे जाने की कसौटी समाज को ही रचना के लिए अतिरिक्त मानते हैं वहाँ रघुवीर सहाय का कहना है, "आज के कवि का अपनी परीक्षा के लिए समाज के सामने आना, विशेष रूप से तब जबकि उसे समाज में अपने अस्तित्व को अर्थात् समाज से अपने रिश्ते को समझने में संशय हो रहा हो, उसे अहं के रचनाविरोधी खतरे से बचायेगा।'' (-लोग भूल गये हैं : निवेदन)। स्पष्ट है, रघुवीर सहाय के लिए यह आत्मलीना आत्मविद्ध चेतना, अहं का रचना विरोधी खतरा है। वह यह भी स्वीकार करते हैं कि संघर्ष की रणनीतियाँ उन्हीं के आदर्शों की पूर्ति करती दिखायी दे रही हैं, जिनके विरुद्ध संघर्ष क्योंकि संघर्ष का आधार नये मानवीय रिश्तों की खोज नहीं रह गया।'' फि. भी, वह रचने के एकांत के बीच से उठकर भी अपने आंतरिक संघर्ष की जाँच के लिए अपनी रचना को उन लोगों के सामने लाना ज़रूरी मानते हैं जो लोग न्याय और बराबरी के आदर्श को नहीं भूलते। चाहे कोई अद्वितीयतावादी विचारधारा हो या समाज या समाजवादी विचारधारा, जो दु:ख को जज्ब करनेवाले देह मन आत्मा को उसकी अपनी विशिष्टता में धारण करने की अनिवार्य मानवीय अनुमति के प्रति पर्याप्त अभिमुख नहीं है-वह बहुत-सी कला है (पाखंड है)। यह पाखंड जहाँ भी होगा, वहाँ बहुत कला (प्रपंच) होगी। यानी

आत्मबिद्ध अद्वितीयतावादी और समाजबिद्ध समाजवादी, दोनों ही अपने स्वार्थ के लिए आदमी के दु:ख का इस्तेमाल प्रपंची ढंग से कर सकते हैं :

अद्वितीय हर एक है मनुष्य/और उसका अधिकार अद्वितीय होने का/छीनकर जो खुद को अद्वितीय कहते हैं/उनकी रचनाएँ हों या उनके हों विचार/पीड़ा के एक रस भीने अवलेइ में लपेटकर/परसे जाते हैं तो उसे कला कहते हैं/कला और क्या है सिवाय इस देह मन आत्मा के/बाकी समाज है/जिसको हम जानकर समझ-कर/बताते हैं औरों को, वे हमें बताते हैं ..... वे जिन तकलीफों को जानकर उनका वर्णन नहीं करते हैं, वही है कला उनकी/कम-से-कम कला है वह/कला बदल सकती है क्या समाज?/नहीं, जहाँ बहुत कला होगी, परिवर्तन नहीं होगा।

रघुवीर सहाय जिस देह मन आत्मा को दु:ख जज्ब करते हुए देखते हैं, वह अपनी आत्मा के अद्वितीय रूप का साक्षात्कार नहीं है बल्कि 'वर्तमान सम्बन्धों और उन सम्बन्धों के इतिहास का संघात है।' यानी उसकी विशिष्टता ऐतिहासिक सत्ता है। उसकी विशिष्टता का आन्तरिक सार सापेक्ष रूप से स्वायत्त है--वह मौलिक सत्ता नहीं है और न समाज स्वयंसिद्ध प्राकृतिक सत्ता। दोनों इतिहास की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया में निर्मित वैयक्तिक और संस्थागत सत्ताएँ हैं जिनके बीच मौलिक द्वंद्व नहीं, डायलेक्टिकल सम्बन्ध होता है। वे एक-दूसरे की सापेक्षता में परिवर्तित होते हुए मानवीय बनते रहते हैं और इसी प्रक्रिया को धारण करते हुए कवि रचने योग्य बना रहता है। रघुवीर सहाय अपने को रचने योग्य बनाये रखने पर बल देते हैं जिसका तात्पर्य है व्यक्ति और समाज के रिश्तों को ऐतिहासिक अर्थ और प्रक्रिया में (चरम अर्थ और 'शाश्वत वर्तमान' में नहीं) जीवित और सक्रिय बनाये रखना। 'सीढ़ियों पर धूप में' जों माँ, गौरैया, बसंत की धूप, और पानी के संस्मरण के बारे में लिखी गयी कविताएँ हैं-- जिन्हें सहज की संज्ञा दी गयी है, वस्तुत: वे भी अपने ऐतिहासिक सन्दर्भ और सार के कारण अर्थ की अतिरिक्त चमक से उद्भासित होकर कविताएँ बन पाती हैं।

उन कविताओं की संवेदना तक पहुँचने के लिए चीजों और आदमी के बीच रिश्तों की ऐतिहासिक प्रक्रिया अधिक समर्थ है। 'जो विराट इतिहास की सक्रिय शक्तियों में' 'अपने को समाहित करते हुए' 'अपने व्यक्ति की झूठी आत्मसत्ता नहीं त्याग सकता' वह 'जीवनाभिलाषी की' सर्जनात्मक 'व्यथा' (लिखने का कारण, पृ०58) से न परिचित हो सकता है, न उसका परिचय करा सकता है। यानी रघुवीर सहाय आत्मबिद्व कवि नहीं है वे इतिहास की सक्रिय शक्तियों के भीतर व्यक्ति की झूठी आत्मसत्ता को समाहित करते हुए

सच्ची (अर्थात् ऐतिहासिक प्रक्रिया में प्रतिफलित) आत्मवस्तु को अर्जित करते हैं जिसका स्वरूप और ढाँचा हमेशा गतिशील परिवर्तन के भीतर टूटता-बनता रहता है:

**यानी** कि आप ही देखें कि जो कवि नहीं हैं/अपनी एक मूर्ति बनाता हूँ और ढहाता हूँ/और आप कहते हैं कविता की है/क्या मुझे दूसरों की तोड़ने की फुरसत है?

इस मूर्ति का बनाना और ढहाना वस्तुत: आदमी की आज़ादी और सत्ता के बीच रिश्ते को खोजते और बनाते-ढहाते रहने का अनवरत तनाव है। रघुवीर सहाय जिसे आदमी की आज़ादी कहते हैं, वस्तुत: वह वैयक्तिक सत्ता है। असल में मानवीय आज़ादी तो उस तनावबिन्दु पर होती है जहाँ वैयक्तिक सत्ता और राज्य तथा समाज की नियामक सत्ता के बीच तनाव पूरा-पूरा उभर पाता है। यही दो अर्थ हैं जिनको मिलाकर एक तीसरा स्वच्छन्द अर्थ कवि देता है, जिसकी संज्ञा (नाम)स्वाधीनता है। यह स्वाधीनता मानवीय विकास में अपने उपयोग की आज्ञा तो स्वेच्छया देती है, लेकिन शोषण की कतई नहीं। रघुवीर सहाय की स्वाधीनता का अर्थ सम्भवत: यह है कि व्यक्ति समाज और सत्ता के साथ संपूर्ण मानवीय विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया में अपनी भूमिका निभाने के सही ऐतिहासिक बिन्दु पर बना रहे/बनता चल सके। 'सीढ़ियों पर धूप में' से लेकर 'लोग भूल गये हैं' तक में रघुवीर सहाय की कविता की यही मूलभूत चिन्ता है।

रघुवीर सहाय एक विरल कवि हैं जो हर ऐतिहासिक दौर में अपने कवि और कविता की गतिशील ऐतिहासिक भूमिका पहचानकर ही उसे प्रकाशित करने की आवश्यकता महसूस करते हैं। रघुवीर सहाय के कविता-संग्रहों में इस ऐतिहासिक विकास-क्रम को सबने पहचाना है। 'शक्ति और सुन्दरता से भरी करुणा', 'अपना रूप खोती हुई दुनिया में व्यापती बेहूदगी' 'दहशत या आतंक' की विशिष्ट काव्य-वस्तुएँ उनकी कविता में पहचानी गयी हैं। बिलकुल नये संग्रह 'लोग भूल गये हैं' में एक भयानक चिन्ता है। लोग उस 'डर' को भूल गये हैं जिसका कुछ उपाय था और एक कारणहीन 'डर' की गिरफ्त में आ चुके हैं। लोग ऊब और भूतही मुस्कान मिलाकर खुश और बेफिक्र होते जा रहे हैं: उन्होंने दु:ख दूर करने का काम समय को सौंप दिया है!

समय ही करेगा दु:ख दूर, यों कहते ही आने वाला समय कितने अन्यायों के बीच से लदा हुआ इस दु:ख को काटेगा !

अन्याय के शिकार के लिए मन में समाज की जगह नहीं होगी तो समय के हाथों अपने को सौंपना आत्महत्या करना है। कवि भूल गये लोगों से उन्हें अपनी भूमिका के प्रति सचेत

बन रहने के लिए बेचैनी से उनसे बहस करने की जिद को बनाये रखना चाहता है। कवि उनके सामने बार-बार यह दृश्य लाता है :

एक घनी नफरत और साधारण लोगों से बदले की भावना/इन तमाम बूचे उटंगे मकानों को बनाती चली जाती है/यह संस्कृति इसी तरह के शहर गढ़ेगी।

घनी नफरत और बदले की भावना से हासिल की गयी ताकत ने एक ऐसी दंभी ऊंचाई और संस्कृति का निर्माण कर लिया है जिसमें आदमी हर क्षण छोटा और खत्म होता जा रहा है। यह दहशत, आतंक और त्रासदी है जिसका मुकाबला करने के लिए रघुवीर सहाय संशय और कर्म को जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार करते हैं।

लेकिन रघुवीर सहाय की कविता की एक खास समस्या यह है, जो 'हँसो-हँसो जल्दी हँसो' संग्रह से पैदा हो गयी थी कि वह संशय और कर्म—जिसे वह एक तरह से जीवन-दर्शन मानते हैं, वह कितनी दूर तक वैयक्तिक और कहाँ से सामाजिक होकर मानवीय अर्थ में प्रतिफलित हो पाता है? उन्होंने अशोक वाजपेयी को उत्तर देते हुए कहा है: ".....शुरू ज़िन्दगी में हम समझते रहते हैं कि हम अपनी हिम्मत और इच्छा से बहुत-सी चीज़ें कर लेंगे।.....जब हम उनको करने लगते हैं तो धीरे-धीरे एक वक्त आता है कि हमको कभी-कभी मालूम होता है कि (यहाँ ज़िन्दगी से मतलब ज़िन्दगी के बरस नहीं, अनुभवों के बरस हो सकते हैं) जिन शारीरिक या मानसिक चीजों के बारे में पहले आपने हिम्मत की थी, उनको लेकर तमाम ऐसी ताकतें काम कर रही हैं जो आपकी कोशिशों को खत्म कर देती हैं। एक जगह ऐसी आती है जहाँ कि दहशत ज़िन्दगी का एक अनिवार्य अनुभव बन जाती है।'' (लिखने का कारण, पृ० 155)। लेकिन, इसी के साथ, उन्होंने उसी बातचीत में कहा है: ".....'बस, इतना काफी है कि आपकी पक्षधरता साफ रहे। आप समाज को बदलना चाहते हैं, यह साफ रहे और उसकी बराबरी के पक्ष में बदलना चाहते हैं, यह भी साफ रहे। लेकिन, बाकी शर्तें संदिग्ध हैं और बार-बार जानने की हैं।'' (वही , पृ० 158)। इतना कुछ साफ करने पर यह भी साफ होता है कि दहशत के इस अनिवार्य अनुभव को भी बदलना है। दहशत ही असल ज़िन्दगी है। यह गलत है; इस दहशत को पैदा करनेवाली कारक शक्तियों की भी पहचान है। फिर भी, क्या कारण है कि यह दहशत का अनुभव घनीभूत होता चला जाता है और चीजों को बदलने का उद्देश्य स्पष्ट होते हुए भी कर्म को जीवन-दर्शन मानते हुए भी चीज़ें नहीं बदल रही हैं? संभवत: इसका कारण यह हो कि कर्म, जाने-अनजाने मात्र वैयक्तिक भूमिका में होकर ही सच्चा लगता हो और सामाजिक भूमिका पर प्रतिफलित होते ही उसमें संशय और निहितार्थी चरित्र उभर जाता हो। ऐसा होता है, लेकिन मात्र इतने से कर्म की सामाजिक भूमिका के प्रति

आवश्यकता से अधिक चौकन्नापन रचने की योग्यता को क्षति पहुँचाता है। यह इतिहास-सिद्ध सत्य है कि कर्म सामाजिक भूमिका में होकर ही परिवर्तन ला पाता है। कर्म की सामाजिक भूमिका एक अनुशासन, पद्धति, तर्क और विचार सरणि को विकसित किये बिना प्रतिफलित नहीं हो सकती। मनुष्य ने जितनी संस्थाएँ विकसित की हैं, वे उसमें निहित योग्यता और कर्म को अधिक विस्तृत करने के उद्देश्य से की गयी हैं। उन्होंने ऐसा किया भी है। दूसरी ओर मनुष्य की योग्यता को उसने कुंठित भी किया है, वह उसका अंतर्विरोध है। चौकन्ना इस अंतर्विरोध के प्रति होना है ताकि उसकी संस्थागत सत्ता मनुष्य का शोषण न कर सके। कर्म की सामजिक भूमिका पर बल देनेवाली विचारधारा के प्रति अतिरिक्त परहेज मानवीय अनुभव को मुक्त नहीं कर सकता।

रघुवीर सहाय ने अपनी कविताओं में यथार्थ की ऐसी तमाम तस्वीरें दी हैं जो हमारे जीवन-बोध और काव्य-बोध् को बहुत समृद्ध करती हैं और वे अलग-अलग इतनी अधिक हैं कि जीवन और अनुभव की विविधता को सार्थक और ठोस धारणा के रूप में प्रस्तावित करती हैं। लेकिन, अक्सर ऐसा भी अनुभव किया जाता है कि वे चमककर लुप्त भी हो जाती हैं। वे 'कहने के तरीके' में खोने-सी लगती हैं। बहुत बार शब्दों को खास ढंग से कविता में रखने, स्वर, मुद्रा, लय आदि के द्वारा कुछ बनाने की वे चेष्टा करते लगते हैं। उनके पास वस्तुएँ हैं और शब्द हैं और इनकी समस्या को वे कुछ-कुछ इस तरह हल करते लगते हैं जैसे नये विकसित प्रबंध-विज्ञान के विद्वान 'सोशल इंजीनियर' के रूप में समाज की तमाम समस्याओं को हल करने में तत्परता दिखाते हैं। यही कारण है कि उनकी लम्बी कविताओं में खास कर बहुत जगहों पर शब्द अपने शाब्दिक करतब में प्रकट होते रहते हैं। जहाँ शब्द अपनी हरकतों से वस्तुओं पर आघात करते हुए उनके भीतर से होकर फैलते हैं, वहाँ शब्द बहुत अर्थवान हो उठता है। वहाँ वह एकसाथ वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि कई-कई प्रसंगों में अर्थ विकर्ण करने लगते हैं। ऐसे कुछ स्थलों पर रघुवीर सहाय ने शब्द को जितना अर्थवान बनाया है, संभवत: उतना किसी एक स्वातन्त्र्योत्तर कवि ने नहीं। इसीलिए वहाँ वह बिना रोमानी हुए बहुत संवेदनक्षम कविता लिखते हैं और वस्तुओं को बिना विचारधारात्मक परिभाषाओं में ग्रहण किये उसे बल देने, समृद्ध करने वाले समर्थ विचारों की संभावनाएँ उत्पन्न करते हैं। लेकिन, कर्म की सामाजिक भूमिका पर बल देने वाली विचारधारा पर वह अतिरिक्त संशय न करके उसके साथ उलझने-निपटने को भी कविता और शब्द के लिए अनिवार्य मानते तो संभवत: शब्दों को वास्तविकता के और गहरे संस्पर्शों और अर्थों को विकसित करने का उन्हें अवसर मिलता। वस्तु को उनकी अपनी विशिष्टताओं में बनाये रखने का एकांत आग्रह कविता को रूढ़ शब्द-व्यापारों से मुक्त तो करता है, लेकिन उसे अर्थ के व्यापक विस्तार में बहुत

दूर तक नहीं ले जा सकता। कवि की ज़िद है : 'प्रिय पाठक ये मेरे बच्चे हैं/कोई प्रतीक नहीं/और इस कविता में मैं हूँ मैं/कोई रूपक नहीं।'' लेकिन रूपक और प्रतीक काव्यार्थ का विस्तार भी तो करते हैं। सिर्फ इतना होना चाहिए कि रूपक और प्रतीक ज़िन्दगी की वास्तविकता के साथ संवाद में हों, उसे कुन्द न कर पायें। वैसी हालत में वस्तुओं की अपनी निजी विशिष्टता अपने चारों ओर की और वस्तुओं के साथ रिश्ते का विस्तार करती है। क्या कुछ इसी तरह कहा जा सकता है कि व्यक्तियों और वस्तुओं की निजी विशिष्टता को बनाये रखते हुए भी उनके रिश्ते को विचारधारा अधिक विस्तृत करती है? यानी आन्तरिक विशिष्टता और दूसरी चीजों के साथ उसके सम्बन्ध की समस्या को हल करने में यथास्थिति में परिवर्तन लाने वाली विचाराधारा अपनी सार्थक भूमिका निभा सकती है? संभवत: वह वस्तुओं और शब्दों के सम्बन्ध को एक संगत सरणि में विकसित करने में मदद दे सकती है। इस सिलसिले में अपनी 'गुलामी स्वप्न' कविता की व्याख्या, जिस तरह से रघुवीर सहाय ने की है, उसे पूरा उद्धृत कर इस अपर्याप्त टिप्पणी को इस समय स्थगित करना चाहूँगा :

".....उसमें छाता, मरता हुआ आदमी, गोलमेज, खंडहर, दो लड़कियाँ—ये सब यथार्थ हैं, प्रतीक नहीं हैं—बिल्कुल यही चीज, लोग वास्तविक लोग हैं। लेकिन एक-दूसरे से इतने असबद्ध हैं कि मैं सोचता हूँ कि कौन-सी चीज इनको जोड़ रही है, क्यों ये मेरे मन में या मेरे स्वप्न में एक के बाद एक आये हैं, इनकी कविता क्यों बनती है? इसलिए बनती है कि उन सबको, एक के बाद दूसरे को, देखने के बाद जानता हूँ कि कहीं से कोई सम्बन्ध इनमें ढूँढ़ना है जिससे ये रचकर एक रचनात्मक चीज बन जायें। वह सम्बन्ध मैं इस कविता में ज़रा ज्यादा ज़ोर से ज़रा अधिक हस्तक्षेप करके—ज़रूरत से ज्यादा नहीं—पाता हूँ । मैं पाता हूँ कि वह तस्वीर जो कि छोटी लड़की के खंडहर से भागने की है, शायद सबको जोड़ने का साधन बन सकती है। इसलिए अन्त में आप पाते हैं कि मैं यह कह रहा हूँ कि मेरा कोई निर्णय नहीं हो सका, इससे कोई परेशान नहीं था, यद्यपि मैंने यह नहीं देखा था कि कोई परेशान है या नहीं है; मैंने केवल यह देखा था कि कोई निर्णय नहीं हुआ। और इससे तो मैं ही परेशान था। लेकिन मैंने अपनी उस तकलीफ को बयान नहीं किया। मैंने कहा कि किसी और को कोई चिन्ता नहीं थी कि मेरा कोई निर्णय नहीं हुआ और उसका कारण भी सोचकर बताया—वह आरोपित है. ... कि उन्होंने अमानत या रेहन के तौर पर मेरी दो संतानें कैद कर रखी थीं—और यह तो मैं ही जानता हूँ कि उसमें से एक भागकर मर चुकी है। पर एक व्यंग्य यह है कि वे नहीं जानते, दूसरा व्यंग्य यह है कि मुक्त होनेवाली लड़की को मरना पड़ा।'' (—लिखने का कारण, पृ० 166)

रघुवीर सहाय की कविता पढ़ते हुए मुझे अक्सर भारतेन्दु, बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमचन्द, निराला और नागार्जुन याद आते हैं, गांधी और लोहिया याद आते हैं, कभी कोई पश्चिमी कवि या चिन्तक याद नहीं आता है। वे अपने लोगों से बेहद नफरत और प्रेम करते हैं, उन्हीं के बीच रहते हुए। अपनी बौद्धिक और रचनात्मक हैसियत के कारण उनसे अलग होकर कभी उनका अवमूल्यन नहीं करते। अपनी रचना और विचार की ऊर्जा के लिए हिन्दी, गँवई और कस्बाई स्थितियों को अंग्रेज़ी, महानगरीय और पश्चिमवादी आधुनिक कसौटियों से लड़ाते रहते हैं। उनकी कविता आदमी की हालत को प्रचलित राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं के घनिष्ठ प्रसंग से बाहर किसी तत्त्वप्रदर्शन और विचारधारा में घुलाकर उन्हें इस्तेमाल कर लिये जाने की सुविधा और अवसर का निरन्तर प्रतिरोध करती है। उनकी कविता, आदमी और संस्था (राजनीतिक-सामाजिक) के तनाव और संघर्ष में पाये गये अर्थ, गति और दिशा को इतनी दूर तक नहीं ले जाती जहाँ तनाव और संघर्ष में सहे-पाये गये निशान ही मिट जायें। उनकी कविता में ठेठ देसी दबाव इतना निर्णायक कि वह स्वाधीन भारतीय समाज में – 'राष्ट्रीय' की संकल्पना और विशेषता में ऊर्जा और सार्थकता की अधिकतम संभावना पाता है। संभवत: यही कारण है कि रघुवीर की कविता के रामदास और गिरीश के सामने प्रेमचंद का सूरदास और निराला का महँगू याद आता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि भाषा और स्मृति या जातीय स्मृति की अधिकतम चर्चा करनेवाले लोगों के साहित्य और चिन्तन में पश्चिमी भाषा, मिथक, ज्ञान-प्रतीक और चरित्र ही अधिक याद आता है। संभवत: इन कवियों में स्वाधीनता-संग्राम के दौरान पायी गयी चेतना, मानसिक गठन और जीवन-संस्कार का अधिकतम उत्तराधिकार और उसके प्रति दायित्व का भार रघुवीर सहाय ही पाते-उठाते हैं।

और क्या खूब समानता है कि स्वाधीनता-संग्राम के दौरान मामूली आदमी के बड़े होने की हर हरकत और हर शब्द पर सत्ता की कड़ी निगाह थी जो किसी भी बहाने उसे मार देती थी, और आज भी सत्ता ऐसे आदमी को छोड़ देने के लिए तैयार नहीं है। 'रंगभूमि' का सूरदास अंधा, निरक्षर और कमज़ोर है लेकिन प्रेमचन्द ने उसे उन वास्तविक और जीवित सन्दर्भों में पहचान लिया था कि उस आदमी को मारने के लिए पूरी व्यवस्था सन्नद्ध हो गयी थी और मार ही डाला था। यहाँ तक कि उसकी मूर्ति भी असह्य थी। रघुवीर सहाय की कविता में क्या वही आदमी नहीं है।

फिर भी बिना बतलाये कि एक मामूली व्यक्ति
एकाएक कितना विशाल हो जाता है
कि बड़े-बड़े लोग उसे मारने पर तुल जायें

रहा नहीं जा सकता

× × ×

वे मेरे शब्दों की ताक में बैठे हैं
जहाँ सुना नहीं उनका गलत अर्थ लिया और मुझे मारा
इसलिए कहूँगा मैं
मगर मुझे पाने दो
पहले ऐसी बोली
जिसके दो अर्थ न हों

इस कविता की बोली और आदमी एक ही जीवन-प्रक्रिया की उपज हैं जो मौके के मुताबिक अवसरवादी ढंग से इस्तेमाल नहीं हो सकते। उनकी सिर्फ एक ही योग्यता है कि वे सामरिक बिन्दु पर चुनौती का मुकाबला करें।

इस एक अर्थवाली बोली या भाषा के नियम वास्तविकता से स्वतन्त्र न हो सकने के लिए बाध्य हैं, जबकि अनेक अर्थोंवाली बोली अपने अस्तित्व को स्वतंत्र बनाये रखने के लिए वास्तविकता का इस्तेमाल भर करती है। एक अर्थवाली बोली के लिए वास्तविकता असुविधाजनक और सार्थकता का स्रोत है, अनेक अर्थोंवाली बोली के लिए वह सुविधा और सफलता का रहस्यगर्भित उपकरण।

वास्तविकता अन्तर्विरोध ग्रस्त और अनेक प्रसंगों का संघात होती है। भाषा यदि चाहे तो उसके अन्तर्विरोधों का फायदा उठा ले और उसकी जटिलता को कभी हल न होनेवाली नियति या पहेली बना दे; उस नियति या पहेली को गत्यात्मक और ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम न मानकर तत्त्वदार्शनिक-परम मान ले। ऐसी स्थिति में वास्तविक के विकासमान स्वरूप से निरन्तर परिचित होते रहने की जहमत न उठानी पड़ेगी। यह (वास्तविकता) ठोस, प्रत्यक्ष और व्यावहारिक की अपेक्षा बौद्धिक धारणा और व्यापार में परिवर्तित हो जायेगी, जिसे शब्दों और भाषा के चतुर-कुशल प्रयोगों द्वारा मर्जी-मुताबिक व्यंजित किया जाता रहेगा।

क्या रघुवीर सहाय को मनुष्य के भावों से अधिक चिन्ता खुद मनुष्य (विभाव) की है? भाषा से अधिक चिन्ता रूपबंध की है? उनकी एक अर्थवाली बोली की माँग तो कुछ ऐसा ही बताती है। विभाव और रूप की व्यंजना नहीं होती, उनके भीतर निहित भावों की होती है। जहाँ सभी कवि ऐसी भाषा के लिए सिर खपाते हों, जो अनेक स्तरीय व्यंजना कर सके वहाँ कोई कवि एक-अर्थवाली बोली पाने की जद्दोजहद और प्रतीक्षा करे तो निश्चय

ही उसकी चिन्ता भावों की कम, उसके प्रकृत या वास्तविक आधार की अधिक है। मनुष्य को जब उसके सभी सन्दर्भों में—सही और गलत, पक्ष और विपक्ष में उसके असमंजस तथा अन्तर्विरोध के साथ जान लिया जाता है तभी उसके भावों की व्यंजना सार्थक हो सकती है। तभी वह बोली पायी जा सकती है जिसमें यह विश्वास होगा कि :

कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूँगा।

यह शब्द पाया जा सकता है :

शब्द, अब भी चाहता हूँ
पर वह कि जो जाये वहाँ-वहाँ होता हुआ
तुम तक पहुँचे
चीज़ों के आर-पार दो अर्थ मिलाकर सिर्फ एक
स्वच्छन्द अर्थ दे/मुझे दे।

रघुवीर सहाय की मृत्यु सामाजिक और साहित्यिक दुर्घटना है। उन्होंने अभी अपना काम खत्म नहीं किया था। वे थके भी नहीं थे। उनके विचारों और रचनाओं में कहीं भी शिथिलता नहीं आने पायी थी। वे उन भाग्यशाली चिन्तकों और रचनाकारों में नहीं थे—होना भी नहीं चाहते थे—जो 'स्वतन्त्रता' और 'अद्वितीयता' को मनुष्य की चरम नियति मानकर, रचना को जीवन के समानान्तर विकल्प के रूप में प्रस्तावित करते हैं। उनके लिए व्यक्ति जो समाज में रहता है, और रचनाकार जो अकेलेपन में रचता है—उनमें भेद का महत्त्व नहीं है, सम्बन्ध का महत्त्व है। व्यक्ति और समाज, रचनाकार का विषय हो सकता है वस्तु नहीं। वस्तु तो सम्बन्ध है। इसी कारण रघुवीर सहाय की निगाह में – 'व्यक्ति समाज से स्वतन्त्र नहीं, समाज में स्वतन्त्र है'—अज्ञेय जैसी युक्तियों का कोई अर्थ नहीं है। स्वतन्त्रता यदि मूल्यवान है तो वह व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध की वह धुरी है जहाँ से अधिकतम गति – और अधिकतम ऊर्जा उभरती है। राजनीतिक उथल-पुथल, सामाजिक परिवर्तन, असुरक्षा, डर और अवसाद के साथ हमारे समय का आदमी कितनी तरह से उलझा हुआ है, कितना विवश, कितना सक्रिय और कितना अकेला है – उसे ठीक-ठीक पाने की काव्यात्मक कोशिश वे बराबर करते रहे। उन्होंने अंसदिग्ध रूप से 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' की रियायत अस्वीकार की थी, साथ ही 'मैं अपने लिए भी बहुत जरूरी हूँ' - की 'जिद' कभी नहीं छोड़ी। राजनीतिक और सामाजिक संघर्ष को उन्होंने मानवीय ऊर्जा के लिए अनिवार्य माना और कला-परम्परा, भाषा और शिल्प को इतनी गरिमा दी कि वह किसी के मातहत न हो सके। उन्हें लोगों में, हृदय में अटूट विश्वास था, "जहाँ

तक हृदय का सवाल है, कम-से-कम मुझे दृढ़ आस्था है कि लोग न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श को नहीं भूलते: इतिहास के किसी दौर में कुछ लोग अवश्य इन्हें भूल जाते हैं पर इन्हें याद कराने के लिए उनसे कहीं बड़ी संख्या में मनुष्य जीवित रहते हैं।'' लेकिन मानवीय रिश्ते की खोज में हृदय-परिवर्तन पर उनका विश्वास न था, 'ये सम्बन्ध हृदय-परिवर्तन से नही बनेंगे, संघर्ष के नतीजों की बार-बार जाँच से बनेंगे।''

मनुष्य की (और कवि की भी) अस्तित्व-मीमांसा, रघुवीर सहाय ने, 'देह मन आत्मा' के विशेष क्षेत्र में नहीं की—समाज के साथ उसके रिश्ते में की। कवि के लिए यह रिश्ता हमेशा तनावपूर्ण होता है क्योंकि उसे हमेशा उस 'नये' को पहचानना होता है जो व्यक्ति और समाज के रिश्ते को गतिशील और मानवीय बनाता रहता है। यह है इतिहास-बोध। इसी से मनुष्य-बोध निर्मित और परिभाषित होता रहता है। उन्हें इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि हर मनुष्य जन्म से अद्वितीय होता है लेकिन उन्हें इसकी चिन्ता नहीं है; उन्हें चिन्ता इस बात की है कि जन्म के बाद जीवन में बहुतों से उनके अद्वितीय होने का अधिकार छीन लिया जाता है। इस अधिकार के छीने जाने और छीनने वालों के प्रति कवि का रवैया, उसके भाव-बोध के मानवीय सार का निर्माण करेगा या सिर्फ अद्वितीयता का विचार? रघुवीर सहाय की कविता बताती है:

अद्वितीय यानी जो मस्ती में रहते हैं चार पहर
केवल कभी चौंककर
अपने कुएँ में से झाँक लिया करते हैं

अद्वितीय हर व्यक्ति जन्म से होता है
किन्तु जन्म के पीछे जीवन में जाने कितनों से यह
अद्वितीय होने का अधिकार
छीन लिया जाता है
और अद्वितीय फिर वे ही कहलाते हैं
जो जन के जीवन से अनजाने रहने में हो
रक्षित रहते हैं।

अद्वितीय हर एक है मनुष्य
औ उसका अधिकार अद्वितीय होने का
छीनकर जो खुद को अद्वितीय कहते हैं
उनकी रचनाएँ हों या उनके हों विचार

पीड़ा के एक रसभीने अवलेह में लपेटकर
परसे जाते हैं तो उसे कला कहते हैं।

रघुवीर सहाय इस कला-बुद्धि के विरोध में हैं। इसे वह 'कला' यानी आडम्बर मानते हैं। इस आडम्बरी कला को गहनता, सूक्ष्मता, जटिलता, अन्तरात्मा—न जाने कितने लक्षणों से प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया जाता है। ऐसी कला बहुत सुरक्षित होती है।

इसके विपरीत सहायजी की कविता में ऐसा असुरक्षित आदमी अक्सर दिखायी पड़ता है जिसे मार दिया जायेगा या मार दिया जाता है:

मैं सब जानता हूँ पर बोलता नहीं
मेरा डर मेरा सच एक आश्चर्य है
पुलिस के दिमाग में वह रहस्य रहने दो
वे मेरे शब्दों की ताक में बैठे हैं
जहाँ सुना नहीं उनका गलत अर्थ लिया और मुझे मारा
इसलिए कहूँगा मैं
मगर मुझे पाने दो
पहले ऐसी बोली
जिसके दो अर्थ न हों।

लेकिन हत्यारे भी बहुत सक्रिय और सजग हैं। वे 'जब हत्यारे सारे शब्दों को/तोड़ लेंगे/ तब वे अपने-अपने मित्रों को मार देंगे।' यही कारण है कि शब्द और भाषा के प्रति रघुवीर सहाय बहुत सचेत हैं। भाषा-अभिव्यक्ति की समस्या मात्र नहीं है, वह जीने की समस्या है:

एक शब्द कहीं नहीं कि वह लड़का कौन था
क्या उसके बहनें थीं
क्या उसने रक्खे थे टीन के बक्से में अजूबे
वह कौन-कौन से पकवान खाता था
एक शब्द कहीं नहीं एक वह शब्द जो वह खोज
रहा था जब मारा गया।

शब्दों की खोज खतरनाक है। लेकिन क्यों और कब? जब ताकतवर लोग जबर्दस्ती शब्दों में अपनी मर्ज़ी-मुताबिक अर्थ डाल दें। 'जब मैंने कहा कि यह फिल्म घातक है/इसमें

मनुष्य को झूठा दिखाया है/तो प्रधानमंत्री नाराज़ हुए – यह व्यक्ति मेरे विरुद्ध है।' अपनी ताकत के बल पर और उसे बनाये रखने के लिए मनुष्य को झूठा दिखाने का काम भाषा से बखूबी हो सकता है। मनुष्य को सही शब्द में दिखाने का काम उस ताक़त के विरोध में खड़ा होना है। मनुष्य और उसकी वास्तविक स्थिति को सही रूप में व्यक्त करने वाला शब्द और आदमी, ताकत और क्रूरता से घिरा हुआ है। रघुवीर सहाय की कविता में ताकत और क्रूरता से घिरी हुई लड़की है, औरत है, रामदास है, सेब बेचनेवाले की छाती तोड़ती खाँसी है, सोचनेवाले आदमी का अकेलापन है – हर जगह, लगभग हर कविता में बहुत प्रकार के ठोस दृश्य और प्रसंग हैं। कविता के शब्द, अपनी ताकत और जीवन इन्हीं से पाते हैं, इसीलिए दोनों में अन्तर नहीं है। उनकी भाषा का विधान वास्तविकता का विधान है। अपने कविकर्म के लिये जीवन से कुछ दृश्यों को लेकर वे उसे गढ़ते नहीं, उसे पहचानते हैं। गढ़ने और पहचानने में फ़र्क है। और गढ़ने में वस्तु का उपयोग उनकी मर्जी और क्षमता के अनुसार होता है। जब वे अपनी कविता में किसी वस्तु या जीवन के किसी दृश्य का चित्रण करते हैं तो उसके चारों ओर फैले हुए प्रसंग दिखायी पड़ते हैं – सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक प्रसंगों के जाल। जीवन और मनुष्य को स्वाधीनता और मुक्त करने का अर्थ इन प्रसंगों से उसे काटना नहीं है बल्कि उन प्रसंगों में उभर आये निहितार्थ को काटना है। सभी संस्थाएँ – चाहे वे शास्त्र-परम्परा, राजनीति या समाज की हों, कुछ लोगों को अतिरिक्त रूप से ताकतवर बनाती हैं और इसके उलट, यह भी सच है कि उन्हीं के कारण जीवन गतिशील भी होता है। रघुवीर सहाय इस विषय में बिलकुल स्पष्ट हैं कि संस्थाओं का आत्यंतिक रूप से निषेध नहीं किया जा सकता – उनके रूपों और प्रकारों को ज़रूर तोड़ा सकता है। उन्होंने लिखा है, "विराट भीड़ों के समाज को बदलने का आज सिर्फ एक साधन है : वह है उस सत्ता का उपयोग जो समुदाय का एक-एक व्यक्ति अलग-अलग निर्णयों से कुछ हाथों में देता है। सरकार, जो राज्य की प्रतिनिधि है, जो समाज का प्रतिनिधि है, जैसी भी वह हो सकती है – अधूरी, टूटी, नकली, मिलावटी, मूर्ख–अकेला कारगर साधन भीड़ के हाथ में है। मैं इस साधन के अधिक-से-अधिक सही इस्तेमाल के लिए लड़े बिना नहीं रह सकता।"

तो जीवन को प्रसंगों में पहचानने का मतलब है – संस्थाओं के सही इस्तेमाल के लिए लड़ना। हमारे रिश्ते, हमारी मनुष्यता उससे निर्मित और परिभाषित होती है। "न्याय और बराबरी के लिए हम जिस समाज की कल्पना करते हैं, उसमें मानवीय रिश्तों की शक्ल क्या होगी, यह उस समाज के लिए संघर्ष के दौरान तय होनी चाहिए।" यानी मानवीय रिश्तों की कोई सनातन सत्ता नहीं है – ऐतिहासिक सत्ता है, जिसमें परिवर्तन होता है। इस तरह के कवि को यह सुविधा और स्वतंत्रता नहीं हासिल होती जो कुछ जीवन-तथ्यों

का होती तो इतिहास के ही भीतर से है लेकिन भाषा से गढ़कर उससे बाहर खड़ा कर देता है। ऐसी ही हालत में भाषा और रचना की स्वायत्त सत्ता पैदा होती है। रघुवीर सहाय की कला, ऐसी कला-बुद्धि के विरोध में है। रघुवीर सहाय का कला-विवेक उस इतिहासवादी बुद्धि के विरोध में भी है जो भावों, अनुभवों, विचारों और सम्बन्धों की विविधता और जीवंत विशेषता को निश्चित साँचों में ढाल देती है। उनकी कविता में भाषा और इतिहास की बड़ी सजीव भूमिका है जिसे पाठक पग-पग पर अनुभव करता है लेकिन विश्लेषण और व्याख्या के स्तर पर भाषावाद और इतिहासवाद के पैमाने अपर्याप्त साबित होते हैं। उनकी कविता का विश्लेषण बहुत कठिन है। पानी के संस्मरण, धूप, गौरेया के विवरण, हँसी, दुख, डर, औरत, लड़की या वाक्य-विन्यास की विशेषता ( उनकी कविता का वाक्य-विन्यास बहुत नया है) का वर्णन करना, उसे फिर से भावित करा देना तो विश्लेषण नहीं होगा।

उनकी कविता में इतने ठेठ देशी दबाव हैं कि प्रचलित पश्चिमी आधुनिकता के जितने अभिलक्षण हैं उन पर आलोचनात्मक टिप्पणी होती चलती है। मसलन :

अपने-अपने कस्बों का नाम न लेकर वे लखनऊ का नाम लेते हैं।
जहाँ वे नौकरी करने आये थे
जैसे वहीं पैदा हुए और बड़े हुए हों
क्योंकि वह किसी क़दर आधुनिक बनना है
और फिर दिल्ली उन्हें समोकर अथाह में आधुनिक होने की
फ़िक्र मिटा देती है।

या -

वे हिन्दी का प्रयोग अंग्रेज़ी की जगह करते हैं
जबकि तथ्य यह है कि अंग्रेज़ी का प्रयोग
उनके मालिक हिन्दी की जगह करते हैं
दोनों में यह रिश्ता तय हो गया है

जो इस पाखण्ड को मिटायेगा
हिन्दी की दासता मिटायेगा
वह जन वही होगा जो हिन्दी बोलकर
रख देगा हरदै निरक्षर का खोलकर

या

हो सकता है कि लोग मार तमाम लोग
जिनसे मुझे नफरत है मिल जायें, अहंकारी
शासन को बदलने के बदले अपने को
बदलने लगें और मेरी कविता की नकलें
अकविता जायें। बनिया बनिया रहे
बाम्हन बाम्हन और कायथ कायथ रहे
पर जब कविता लिखे तो आधुनिक
हो जाये। खीसें बा दे जब कहो तब गा दे।

जो अपने कस्बे का नाम नहीं लेते, जो हिन्दी की जगह अंग्रेज़ी का प्रयोग करते हैं – जो अहंकारी शासन और जातिवादी समाज को नहीं बदलते और फिर भी आधुनिक हो जाते हैं, ऐसे नकली लोगों से नफरत करने का देशी तेवर जो रघुवीर सहाय की कविता में है – वह पहले अपने समाज से गहरे परिचय और प्रेम की मांग करता है। वह समाज-मीमांसा की देसी प्रतिभा की खोज व्याकुलता से करता है। सम्भवत: उसी समाज-मीमांसा की बुद्धि उनकी कविता के विश्लेषण के लिए कोई पद्धति प्रस्तुत करे। रघुवीर सहाय की कविता में वह कला-विवेक है और इसीलिए वे बड़े विश्वास से कह सकते हैं, "और दूसरी जो है बहुत-सी कला है वह'' इस 'बहुत-सी कला' यानी आडम्बर और नकल के विरुद्ध है रघुवीर सहाय की कविता।

# 18. 'मगध' और श्रीकान्त वर्मा

डॉ० विश्वनाथप्रसाद तिवारी

30 जनवरी 1984 की अपनी डायरी में श्रीकान्तवर्मा लिखते हैं, "मैं रोज कविताएँ लिख रहा हूँ। एक नये संस्कार को ढूँढ निकाल रहा हूँ, दूसरों के लिए। अवन्ति, मालवा, उज्जियनी, क्षिप्रा, चम्पा, काशी, कोशाम्बी, कपिलवस्तु, कोसल, कलिंग, वैशाली, आम्रपाली, वासवदत्ता, वसन्त सेना, चन्द्रगुप्त, बिम्बसार, अशोक, अजातशत्रु-पात्रों, चरित नायकों, नगरों, स्मृतियों का एक रेला है जो चला आ रहा है, एक भीड़ है जो उमड़ पड़ी है। यही हैं मेरी कविताएँ। इनका मुख्य सरोकार है 'मृत्यु', 'संहार', 'नैतिक क्षय'। इन कविताओं का एक संग्रह दो महीनों के भीतर तैयार कर दूँगा – जिस रफ्तार से लिख रहा हूँ, उससे तो अभी यही लगता है। पुस्तक का नाम होगा मगध। मैं जानता हूँ मगध क्या है? कालातीत काल !"

डायरी का यह पन्ना तीस जनवरी चौरासी का है जिसमें श्रीकान्त जी अपने 'मगध' को 'कालातीत काल' कहते हैं और उसकी कविताओं का मुख्य सरोकार मानते हैं 'मृत्यु, संहार और नैतिक क्षय'। इसके ठीक पिछली रात अर्थात 29 जनवरी, 84 की रात। मैं श्रीकांत जी के घर पर उनसे मिला था। साथ में केदारनाथ सिंह और विनोद भारद्वाज भी थे। जाड़े की उस रात श्रीकांत जी बहुत उत्साहित थे और उन्होंने अपनी पन्द्रह-बीस ताज़ा कविताएँ सुनाई थीं जो बाद में 'मगध' संग्रह में प्रकाशित हुईं। बाहर भयानक ठंड थी और ऊपर से कविताएँ भी ठंडी लग रही थीं पर उनके भीतर एक अजीब ताप था, जैसा शायद बड़वानल में होता हो।

इसी महीने के शुरू में अर्थात् 3 जनवरी 1984 को श्रीकांत जी ने मुझे अपने एक पत्र में लिखा, "मैं गोरखपुर के आसपास के ऐतिहासिक स्थल देखना चाहता हूँ। कविताएँ बिना देखे लिखी जा सकती हैं। मगर इतिहास के पुनर्संधान के बाद उन खंडहरों को देखने की इच्छा तीव्र हो जाती है, जिनमें न जाने किन महान आत्माओं ने प्रवास किया है। प्राचीन, जीर्ण, भुतहा, विस्मृत कुछ भी नहीं होता। सब काल के अनन्त प्रवाह का अंश है, कहीं स्वच्छ, कहीं मटमैला।"

अपने एक यात्रा संस्मरण में फ्रांसीसी साहित्य के बारे में टिप्पणी करते हुए श्रीकान्त जी लिखते हैं, "स्त्री, मृत्यु और स्वाधीनता पिछले सौ वर्षों के फ्रांसीसी साहित्य के मुख्य सरोकार रहें हैं।" कहना न होगा कि स्त्री, मृत्यु और स्वाधीनता-ये तीनों ही सरोकार श्रीकांत जी की कविता के भी हैं। यहाँ मगध के प्रसंग में मैं खासतौर से उस सरोकार को रेखांकित

करना चाहूँगा जिसे 'मृत्यु' कहते है। अगर कविता कवि से अभिन्न होती है और वह वही होती है जो कवि स्वयं होता है तो कवि के 'स्वभाव' को कविता में ढूंढना ज्यादती नहीं है। अपनी 3 फरवरी, 1972 की डायरी में श्रीकांत जी लिखते हैं, "सुबह मुझे दस्त के साथ थोड़ा सा खून गया। कुछ कमज़ोरी लगी। पहले भी-छह महीने पहले ऐसा हुआ था। डॉक्टर ने कहा था, कोई खास बात नहीं, पेट की गर्मी से ऐसा हो जाता है। मगर मैं अपने बारे में एक शक्की आदमी हूँ। मुझे स्वयं को लेकर, ख़ासकर शरीर को लेकर तरह तरह की शंकाएँ हुआ करती हैं—पिछले दस वर्षों से यही क्रम है। कभी कैंसर, कभी दिल के दौरे, कभी कुछ और का सन्देह होता रहता है। आज सारा दिन मुझे लगता रहा मेरे पेट में घाव (अल्सर) है। और दिन, नरक का एक लम्बा दिन रहा। मृत्यु के भय ने मुझे पूरी तरह दबोच लिया। .....मुझे मृत्यु के इस भय से, इस नैराश्य से उबरना चाहिए। और मैं इसके लिए कुछ योजनाएँ बना रहा हूँ।"[4] श्रीकांत जी की डायरियाँ प्रमाण हैं और जो लोग उनके निकट रहे हैं वे जानते हैं कि वे कई बार सिगरेट और शराब छोड़ने की योजनाएँ बनाते रहे। छोड़ते और शुरू करते रहे। एलोपैथिक नुस्खों से लेकर जड़ी-बूटी बेचने वाले पहाड़ी नागाओं के झाँसे तक में फँसते रहे। ऊपर डायरी का जो पृष्ठ उद्धृत है वह 1972 का है। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती गयी, शरीर के बारे में उनका शक़ बढ़ता गया, मृत्युबोध और तीव्र गाढ़ा होता गया। उनके अंतिम दौर की रचनाओं में यह बोध बहुत स्पष्ट है। **मगध** उनके आखिरी दौर की रचना है। इस का रचनाकाल 1979 से 1984 के बीच का है। 25 मई, 1986 को श्रीकांत जी का निधन हुआ। मृत्यु के पश्चात् उनका एक और संग्रह छपा **गरूड़ किसने देखा है**। यह संग्रह भी मगध संग्रह का ही विस्तार है। इसकी सारी रचनाएँ मगध की मनोभूमि की ही रचनाएँ हैं। अगर ये रचनाएँ **मगध** में ही छप गयी होतीं तो उसी की मनोभूमि में मिल गयी होतीं। यदि गरूड़ किसी ने नहीं देखा तो हममें से **मगध** किसने देखा है?

श्रीकांत जी सत्ता के खेल में शरीक थे। उस सत्ता के जिसका एक (लेकिन एकमात्र नहीं) प्रतीक है 'मगध'। वे सत्ता के इन्द्रजाल से, छद्म से पूरी तरह वाकिफ थे। 26 जनवरी, 1973 को अपनी डायरी में वे लिखते हैं, "गणतंत्र दिवस। कितना बड़ा षडयन्त्र है ग़रीब जनता के विरूद्ध। आज़ादी को पच्चीस साल हो गये, मगर आज़ादी का दिखावा है, वास्तविक आज़ादी नहीं। जश्न। समारोह। भारत से अधिक समारोही देश कोई नहीं। समारोह में किसी को अकेले होने का वक्त नहीं होता। समारोह की असलियत पर विचार करने की फुर्सत से उसे वंचित कर दिया जाता है, उसे शामिल कर दिया जाता है। भारतीय व्यवस्था कितनी चतुर रही है।"[5] यह सारी व्यवस्था अपने नग्न रूप में अपने सारे संशय, अनिश्चय, छद्म और इन्द्रजाल के साथ **मगध** में रूपायित है। श्रीकांत जी इस

व्यवस्था के एक पुर्जा थे और इससे वे अनभिज्ञ नहीं थे। 1984 की ही लिखी एक कविता है 'पितामह', जिसमें वे कहते हैं:

व्यास ने कहीं नहीं कहा
कि युद्ध में सत्य मारा नहीं जाता
कहा होगा व्यास ने पर व्यास का
मतलब यह नहीं था कि
होता तो, यही होता
कब कहा व्यास ने
कि जो लिखता है महाभारत पक्षधर नहीं होता।

श्रीकांत जी जानते थे इसलिए अपने से भी लड़ रहे थे। उनकी कविताओं में और डायरियों में एक नैतिक और संवेदनशील कवि के ईमानदार आत्मविश्लेषण से भी आगे आत्मभर्त्सना का स्वर मिलेगा। कभी गालिब ने कहा था—

ग़ालिब वजीफाख्वार हो दो शाह को दुआ
वो दिन गये कि कहते थे नौकर नहीं हूँ मैं।

श्रीकान्त का स्वर इसके बहुत आगे सूर और तुलसी के आत्म निवेदनों के करीब पहुँच जाता है। 1984 की ही एक कविता है-'तृष्णा'

तृष्णा थी जिसने तोड़ा
वसन्तसेना को
तृष्णा है जो तोडेगी
वसन्तसेना को
छोड़ नहीं पायी
वसन्तसेना
तृष्णा ऐसी ही होती है
तृष्णा से बचो
संभव हो
तो,
अपने से भी
तुम भी तो गिड़गिड़ा रहे थे

वसन्त सेना !
वसन्त सेना !

इसी समय के आसपास की अपनी एक और कविता 'मुझे क्षमा करो' (1985) में वे लिखते हैं–

मैं जीवन भर बेवजह झूठ बोलता रहा
अपने विवेक के विरूद्ध किया
स्वयं पर भरोसा न कर, औरों के आगे गिडगिड़ाता रहा
मैं खुद को एक गिरा हुआ आदमी
मानता हूँ
मैं बौनों के कन्धों पर चढ़कर
महान नहीं होना चाहता
मित्रों,
मैं महानों के चरणों पर गिरकर कहना चाहता हूँ -
मैं अधम हूँ
मुझे क्षमा करो।

और 18 सितम्बर 1985 अर्थात अपने आखिरी जन्मदिन की ड़ायरी में वे लिखते हैं:

आज मेरा जन्मदिन है।
मन आत्मग्लानि से भरा हुआ है।
इन तमाम वर्षों में मैने क्या किया?
मिथ्या, चाटुकारिता, अहं, दर्प
छल, आत्मछल, आकांक्षा, लोभ,
वैभव, प्रदर्शन, आत्मप्रदर्शन, प्रतिद्वन्द्विता
शत्रुता, आत्मरति
नाटकीय जीवन जिया।
मैं अपने अंदर बैठा हुआ एक
पिशाच हूँ
अन्यायी
अत्याचारी
रोगग्रस्त

भोगग्रस्त
ईश्वर मुझे शक्ति दो, इस छद्म और
छल से उबरने की।
फिलहाल स्वयं को धिक्कार ही सकता हूँ
आगे की सोचो-
'काबे, किस मुँह से जाओगे, गालिब?

यह निर्भीक आत्मभर्त्सना किसी कवि को छोटा नहीं, बड़ा बनाती है और उसे नैतिक शक्ति देती है कि वह दूसरे को भी कठघरे में खड़ा करके जिरह कर सके। **मगध** की कविताओं में समूची व्यवस्था कठघरे में है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह एक चौखटा है जिसके बीच श्रीकान्त वर्मा के 'मगध' का साम्राज्य फैला हुआ है।

इतिहास और सृजनात्मक कृति में अन्तर होता है, जैसे यथार्थ और रचना में। कहा गया है कि इतिहास में तिथियों और घटनाओं के अतिरिक्त बाकी सब झूठ होता है जबकि साहित्य में तिथियों और घटनाओं के अतिरिक्त बाकी सब सच होता है। यही स्थिति यथार्थ और रचना की है। रचनाकार यथार्थ को प्रस्तुत नहीं करता बल्कि यथार्थ को रचता है, निर्मित करता है। रचना अनुकृति नहीं, कृति होती है। ऊपर से बहुत काल्पनिक दिखते हुए भी अपने भीतर वह भयानक सच छिपाये होती है। कभी कभी सच कल्पना से ज़्यादा अजनबी होता है-'ट्रुथ इज स्ट्रेन्जर दैन फिक्शन'। श्रीकांत वर्मा का **मगध** पढ़ते हुए इन बातों की ओर खासतौर से ध्यान जाता है। इस संग्रह की कविताओं में अतीतकालीन इतिहास के बड़े-बड़े नाम हैं – मगध, काशी, कोसाम्बी, हस्तिनापुर, कपिलवस्तु, तक्षशिला, उज्जयिनी, अवन्ती, नालन्दा, मिथिला, मथुरा, वैशाली, श्रावस्ती, पाटलिपुत्र, चन्द्रगुप्त, अशोक, बिम्बसार, अजातशत्रु, कालिदास, शकटार, वसन्त सेना, वासवदत्ता, अम्बपाली आदि। ये महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान और इतिहासप्रसिद्ध हस्तियाँ केवल एक कौतुक हैं कवि के लिए जिनके सहारे वह शब्दक्रीड़ा करता है , जैसे किसी जौहरी की उँगलियाँ खेलती हैं रत्नों के साथ । वह फैंटेसी बुनता है बार-बार और फैंटेसी में ऊपर से देखने पर कोई तर्क नहीं दिखाई देता । कार्य-कारण संबंध टूटते से लगते हैं । कविता दिखाई पड़ने वाले यथार्थ से दूर दिखने लगती है । इन कविताओं में कवि बार-बार इतिहास प्रसिद्ध स्थानों और व्यक्तियों के बारे में संशय पैदा करता है । चाहे वह पाटलिपुत्र हो या अमरावती, हस्तिनापुर हो या कोसाम्बी या मगध-सबके बारे में संशय है । चाहे वह रोहिताश्व का शव हो या अशोक का या

चन्द्रगुप्त या बिम्बसार या अजातशत्रु का–किसी की ठीक-ठीक शिनाख्त नहीं है। जाहिर है कवि के लिए ये स्थान और व्यक्ति नगण्य हैं। इतिहास केवल बहाना है उसके लिए। सच हैं केवल त्रासदियाँ और मनोवृत्तियाँ जो आज भी सच हैं। जिसे पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते थे–मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा। जीवनधारा और इतिहासधारा के बीच अप्रतिहत, प्रवाहित, गूँजती हुई।

**मगध** की कविताओं में कवि काल में लम्बी यात्राएँ करता है मगर अतीत के गलियारों में भटकती ये कविताएँ अपने जीवित वर्तमान का साक्ष्य पेश करती हैं। **मगध** एक जीवित वर्तमान का नाम है:

वर्तमान को झेल सकना
दिन-ब-दिन
कठिन होता जा रहा है,
मैं अपने बचपन में
जवानी के दिनों में
अतीत में
वापस लौट जाना
चाहता हूँ।

**मगध** एक विराट ध्वंस का नाम है:

क्या चाहते हो?
पाने को सिर्फ कपिलवस्तु ही नहीं है
किसके लिए व्यग्र हो?
विन्ध्याचल पार कभी
दक्षिण गये हो?
लंका जल रही है।
उत्तर को लौटो
हस्तिनापुर की विधवाओं का विलाप सुन
छाती फटती है?
श्रावस्ती, उज्जयिनी, कोसल
कहीं भी जाओगे

टूटी हुई सीढ़ियों पर
बैठी हुई विधवाएँ
पाओगे–
या सिर्फ सन्नाटा जिसमें सिर्फ़ बरगद उगता है,
फैलता है, बूढ़ा होता है–
दाढ़ी पर हाथ फेर,
कपिलवस्तु, कपिलवस्तु जपता है।

–छीना झपटी

महाराज बधाई हो–कोई नहीं रहा–
किसी को नहीं बख्शा काल ने
श्रावस्ती की कोख उजड़
चुकी,
कोसाम्बी विधवा की तरह
सिर मुंड़ाए खड़ी है
कपिलवस्तु फटी–फटी
आँख से
सिर्फ देख रहा है
अवन्ती
निर्वसन है
काशी में शवों का हिसाब हो
रहा है
और मगध में?
मगध में सन्नाटा है
क्षमा करें महाराज
आप नहीं समझेंगें
यह
कैसा सन्नाटा है।

–मगध में सन्नाटा

राज व्यवस्था पर इतना गहरा व्यंग्य, शालीन और गंभीर व्यंग्य, शांत समुद्र के भीतरी

उद्वेलन जैसा व्यंग्य कम मिलेगा। अतीत के महत्वपूर्ण स्थानों और व्यक्तियों का, समकालीन राजनीति की विडंबना को उजागर करने के लिए, इतना कुशल सांकेतिक इस्तेमाल कम हुआ है। ढ़ाई हज़ार वर्ष पूर्व के गणराज्यों में आज के लोकतंत्र की झाँकी सचमुच एक भयावह कल्पना है।

विजय और हत्या, धर्म और युद्ध, शासन और आतंक, विलाप और पराजय का यह अद्‌भुत चित्रपट है:

यह भी कोई बात हुई
कि समग्र मिथिला में
एक भी कवि नहीं
कि समूचे गणराज्य में
कोई मूर्तिकार नहीं
कि सम्पूर्ण है मिथिला
कोई गायक नहीं
राजन !
गायकों के
होने न होने से
फ़र्क नहीं पड़ता
फ़र्क पड़ता है सम्पत्ति से
सेना से, मंत्रिपरिषद से
× × ×
मौर्य अपशकुन नहीं
देखते
मौर्यों को/विजय से/वास्ता है
तक्षशिला और नालन्दा के बीच
मौर्य हैं/और/रास्ता है
× × ×
कोई टोंकता तक नहीं/इस डर से/कि मगध में
टोंकने का/रिवाज़ न बन जाय/
एक बार शुरू होने पर/कहीं नहीं रूकता हस्तक्षेप
वैसे तो मगध वासियों/कितना भी कतराओ

तुम बच नहीं सकते हस्तक्षेप से
जब कोई नहीं करता/तब नगर के बीच से गुजरता हुआ
मुर्दा/यह प्रश्न कर हस्तक्षेप करता है
मनुष्य क्यों मरता है?

× × ×

मगध में शोर है कि मगध में शासक नहीं रहे
जो थे वे मदिरा, प्रमाद और आलस्य के कारण
इस लायक/नहीं रहे कि उन्हें हम/मगध का शासक कह सकें
लगभग यही शोर है/अवन्ती में/यही कोसल में
यही विदर्भ में/कि शासक नहीं रहे

मगध मनुष्य का वह गौरवमय अतीत है जिसे वह गँवा चुका है। वह एक आकांक्षा है, एक ज़रूरत जिसे वह खोज रहा है :

सुनो भई-घुडसवार, मगध किधर है
मगध से/आया हूँ/मगध/मुझे जाना है....
तुम भी तो मगध को ढूँढ रहे हो/बन्धुओं
यह वह मगध नहीं/तुमने जिसे पढ़ा है
किताबों में/यह वह मगध है/जिसे तुम
मेरी तरह गँवा/चुके हो

**मगध** की कविताओं में इतिहास के बड़े-बड़े नाम हैं लेकिन मामूली आदमी हर जगह उपस्थित है। वह आदमी जो फैसले नहीं लेता, सभा नहीं बुलाता, केवल सिर हिलाता है। जो कुछ भी नहीं कहता, केवल सहमा रहता है और कहने के नाम पर केवल इतना ही कहता है कि वह सुखी है:

यहाँ के लोगों का कहना है कि
यहाँ के लोगों की यही तो विशेषता है
वे जन्म लेते हैं, चहचहाते हैं/आँखें लड़ाते हैं।
चौपड़ बिछाते/जब तक वे लिप्त हों
कैसी विडम्बना है मित्र/जब तक वे लिप्त हों
तब तक अवधि समाप्त.....

क्या कारण है कि मगध की लगभग सभी कविताओं में 'प्रजा' बार-बार आती है। सारी कविताएँ उसी को संबोधित होती हैं। संग्रह की पहली ही कविता 'नान्दी पाठ' में कवि कहता है:

गुणगाहक! गुणसागर! गुणनिधान
बहुत वर्षों बाद/मैं आपके दरवाज़े आया हूँ
सुनिये यजमान/जन्म जन्मान्तरों की कथायें
नगरों-नागरिकों की व्यथाएँ/लाया हूँ

मगध के जन्म जन्मांतरों की कथा में नगरों-नागरिकों की व्यथा छिपी हुई है

युद्ध हुआ तो मुझको ही मारा जाना है
नहीं हुआ तो मुझको ही मारा जाना है
उस युग में मुझको कहते थे अश्वत्थामा
क्या कहते हैं अब जब सब कुछ बदल गया है
अश्वत्थामा ट्रक के नीचे कुचल गया है।
× × ×
अब कैसा धर्मयुद्ध, निहत्थों पर जिसमें
हथियार नहीं उठेगा?
तब किस पर उठेगा हथियार!
निहत्थों पर उठने के लिए ही
बने हैं हथियार।

9 जनवरी, 1986 की डायरी में श्रीकान्त जी लिखते हैं, "असंख्य शव । बहते हुए शव, दहकते हुए अंगारों की तृष्णा शांत करते हुए शव,भीड़ को चीर कर गुज़रते हुए शव, न जाने कहाँ से लाठी टेकते, हाँफते, रूक रूक कर चलते हुए शव, शव के नाम पर छलते हुए शव, मणिकर्णिका का पता पूछते शव, मणिकर्णिका से डर कर छटपटाते हुए शव। मैने शव को न जाने कितने रूपों में देखा है, कल्पनाएँ की हैं।'' और अब देखिए, उनकी अत्यन्त मार्मिक कविता 'रोहिताश्व' ।जिसको पढ़ते हुए हर संवेदनशील आदमी एक रोहिताश्व में बदल जाता है:

जब भी मणिकर्णिका जाओगे/एक वृद्ध को
कोने में दुबका हुआ पाओगे

तुम्हें देख/उसकी ऑखों में/कुछ कौंधेगा
वह रोहिताश्व, रोहिताश्व/बिसूरता
तुमसे लिपट जायेगा
तब क्या करोगे?
यही न:
मैं रोहिताश्व नहीं हूँ /मैं सचमुच/रोहिताश्व/नहीं हूँ।
मगर तुम उस वृद्ध को/कैसे/विश्वास दिलाओगे
कि तुम/रोहिताश्व नहीं हो.....
जिसका रोहिताश्व/मारा गया हो
क्या तुम उसे/विश्वास दिला सकते हो
कि तुम रोहिताश्व नहीं हो?

जैसा कि मैं कह चुका हूँ, **मगध** की कविताओं में गहरा मृत्युबोध है, और यह भी कहना चाहूँगा कि मृत्यु भी कविता के बुनियादी सरोकारों में से एक है।

**मगध** की आख़िरी कविता है–'दीवार पर नाम'। कविता इस प्रकार है:

जब मैं किशोर था/जहाँ भी मिली/कोई कोरी दीवार
खड़िया से/लिख देता मैं अपना नाम/दूसरे दिन पाता
मिटा दिया किसी ने/इस तरह जैसे लिखा ही न था
तब मैं कड़कता कौन?/उत्तर मिलता/सोमदत्त
मैं बूढ़ा हो चुका हूँ/जब भी मिलती है/कोई कोरी
दीवार/खड़िया से/लिख देता हूँ/अपना नाम
दूसरे दिन पाता हूँ/मिटा दिया किसी ने इस तरह
जैसे लिखा ही न था/अब जब कड़कता हूँ/कौन?
उत्तर मिलता है **काल**

यह 'काल' **मगध** की कविताओं में एक बड़ी चुनौती की तरह कवि के सामने है। जैसे 'काल' हमेशा से कलाओं के सामने एक चुनौती की तरह रहा है। इस मरणधर्मा संसार में कलाकार अपने रचनात्मक कर्म के द्वारा ही काल का अतिक्रमण करना चाहता है। वही एक मात्र बचाव का हथियार है विनाश के खिलाफ़।

**मगध** की कविताओं में कवि इतिहास के मशहूर नामों को स्मरण करता हुआ उनकी नश्वरता को, उनकी निस्सारता को पहचानता है। इतिहास की बड़ी-बड़ी हस्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। एक समय के वैभवशाली गणराज्य अपनी नियति को प्राप्त कर चुके हैं। उज्जयिनी, मगध, काशी, सब की एक ही स्थिति है:

मिथिला को ही लीजिए/कल की बात है/राज्य
करते थे विदेह/उसी मिथिला में/शासन करता है
सन्देह/किसी को धर्म का डर नहीं/विश्वामित्र,
वशिष्ठ/कोई नहीं रहा/महाराज! सभी नश्वर हैं
कोई अमर नहीं

कवि महसूस कर रहा है कि तक्षशिला में कुछ नहीं बचा है। उज्जयिनी में कस्तूरी सी जो बसी हुई थी गणिका, उसकी कोई शिनाख्त नहीं है। पाटलिपुत्र एक किवदंती है। अमरावती अब वह अमरावती नहीं रह गयी है। आम्रपाली सिर्फ़ एक प्रसंग है। वसन्तसेना सीढियाँ चढ़ रही है। वह युवा है। कवि जानता है कि सीढियाँ समाप्त नहीं होतीं। उन्नति की हों अथवा अवनति की। बालू पर किसी के पगचिन्ह का निशान नहीं टिकता। जिसके हाथों में सबकी बागडोर रही है एक समय के बाद वह किसी के इशारे पर अनुगमन करता दिखता है। समय एक बड़ी सच्चाई है, जिसे 'काल' कहते हैं:

मालती/कल यह नहीं होगा/पीब में/भरे होंगे
स्तन/जंघाएँ/स्मारकों की तरह/टूटी पडी होंगी....
सूख चुकी होगी/सुख की नदी....
शव को नदी से निकाल/छोड़ जाते हैं लोग/घाट पर
और कहते हैं/यह रहा काल।

× × ×

क्यों कराह रहे हो?/कोई उपचार तुम्हें मणिकर्णिका से
नहीं बचा सकता/क्यों भूलने की कोशिश कर रहे हो?
कोई भी विस्मृति/यथार्थ पर पर्दा नहीं डाल सकती....
मणिकर्णिका के नीचे/मणिकर्णिका/मिलेगी
और उसके भी नीचे/मणिकर्णिका

10 जनवरी, 1986 की डायरी में श्रीकांत जी लिखते हैं, "मगर जरा और चलो। तुम्हें मिलेगी मणिकर्णिका जहाँ मुर्दे फूँके जा रहे होंगें। और दो नहीं शायद तीन हज़ार साल से यहीं फूँके जा रहे हैं। क्या याद दिलायेगी वह तुम्हें? यही कि कुछ भी स्थायी नहीं। भाइयों, कुछ भी टिकाऊ नहीं, अमर नहीं, अजर नहीं। सबक लो, सीखो, सिर झुकाओ, महाकाल के आगे।" श्रीकांत जी की कविताओं-खासकर उनकी परवर्ती कविताओं और डायरियों में जो एक प्रकार की निस्संग तटस्थता और एक अवसाद है उसका कारण यही मृत्युबोध है। यह बोध किसी कवि या कविता की कमज़ोरी नहीं है बल्कि उसे अतिरिक्त रचनात्मक ऊर्जा देने वाली है। वर्तमान का ध्वंस श्रीकांत जी को अतीत के खंडहरों की ओर ले जाता है पर इसमें उनका कालबोध भी कम प्रेरक नहीं होता। एक सिरे पर काल है तभी दूसरे सिरे पर मनुष्य की सार्थकता का सवाल है। एक ओर वर्तमान का ध्वंस है तभी दूसरी ओर अतीत की कल्पना और पश्चाताप :

ओगो सुदूर विपुल सुदूर
तुमि ये बाजाओ व्याकुल बाँसरी
मोर आना नाई, आछि एक ठाई
से कथा ये माई पाँसरि।

श्रीकान्त वर्मा के **मगध** की कविताओं की मनोभूमि गंभीर, चिंतन की मनोभूमि है। शांत, स्थिर ! जैसे किसी ने काफी कुछ गँवाने के बाद आत्ममंथन किया हो। इन कविताओं में व्यंग्य, विडम्बना है, वक्रोक्ति है, मगर तेवर आक्रामक नहीं है। ऊपर की हलचल नहीं है। गहराई की शांति है। क्रांति का हुहुमाता माहौल नहीं है। विनयशीलता है। इन कविताओं में पछतावा है मगर शहादत, उत्सर्ग या आत्मपीड़न के अंदाज में नहीं। कवि प्रदर्शन नहीं करना चाहता, रचता है:

चाहता तो बच सकता था/मगर कैसे बच सकता था
जो बचेगा/कैसे रचेगा
पहले मैं झुलसा/फिर धधका/चिटखने लगा
कराह सकता था/मगर कैसे कराह सकता था
जो कराहेगा/कैसे निबाहेगा
न यह शहादत थी/न यह उत्सर्ग था/न यह
आत्मपीड़न था/न यह सजा थी/तब क्या था यह
किसी के मत्थे मढ़ सकता था/मगर कैसे मढ़
सकता था/जो मढ़ेगा कैसे गढ़ेगा

कवि का अन्दाज़ इतना सहज है कि कहीं भी सम्प्रेषण का संकट नहीं पैदा होता। अनुभव का मंथन इतना प्रौढ़ और पूर्ण है कि काव्य भाषा अत्यन्त सहज हो गई है। कवि जिस शैली का सहारा लेता है वह संबोधन और वार्तालाप की है। संग्रह की हर कविता में कवि सामने उपस्थित है। वह प्रश्न पूछ रहा है, उत्तर दे रहा है, संशय व्यक्त कर रहा है, समाधान माँग रहा है। कहीं कहीं वह व्यास की भाषा में भी बोलने लगता है:

मैं फिर कहता हूँ/धर्म नहीं रहेगा, तो कुछ नहीं
रहेगा/मगर मेरी कोई नहीं सुनता/हस्तिनापुर में
सुनने का रिवाज़ नहीं

श्रीकांत जी के मगध के विरोध में बहुत कुछ कहा जा सकता है, लेकिन कविता के ढाँचे के भीतर और आलोचना के दायरे में आपत्तियों की गुंजाइश बहुत ज्यादा नहीं होती। एक बात तो यह कि मगध का कवि बार बार एक ही बात को इस तरह कहता है जैसे वह निश्चयपूर्वक न कही जा रही हो। कवि बार बार रास्ते की बात करता है। 'आवागमन' शीर्षक एक कविता ही है उसकी। इसका मनोविज्ञान चाहे जो हो लेकिन इतना स्पष्ट है कि वह बार-बार सन्देह और अनिश्चय की स्थितियाँ पैदा करता है। वह बार बार कहता है कि यह रास्ता अमुक जगह नहीं जाता। वह बार बार कहता है कि यह अमुक स्थान नहीं है। एक ही चीज़ को वह सार्थक भी कहता है निरर्थक भी, उन्नति भी कहता है, अवनति भी। बार बार कहता है कि इससे कोई फर्क नहीं पड़ता:

उज्जयिनी जाने को इच्छुक यात्रियों से निवेदन है
यह रास्ता उज्जयिनी को नहीं जाता/और यह कि
यही रास्ता उज्जयिनी को जाता है

× × ×

आधे मानते हैं, आधा/होना उतना ही/सार्थक है,
जितना पूरा होना/आधों का दावा है, उतना ही
निरर्थक है पूरा/होना, जितना आधा होना

× × ×

सुखी है आम्रपाली कि हरेक/उसे जानता है/
दुखी है आम्रपाली कि कोई/उसे नहीं जानता/

यह द्विविधा की मन:स्थिति कवि की कविताओं में बराबर बनी रहती है। यह कवि की प्रचलित शैली है जो उसकी इन कविताओं में रूढ़ि बन गई है। उसकी नाटकीयता, उसकी वक्रोक्ति, उसके व्यंग्य सब एक रूढ़ि की तरह बार बार इस्तेमाल होते हैं। एक ही तरह की, एक ही भावभूमि की ये कविताएँ एकरसता पैदा करती हैं क्या यह आज की व्यवस्था और जीवन की प्रतिच्छवि है? एक अनिश्चय और पहेली और भुलभुलैया में डालने वाली ये कविताएँ क्या आज की राजनीति, व्यवस्था और आज के प्रजा-मन का बिम्ब प्रस्तुत करती हैं? इतिहास का छद्म प्रस्तुत करने वाली इन कविताओं की लय क्या इतिहास के छद्म जैसी ही नहीं है?

31 दिसम्बर 1984 की डायरी में श्रीकान्त जी लिखते हैं, 'मेरी कविताएँ भी तो स्वप्न और स्वप्रसंग का एक अजीबोगरीब, एक नाटकीय, एक जादुई मिलन है।'' दरअसल गंभीर राजनीतिक आशयों वाली, लोक और तंत्र की विडम्बनाओं को उद्घाटित करने वाली श्रीकांत वर्मा के मगध की कविताएँ स्वप्न और स्वप्रसंग का एक जादुई मिलन है। एक मिथक और यथार्थ का नाम है 'मगध'। मृत्यु और जीवन, सत्ता और अतीत के द्वन्द्व का नाम है 'मगध'। 'मगध' कोई एक कविता या कोई एक कविता संग्रह नहीं है बल्कि एक कवि के परवर्ती मन की मुकम्मल बनावट का नाम है 'मगध'।

1. गरूड किसने देखा है पृ. 88
2. दस्तावेज-31/32 पृ. 27
3. दिनमान, 21 अक्तूबर 73 पृ. 11
4. गरूड़ किसने देखा है, पृ. 84
5. गरूड़ किसने देखा है, पृ. 86
6. गरूड़ किसने देखा है, पृ. 104
7. गरूड़ किसने देखा है, पृ. 117
8. गरूड़ किसने देखा है, पृ. 118

# 19. अदम्य सजेनात्मक ऊर्जा

**नेमिचन्द्र जैन**

युवा कवि धूमिल की असामयिक मौत हिन्दी कविता की रचना-जगत के लिए एक बड़ी दुखद दुर्घटना है। एक ऐसी आवाज़ अचानक थम गयी जिसने पहले ही हल्ले में अपनी ताकत और विशिष्ट व्यक्तित्व से समकालीन कविता-लेखन में अलग पहचान पैदा कर ली थी। अभी उनकी काव्य-यात्रा की शुरूआत ही हुई थी और उनकी प्रतिभा और उसकी बैचेनी को देखते हुए उनसे और बहुत आगे जाने की आशा की जाती थी। धूमिल का बस एक ही संग्रह 1972 में प्रकाशित हुआ **संसद से सड़क तक**, जिसमें छोटी-बड़ी पच्चीस कविताएँ हैं। उसके बाद कुछेक ही कविताएँ इधर-उधर पत्रिकाओं में दिखाई पड़ी हैं : **कविता के भ्रम में** (लहर, जुलाई 70), **कविता श्रीकाकुलम** (आवेग 8, नवंबर 71), **मुक्ति का रास्ता, गुफ्तगू** (सर्वनाम, जून-जुलाई 73), **प्रस्ताव, खून का हिसाब** (पुरूष-1 मई 74), **शब्द जहाँ' सक्रिय हैं** (वाम-3 अगस्त 74), **नींद के बाद** (युवा, अक्तूबर 74) और **वापसी, नौजवान, रोटी और संसद** (दिनमान 23-2-75-विचार मंच, मिर्जापुर से उद्धृत)। मगर इतनी कम रचनाओं की बुनियाद पर भी उनकी रचनात्मक प्रतिभा की एक बड़ी अविस्मरणीय छाप समकालीन हिन्दी कविताओं और उसके पाठकों पर मौजूद है। इसलिए उनकी कविताओं के इस असर के स्रोतों की जाँच-पड़ताल, एक दिवंगत कवि को श्रद्धांजलि के लिए ही नहीं, उनके कृतित्व के माध्यम से समकालीन कविता के मिजाज के एक खास तेवर को पहचानने के लिए भी ज़रूरी है।

धूमिल की कविता आज़ादी के बाद होश सम्हालने वाले एक संवेदनशील नौजवान की अपने देश और समाज और उसमें आदमी की विसंगतिपूर्ण हालत को समझने-पहचानने की कोशिश को ज़ाहिर करती है। यह कोशिश उसे एक ओर दहशत से और दूसरी ओर खीझ, छटपटाहट और गुस्से से भर देती है। **संसद से सड़क तक** में, और बाद में प्रकाशित कविताओं में भी, इस कोशिश से गुज़रने की प्रक्रिया, अनुभव और अभिव्यक्ति के कई रूपों और पर्तों में दिखाई पड़ती है। इस अनुभव का प्रारंभिक दौर शायद एक तलाश का, अपने चारों ओर की हालत को देखकर उठने वाले सवालों का है: 'क्या आज़ादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है/जिन्हें एक पहिया ढोता है/या इसका कोई खास मतलब होता है?' (**बीस साल बाद**)। मगर जल्दी ही ऐसे सवालों के उत्तर के बारे में कोई भ्रम नहीं रहता: 'उस मुहाविरे को समझ गया हूँ/जो आजादी और गांधी के नाम पर चल रहा है/जिससे न भूख मिट रही है न मौसम/बदल रहा है/' (**अकालदर्शन**)। इस समझ में धीरे-धीरे

कड़वाहट घुलने लगती है और जहाँ कभी सरकटे मुर्ग की तरह फड़कते हुए जनतंत्र में सुबह' 'सिर्फ चमकते हुए रंगों की चाल बाजी' लगती थी, वहाँ जल्दी ही यह जाहिर हो जाता है कि 'अपने यहाँ जनतंत्र/एक ऐसा तमाशा है/जिसकी जान मदारी की भाषा है।' (**पटकथा**) और फिर असलियत का यह तीखा दहशत भरा अहसास: 'एक चमकदार गोल शब्द/'-जनतंत्र'/जिसकी रोज़ सैकड़ों बार हत्या होती है/और हर बार/वह भेड़ियों की जुबान पर ज़िन्दा है।' (**शहर में सूर्यास्त**)। ऐसे जनतंत्र में देशभक्ति एक धोखा है: 'रोटी के टुकड़े पर/किसी भी भाषा में देश का नाम लिख कर/खिला देने से/कोई देशभक्त नहीं होता है।' (**भाषा की रात**)। इसी कारण यह गुस्से भरी खीझ कि 'इस देश की मिट्टी में/अपने जांगर का सुख तलाशना/अंधी लडकी की आँखों में/उससे सहवास का सुख तलाशना है।' (**पतझड़**)।

इस प्रकार धूमिल की कविता अपने देश में फैले हुए व्यापक भ्रष्टाचार, ढोंग, पाखंड और आपाधापी, खासकर सत्ताधारी 'सुराजियों' के धोखे के प्रति तीखा असंतोष और आक्रोश जाहिर करती है। उसमें आम तौर पर इस स्थिति के लिए जिम्मेदार व्यक्तियों और वर्गों के प्रति नफरत और गुस्सा है और उसके शिकार होने वालों के लिए हमदर्दी, बल्कि उनके साथ तादात्मय भी। वह एक ऐसे संवेदनशील कवि के मन की यातना को सूचित करती है जो आत्मलीन नहीं है, जिसका भावतंत्र अपने चारों ओर की ज़िन्दगी के प्रति खुला और जागरूक है और इसीलिए उसकी करवटों और बेचैनी की कई लहरों को अंकित करता है। धूमिल की इन आवेगपूर्ण प्रतिक्रियाओं में सहज स्वत: स्फूर्तता है और किसी पूर्व-निर्धारित सिद्धान्तवादी कट्टरता का आभास उनसे नहीं होता। ज्यादातर कविताओं में स्वर की उग्रता और तल्खी के बावजूद जुझारू अंदाज बहुत नहीं है, बल्कि बीच-बीच में एक तरह की निराशा भी कवि को घेर लेती है।

आवेग के उतार-चढ़ाव का एक दिलचस्प रूप धूमिल की महत्वपूर्ण लम्बी कविता **पटकथा** में मिलता है जिसमें काव्य-नायक 'मैं' की सपने में एक 'हमशक्ल' से भेंट होती है जो और कोई नहीं हिन्दुस्तान है। स्वप्न और जागृति की इस बुनावट और कविता में अनुभव के खास ढंग के फैलाव से मुक्तिबोध की फंतासियों की याद आती है, पर शायद शिल्प के अलावा अनुभव का रूप और उसको व्यक्त करने वाला भाषाई मुहाविरा धूमिल का अपना है।

**पटकथा** आज के हिन्दुस्तान में एक नौजवान कवि की अपने देश को और उसमें अपने आपको पहचानने की यात्रा-कथा है। शुरू में कवि 'संस्कार के/वर्जित इलाकों में/अपनी

आदतों का शिकार/होने से पहले ही/बाहर चला आता है जहाँ 'हवा थी/धूप थी/घास थी/मैंने कहा आजादी-'। और फिर वहाँ 'इस तरह जो था उसे मैने/जी भर कर प्यार किया/और जो नहीं था/उसका इंतजार किया/' और 'मैं इंतज़ार करता रहा/-खुद को-समझाता रहा जो मैं चाहता हूँ-/वही होगा। होगा-आज नहीं तो कल/मगर सब कुछ सही होगा'। इस मासूम विश्वास को तो एक दिन टूटना ही था। 'मगर एक दिन मैं स्तब्ध रह गया/यह मेरा देश है/और यह मेरे देश की जनता है/जनता क्या है?/-मैं खोयी हुई आज़ादी का अर्थ ढूँढता रहा/-मगर फिर मैं वहीं चला गया/अपने जुनून के अँधेरे में', इस अहसास के साथ कि 'उन्होंने किसी चीज को/सही जगह नहीं रहने दिया है। 'उस उलझनों के अँधेरे में' उसे दीखा कि एक 'हमशक्ल खड़ा है/-तुमने पहचाना नहीं-मैं हिन्दुस्तान हूँ/' और वह कहता है, 'सुनो! तुम चाहे जिसे चुनो/मगर इसे नहीं/इसे बदलो/-मैं पूरी तत्परता से उसे सुन रहा था-मैं खुद को कुरेद रहा था/-अचानक, उसने मेरा हाथ पकड़ कर/खींच लिया और मैं/-धड़ाम से-गड़गच्च अँधेरे में गिर पड़ा/नींद के भीतर यह दूसरी नींद/-तभी किसी/ने उसे मेरी ओर उछाल दिया/और मेरा हमशक्ल/मेरे पैरों के पास/मूर्च्छित-सा/पड़ा था'-उसने कहा, 'तुम मेरी चिन्ता मत करो/उनके साथ/चलो। इससे पहले कि वे/गलत हाथों के हथियार हों/-तब से आज तक/-मैने कई रातें जाग कर गुज़ार दी हैं/-अपनी परेशानी के निर्मम अकेले और बेहद अनमने क्षण जिये हैं/और हर बार मुझे लगा है कि कहीं/कोई खास फर्क नहीं है/ज़िन्दगी उसी पुराने ढर्रे पर चल रही है/जिसके पीछे कोई तर्क नहीं है/-हर तरफ/शब्द-भेदी सन्नाटा है/-घृणा में/डूबा हुआ सारा का सारा देश/पहले की ही तरह आज भी/मेरा कारागार है।

देश की और अपनी ऐसी बेरहम तस्वीर इतनी बेबाकी से उतार सकना एक समर्थ सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा ही संभव है, और उचित ही यह कविता धूमिल को समकालीन कवियों में एक अलग, खास और ऊँचा दर्जा देती है। **पटकथा** शायद पिछले दस-पंद्रह बरस की कविताओं में एकदम बेजोड़ है। उसमें एक ऐसे कवि का आत्म-साक्षात्कार है जो समाज से बहुत-से सूत्रों से जुड़ा है और उसकी हलचल, कशमकश और यातना का सहभागी है, उसके बदले जाने और बदलने के काम में हिस्सा लेता है और उसे कविता का जरूरी धर्म मानता है, मगर फिर भी जो अपने अनुभव को किसी चालू या परिचित नारे की बजाय एक सर्वथा निजी मुहावरे में व्यक्त करता है।

जिन्दगी का ऐसा डरावना अहसास दूसरी कविताओं में भी है। 'किस तरह मकानों की आड़ में/छिपे हुए मकान/दरवाजों में चाकू छिपाकर/आदमी का इंतज़ार कर रहे हैं।'

(**मकान**)। यह किसी सरलीकृत रोमेंटिक आशावाद से सहलाने वाली भाषा नहीं है बल्कि बड़ी सख्ती के साथ सच्चाई के सामने ढकेलने वाली भाषा है। 'सच्चाई/हमें अक्सर अपराध की सीमा/पर छोड़ जाती है।' (**सच्ची बात**) धूमिल की कविता एक नये ढंग से आदमी को अपने जमाने के बारे में खबरदार करती है और इसीलिए आने वाली या मौजूद लड़ाई के लिए तैयार भी करती है। 'तुम वापस चले जाओ/हत्यारी संभावनाओं के नीचे/सहनशीलता का नाम/आज भी हथियारों की सूची में नहीं है/रात खत्म हो चुकी है/और वह सुरक्षित नहीं है जिसका नाम हत्यारों की सूची में नहीं हैं।' (**हत्यारी संभावनाओं के नीचे**)।

धूमिल समकालीन काव्य-दृश्य के उन इक्का-दुक्का कवियों में से थे जो किसी हद तक अपने अनुभव का अतिक्रमण करके ज़िंदगी के अन्तर्विरोधों से उत्पन्न विसंगतियों को आवेगपूर्ण तल्खी के साथ-साथ एक बड़े संदर्भ से जोड़ पाते थे। मगर ऐसा अक्सर नहीं होता। ज्यादातर उनकी कविता में स्थिति की हैवानियत का तीखा अहसास व्यापक और गहरे असंतोष और आम परिवर्तन की चाह को तो सूचित करता है, क्रांतिकारी परिवर्तन की संभावना या उसकी किसी शक्ल की कोई साफ चेतना उनमें नहीं मिलती; इसी से इन कविताओं को पढ़कर मन बहुत बेचैनी, कड़वाहट और गुस्से से भर जाता है, पर हालत को बदलने का कोई रास्ता है, उसे बदलने के कोई सार्थक विश्वसनीय प्रयत्न जारी हैं या नहीं, बदलने वाली ताकतें कौन-सी हैं, कैसी हैं, या बदलकर दुनिया की कौन-सी कैसी तस्वीर बनेगी, इसके कोई रूप, संकेत या व्यंजना भी उनकी कविताओं में खास नहीं मिलती। एकमात्र **प्रौढ़ शिक्षा** में ही शायद बदलने की कुछ बात है: 'बदलो-अपने आपको बदलो यह दुनिया बदल रही है/और यह रात है, सिर्फ रात-/इसका स्वागत करो/यह तुम्हें/शब्दों के नये परिचय की ओर लेकर/चल रही है।' मगर ये पंक्तियाँ उद्‌बोधन की सुपरिचित मुद्रा में हैं और कुछ खास नहीं सम्प्रेषित करतीं। धूमिल की कविता का मुख्य स्वर 'भंडाफोड़' और उससे पैदा होने वाली नफ़रत का ही है, बल्कि कई बार एक तरह की मायूसी या कम से कम बेबसी भरी उदासी बीच-बीच में ज़ाहिर होती है। **पटकथा** की अंतिम पंक्तियाँ 'घृणा में/डूबा हुआ सारा का सारा देश/पहले की ही तरह आज भी/मेरा कारागार है।' तो इस बात को बड़ी तीव्रता से रेखांकित करती ही हैं; दूसरी कविताओं में भी यह स्वर मौजूद है: 'क्रांति यहाँ के असंग लोगों के लिए/किसी अबोध बच्चे के/हाथों की जूजी है।' (**अकालदर्शन**)।

इस संदर्भ में यह बात ध्यान देने की है कि दुनिया के बेहद मक्कार, धोखेबाज, विसंगतिपूर्ण होने का अनुभव, उसके पूरी तरह लाइलाज और समस्त मानवीय प्रयास के व्यर्थ और

आत्मवंचनापूर्ण होने के एब्सर्डवादी निष्कर्ष तक भी ले जाता है। ऐसा निष्कर्ष परिवर्तन को बेकार और असंभव दोनों सिद्ध कर देता है। किसी क्रांतिकारी अथवा सामाजिक परिवर्तन की संभावना में आस्था रखने वाले रचनाकार का यह मकसद नहीं हो सकता। दरअसल आज का संवेदनशील रचनाकार जिन्दगी के एक बुनियादी अन्तर्विरोध का बड़ी तीव्रता से साक्षात्कार करने के लिए लगातार मजबूर होता है। एक ओर आज के समाज में सारे इंसानी मूल्यों के गड़मड़ हो जाने और ज़िन्दगी के लगभग बेमानीपन के कगार पर पहुँच जाने का अनुभव है जिसकी यातना में से गुज़रे बिना कोई रचनाकार किसी विश्वसनीय या प्रासंगिक रचना-संसार की सृष्टि नहीं कर सकता। उससे आँख बंद करके, उसे झुठलाकर, केवल इच्छित कल्पना-लोक की रचना हो सकती है, समाज के बदलने के कठिन और यातना भरे संघर्ष को न तो समझा जा सकता है और न उसके लिए दूसरों को तैयार किया जा सकता है। और दूसरी ओर समाज को बदलकर बेहतर, अधिक तर्कसंगत और मानवीय बनाने की जरूरत, आकांक्षा और संभावना का वजन है । उसके बिना रचना के एकदम नकारात्मक और दूसरी तरह से अप्रासांगिक होकर व्यर्थ हो जाने की संभावना है। अक्सर रचनाकार इन दोनों में कोई तालमेल नहीं बैठा पाता। धूमिल की कविता में भी समकालीन जीवन की विसंगति का अनुभव तो बड़ा तीव्र है, पर दुनिया और समाज का कोई 'विज़न' बहुत स्पष्ट नहीं मिलता।

एक तरह से यह बात उनकी कविता को एक ओर किसी झूठे या आरोपित आशावाद से, दूसरी ओर किसी वक्ती राजनैतिक कार्यक्रम की नारेबाजी से बचाती है और उनके काव्य-विवेक की सूचक भी मानी जा सकती है। पर शायद किसी हद तक यह देश में 'विरोध की राजनीति' के माहौल की उपज भी जान पड़ती है जिसमें शासकों और उनके समर्थक वर्गों तथा समुदायों के काले कारनामों को उजागर करना मात्र ही अधिकांश राजनैतिक दलों का, तथा बुद्धिजीवियों तक का, प्रमुख कार्य बन गया है। 'इस वक्त सचाई को जानना/विरोध में होना है' (मुनासिब कार्रवाई)। धूमिल की कविता में राजनीति मुख्यत: और अधिकतर इसी रूप में है और उसे सिर्फ इस सीमित अर्थ में ही राजनैतिक कविता कहा जा सकता है कि परिस्थितियों के कुछेक राजनैतिक रूपों और परिणामों का ज़िक्र उसमें अक्सर आता है। खासकर 'आज़ादी', 'जनतंत्र' जैसी अवधारणाओं का धीरे-धीरे अवमूल्यन होते जाने की बड़ी तीखी चेतना उनकी कविताओं में मिलती है। पतझड़ में 'जनवादी मुद्रा में/शाखों पर चढ़ी हुई नकचढ़ी हवा' तथा 'समकालीनता के जनसंघी नुस्खों' का ज़िक्र है और शांति पाठ में अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं पर भी प्रतिक्रिया है: 'मैं देख रहा हूँ एशिया में दायें हाथों की मक्कारी ने/विस्फोटक सुरंगें बिछा दी हैं।' इससे कुछ

अधिक स्पष्ट राजनैतिक चेतना संसद से सड़क तक के बाद छपी एक-दो कविताओं में है। जैसे, नींद के बाद में: 'सोये हुए बच्चे के होंठ/हल्की हँसी से रंगे हैं/पिता की आँखों में फैसले की नमी है/और पूरब में फैली हुई लालिमा/उसके विचारों का रंग बन चुकी है।' ('युवा'-अक्तूबर 1974); या 'अपनी बैलौस आवाज़ में उसने/आखिरी बार पूरी आजादी और/नये पाठ्यक्रम की माँग की है।' - नौजवान दिनमान' 232-75)

संभवत: पिछले दिनों धूमिल अधिक उग्रतावादी राजनैतिक विचारधारा की ओर मुड़ते जा रहे थे। इसका कुछ अनुमान नक्सलपंथी आंदोलन के बारे में उनके बदलते हुए रूख से लगाया जा सकता है। संग्रह की कविता नक्सलबाड़ी नक्सलपंथियों के 'विपक्ष' में होने को सही मानते हुए भी उन्हें खास समर्थन नहीं देती। उनकी बहुचर्चित विवादास्पद रचना कविता श्रीकाकुलम भी (जो कई पत्रिकाओं में छपी) नक्सलपंथी रास्ते को ठीक मानती नहीं जान पड़ती: 'कायरता/एक खाली तमंचा फेंक कर/भाग गयी है और साहस/चंद पके हुए बालों के साथ/आगे बढ़ गया है/अंधेरे में।' इसके बारे में 'आवेग' (नवम्बर 1971) में उन्होंने लिखा भी था कि 'आततायी को अपदस्थ करने के लिए भाषा का समझ से भरपूर और कारगर हस्तक्षेप कविता में बदल जाता है।' मगर बाद की कविताओं में स्वर बदला हुआ है: 'पहली बार आत्महीनता के खिलाफ हिंसा ने पहल की है।' (प्रस्ताव- 'पुरूष', मई 1974) या 'अगवा बंदूक की निशानदेही पर/कविता ने ढूँढ लिया है अपनी मुक्ति का रास्ता/दुश्मन की छाती के खून भरे छेद से।' (मुक्ति का रास्ता-'सर्वनाम', जून-जुलाई 1973)। और, शब्द/जहाँ सक्रिय हैं भूख का सिलसिला/छापामार सीटियाँ बजाने लगा है। (शब्द जहां सक्रिय हैं - 'वाम' 3, अगस्त 1974)। धूमिल की हमदर्दी की यह दिशा अन्तत: 'विरोध' और 'भंडाफोड़' की राजनीति की बड़ी स्वाभाविक परिणति है और उनके जीवन 'विजन' की व्यापकता या सूक्ष्मता या उसकी अधिक पुष्टता को नहीं सूचित करती। उनकी तमाम या ये भी कविताएँ फिर भी अगर असर डालती हैं तो अपनी निश्छलता तथा आवेग की ऊर्जा के कारण ही।

दृष्टि के अपेक्षया इकहरेपन और आवेगात्मक ऊर्जा के तनाव की बड़ी अच्छी मिसाल उनकी बहुचर्चित कविता मोचीराम है। बेशक शिल्प के लिहाज से मोचीराम समकालीन कविता की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। पूरी कविता की बुनावट में व्यापक सामाजिक सरोकार और सर्जनात्मक कल्पनाशीलता की बड़े नये ढंग की घुलावट है। एक मोची के एकालाप द्वारा एकदम अछूते प्रकार की बिम्ब योजना और मुहावरे में कवि ने अपने समाज के कुछ अन्तर्विरोधों पर टिप्पणी की है। मोची के सामने तरह-तरह के इंसान जूतों के रूप में मरम्मत के लिए आते हैं। 'हर आदमी एक जोड़ी जूता है/जो मेरे सामने/मरम्मत

के लिए खड़ा है।' या 'जूते/और पेशे के बीच कहीं न कहीं एक अदद आदमी है।' दरअसल मोची के पेशे के तरह-तरह के औज़ारों, सामानों और उसकी भाषा के कल्पनाशील संयोजन से कविता के पूरे निर्वहण में बड़ी ताज़गी भरी लाक्षणिकता आ गयी है जो कवि के वक्तव्य को एक साथ कई स्तरों पर ध्वनित करती है: 'वसंत.....दिन को ताँत की तरह तानता है/पेड़ों पर लाल-लाल पत्तों के हजारों सुखतल्ले/धूप में, सीझने के लिए/लटकाता है/.....उस समय/राँपी की मूठ को हाथ में सँभालना/मुश्किल हो जाता है/आँख कहीं जाती है/हाथ कहीं जाता है'

मगर कुछ और सूक्ष्मता से देखें तो अन्ततः इस कविता का काव्य दो तरह के आदमियों का समक्षीकरण मात्र है जो ज्यादा-से-ज्यादा एक अस्पष्ट से वर्ग भेद को सूचित करता है। 'चकतियों की थैली' जैसे जूते को पहननेवाला जिसके चेहरे को 'चेचक ने चुग लिया/उस पर उम्मीद की तरह देती हुई हँसी है/जैसे टेलीफून के खम्भे पर/कोई पतंग फँसी है/और खड़खड़ा रही है', और दूसरा जिसके हाथ में घड़ी है/उसे कहीं जाना नहीं है/मगर चेहरे पर/बड़ी हड़बड़ी है/वह कोई बनिया है/या बिसाती है/मगर रोब ऐसा कि हिटलर का नाती है/जो घण्टे भर खटवाता है/मगर नामा देते वक्त/साफ नट जाता है।' कवि की हमदर्दी ज़ाहिर है पहले आदमी के साथ है और उसका निष्कर्ष है: 'और बाबू जी! असल बात तो यह है कि ज़िन्दा रहने के पीछे/अगर सही तर्क नहीं है/तो रामनामी बेचकर या रण्डियों की/दलाली करके रोजी कमाने में/कोई फर्क नहीं है।' इस वक्तव्य का तीखापन और व्यंग्य तथा उक्ति की चमक बहुत असरदार होते हुए भी उसकी व्यंजना में कोई खास फैलाव नहीं है। शायद कविता का अधिक सार्थक अंश उसका अन्त है जहाँ मोचीराम पीछे छूट जाता है, धूमिल खुद बोलने लगते हैं, और ऐसी बात कहते हैं जो कई अर्थों में महत्वपूर्ण है : 'भविष्य गढ़ने में', 'इनकार से भरी हुई एक चीख' और 'एक समझदार चुप', 'अपनी अपनी जगह एक ही किस्म से/अपना-अपना फर्ज अदा करते हैं।' कुल मिलाकर मोचीराम जैसे अनोखे चरित-नायक के रूप में कवि की इस यात्रा में, उसे पेश करने की युक्ति और उसके पीछे भावना की ऊर्जा के कारण, कविता के शिल्प में निस्सन्देह बड़ी तराश तो आ गयी है, पर पटकथा जैसा अनुभव का फैलाव और यातना भरे आत्म-साक्षात्कार की सघनता नहीं है। अमानवीय वर्ग-भेद के प्रति कवि की तीखी प्रतिक्रिया अपने आप में मूल्यवान होते हुए भी बहुत आगे नहीं ले जाती।

धूमिल की मानसिक बनावट का एक और रूप इन कविताओं में औरत के बारे में कवि की प्रतिक्रियाओं में देखा जा सकता है। धूमिल के यहाँ रोज़-मर्रा के जाने-पहचाने औरत-मर्द के रिश्ते बहुत ही कम हैं: जैसे **अकालदर्शन** में 'मेरी माँ का चेहरा/झुर्रियों

की झोली बन गया है'; या पत्नी का उदास और पीला चेहरा/मुझे आदत सा आँकता है।' (कवि 1970); या 'बीबी! क्या बच्चे सो गये?/.....पास आओ और सुनो.....? (गुफ्तगू-'सर्वनाम' जून-जुलाई 1973)। वास्तव में ज्यादातर उनकी कविता में औरत के साथ कोई भी रिश्ता सीधे-सीधे या मुख्य अनुभव के रूप में नहीं आता। बाहरी दुनिया की विसंगतियों से जूझते हुए कवि से इसकी कोई शिकायत भी खास ज़रूरी नहीं। मगर यह बात कुछ अटपटी लगती है कि इन कविताओं में औरत का ज़िक्र बहुत जगह है, पर वह हमेशा कुछ उसी अन्दाज में हुआ है जैसा अधिक वहशी रूप में अकवितावादियों में मिलता था। 'हर लड़की/तीसरे गर्भपात के बाद/धर्मशाला हो जाती है', 'पागल और गाभिन पेट की तरह', 'गर्भ-गद्‌गद् औरतों में अजवाइन का सत और मिस्सी बाँट रहा हूँ', 'औरतें/योनि की सफलता के बाद/गंगा का गीत गा रही हैं', 'मासिक धर्म रुकते ही सुहागिन औरतें/सोहर की पँक्तियों का रस/नये सिरे से सोखने लगती हैं', आदि-आदि।

यौन प्रतीक भी धूमिल की अनेक कविताओं में हैं और वे प्राय: सभी अकविताई मुहाविरे में हैं। जैसे, 'मासिकधर्म में डूबे हुए लत्ते-सा/खड़खड़ाता हुआ दिन', 'बलात्कार के बाद की आत्मीयता', 'आज़ादी – इस दरिद्र परिवार की बीस साला बिटिया/मासिक धर्म में डूबे हुए क्वाँरेपन की आग से/अन्धे अतीत और लँगड़े भविष्य की चिलम भर रही है', 'तुम्हारी मातृभाषा/उस महरी की तरह है, जो/महाजन के साथ रातभर/सोने के लिए/एक साड़ी पर राजी है', आदि। स्त्री के बारे में ऐसी प्रतिक्रियाएँ एक क्रान्तिवादी या क्रान्तिकारी कवि की नहीं, समाज के 'लुपेन' उठाइगीर हिस्से की जहनियत होती है। ऐसा लगता है कि धूमिल की कविता ने अकविता के दौर में होश सम्भाला और उससे उनकी संवेदना मूलत: भिन्न होने और अपनी ओर से सजग रूप से उसके मुहाविरे से बचने की कोशिशों के बावजूद, उसके कुछेक रूझान उनकी कविताओं में अनजाने ही आ गये हैं। यों भी अगर कवि पूरी तरह होशियार या उसके अनुभव तन्त्र की बुनावट बिल्कुल भिन्न न हो, तो उग्रता का 'रेटारिक' बड़ी आसानी से योनिवादी रेटारिक के गढ़े में गिर सकता है। मगर धूमिल का अपना सहज सामाजिक और काव्यगत विवेक उन्हें इस खतरे से बचाता है। और वैचारिक पृष्ठभूमि की कमज़ोरी के कारण एक प्रकार की सँकीर्ण विरोधवादिता और अन्तत: हिंसा की ओर बढ़ने के बावजूद, उनके बुनियादी लगाव मानवीय और प्रासंगिक बने रहते हैं।

काव्य-रूप और शिल्प के मामले में धूमिल की कविता में कई बातें ऐसी हैं जो उन्हें अपने सभी समकालीनों से अलग और विशिष्ट दर्जा देती हैं, बल्कि शायद इनके कारण ही ये कविताएँ इतनी अधिक असरदार साबित हुई हैं। इन तत्वों में सबसे खास है धूमिल की

भाषा। छठे-सातवें दशक में देशव्यापी मोहभंग की प्रक्रिया से उत्पन्न तल्खी और गुस्से को धूमिल ने एक अलग तरह की चुनौती देती, ललकारती हुई, दबंग भाषा दी जिसमें व्यंग्य और ऊर्जा का बड़ा प्रभावी मिश्रण है। मगर साथ ही उसकी एक अपनी विशिष्ट निजी पहचान है और वह इस दौर की दूसरी अनेक कविताओं और कवियों की चरित्रहीनता से अभिशप्त नहीं है। धूमिल इस दौर के जिस विसंगति भरे परिवेश को अपनी कविताओं में पेश करते हैं उसके अन्तर्विरोधों का बहुत-सा तनाव उनकी नाटकीय तनाव-भरी भाषा में जाहिर होता है। उसमें बड़ी अनिवार्यता, एक तरह की बरजस्तगी है, जो पढ़ने या सुननेवाले को चौंकाती है, चमत्कृत करती है और उसके आगे कविता की व्यंजना के अप्रत्याशित स्तर अचानक ही, नाटकीय चरमबिन्दु (क्लाइमेक्स) या द्रुतलय के संगीत में अचानक आनेवाले समय सम की तरह, कौंधा देती है।

इसमें धूमिल ने तुर्कों का बड़ा सर्जनात्मक इस्तेमाल किया है। भाषा में/भदेश हूँ/इस कदर कायर हूँ/कि उत्तर प्रदेश हूँ' या 'निष्ठा का तुक विष्ठा से मिला दूँ' में सिर्फ चौंकानेवाली तुकें ही नहीं बल्कि दो सर्वथा अप्रत्याशित या विपरीत या विरोधी वस्तुओं या स्थितियों के समक्षीकरण द्वारा विसंगति की अभिव्यक्ति भी है; साथ ही अनुभव के अलग-अलग दायरों के जुड़ने से टिप्पणी की आँच दूर-दूर तक फैल जाती है। पहले भी कुछेक कवियों ने तुकों का ऐसा इस्तेमाल किया है, पर धूमिल की कविताओं में वे जितनी विस्फोटक रूप में कारगर हुई हैं वैसी और किसी के यहाँ नहीं। यह ठीक है कि तुकों के प्रयोग से एक तरह का बनावटीपन पैदा होता है, पर कुछ संयम बरतने पर (जैसा कि अक्सर धूमिल में हैं) कविता को आम पाठक या श्रोता तक पहुँचाने में उससे मदद मिलती है और कथ्य का भारीपन या उसकी नीरसता कम होती है। कम-से-कम धूमिल की कविताओं में तुकों का प्रयोग बहुत कारगर और कथ्य के उपयुक्त ही है। उनकी हाल की कविताओं में तुकों का प्रयोग नहीं है और उसके कारण एकाध अपवाद के अलावा उनमें कोई सूक्ष्मता बढ़ने के बजाय उनकी सहज सम्प्रेषणीयता कुछ कम ही हुई है।

एक और स्तर पर भी धूमिल की भाषा में बड़ी नाटकीयता है। यानी भाषा की स्थिति और चरित्र के साथ अनुरूपता। **मोचीराम** में मोची के पेशे की शब्दावली के कल्पनाशील प्रयोग की बात पहले कही गयी है। पर एक और तरह की चरित्रानुरूपता ऐसे प्रयोगों में है: इशे बांद्धो, उशे काट्टो, हियाँ ठोक्को, वहाँ पीट्टो/घिश्शा दो, अंइशा चमकाओ, जुत्ते को ऐना बनाओ/.....ओफ्फ बड़ी गर्मी है।' (**मोचीराम**); या 'वह हँसता है-ऐसी हँसी कि दिल/दहल जाता है/कलेजा मुँह को आता है/और मैं हैरान हूँ/यहाँ आओ/मेरे पास आओ/मुझे छुओ/मुझे जियो/मेरे साथ चलो/मेरा यकीन करो/इस दलदल से/बाहर

निकलो/सुनो!/तुम चाहे जिसे चुनो/मगर इसे नहीं/इसे बदलो, मुझे लगा आवाज़/जैसे किसी चलते हुए कुएँ से/आ रही है।' (**पटकथा**); या 'ओ देश के पोर-पोर में दुखते हुए गूँगे जनून!/क्रोध की अकेली मुद्रा में/उफनते हुए सात्विक खून/आ, बाहर आ,/मैं एक अदना कवि-तेरी भाषा का मुँहताज/मुझे अपनी बोली में शरीक कर। (**भाषा की रात**)। यह प्रसंग, सन्दर्भ और चरित्र के साथ बदलती और उससे लिपटकर चलती भाषा धूमिल की कविता को खास किस्म की प्रामाणिकता और शक्ति देती है जो उनके किसी समकालीन कवि में इस रूप में नहीं दिख पड़ती। यह विशेषता धूमिल ने अपनी काव्य-भाषा में बोलचाल के मुहाविरे के बड़े गहरे और सूक्ष्म संवेदनशील रचाव के द्वारा पैदा की है। हिन्दी के अपने जीवन्त और सटीक मुहाविरे का ऐसा निर्दोष और कारगर इस्तेमाल शायद ही किसी अन्य आधुनिक हिन्दी कवि ने किया हो।

यही बात लय के इस्तेमाल के बारे में कहीं जा सकती है। धूमिल की प्राय: सभी कविताएँ छन्द में या छन्द जैसी लयवाले गद्य में है। मगर उसकी रवानी में कोई बनावट नहीं है, बल्कि ऐसी सहज अनिवार्यता है कि पढ़ने या सुननेवाला उसमें अनायास बहता जाता है। इस निरन्तरता और प्रवाह के लिए धूमिल वाक्य को झटके के साथ अप्रत्याशित जगह बीच से तोड़कर एक के बाद दूसरी पंक्ति में फैलाते जाते हैं जिससे विचार एक पँक्ति से दूसरी तक अनिवार्य रूप से बहता जाता है और पँक्तियाँ एक-दूसरे के साथ जुड़ी हुई लगती हैं।

धूमिल की काव्य-भाषा के सिलसिले में उनके बिम्बों-प्रतीकों का भी कुछ जिक्र ज़रूरी है। अकविताई ढँग के कुछ यौन प्रतीकों का ज़िक्र ऊपर किया गया। कुछेक प्रतीक और बिम्ब उन चरित्रों के परिवेश से आये हैं जिनको कवि-कथ्य का माध्यम बनाया गया है। मोचीराम के सारे बिम्ब ऐसे ही हैं। **मुनासिब कार्रवाई** में ऐसा ही एक और बिम्ब है 'असली अपराधी का/नाम लेने के लिए/कविता, सिर्फ उतनी ही देर सुरक्षित है/जितनी देर, कीमा होने से पहले/कसाई के ठीहे और तनी हुई गँडास के बीच/बोटी सुरक्षित है।' इसमें और इसी तरह के अनेक बिम्बों-प्रतीकों में एक ओर बड़ी सूक्ष्मता है, और दूसरी ओर जिस क्षेत्र से बिम्ब या प्रतीक आया है उसकी ब्यौरेबार जानकारी। धूमिल की कविताएँ बड़ी मौलिक और उर्वर कल्पनाशीलता वाले कवि व्यक्तित्व को जाहिर करती हैं, और उनकी दुनिया के संकीर्ण होने के बावजूद उनके इतने प्रभावी होने का यह भी एक कारण है। बल्कि अधिकतर बिम्बों के चुनाव के द्वारा ही धूमिल अपने अनुभव के दायरे को फैलाते हैं और उसमें महसूस होनेवाला फैलाव बहुत-कुछ इसी से पैदा होता है।

साथ ही लगता है कुछेक बिम्ब या प्रतीक धूमिल को बेहद प्रिय हैं जिनका वे बार-बार इस्तेमाल करते हैं। जैसे 'जंगल' के प्रतीक का लगभग हर कविता में तरह-तरह के अर्थों में प्रयोग हुआ है, कहीं एक दुश्मन, प्रतिपक्षी या बाधा के रूप में जैसे, 'चमड़े की शराफ़त के पीछे/कोई जंगल है जो आदमी पर/पेड से वार करता है' (**मोचीराम**); या 'वह जरा-सी गफलत होती है और जंगल/आदमी की गिरफ्त से छूटकर/दीवारों की कवायद में शरीक/हो जाता है' (**मकान**); या 'और एक जंगल है-/मतदान के बाद खून में अँधेरा पँछीटता हुआ। (जंगल मुखबिर है)।' (**नक्सलबाड़ी**); या 'और भूल जाओ/कि नींद में पेड़ के लिए/ तुमने जंगल में बहस की है' (**हत्यारी सम्भावनाओं के बीच**); या 'जिनका आधे से ज्यादा शरीर/भेड़ियों ने खा लिया है/वे इस जंगल की सराहना करते हैं/भारत वर्ष नदियों का देश है।' (**अकालदर्शन**); या 'वे आँखे वापिस लौट आयी हैं/जिनसे मैंने पहली बार जंगल देखा है/हरे रंग का एक ठोस सैलाब जिसमें सभी पेड़ डूब गये हैं।' (**बीस साल बाद**); **पटकथा** में 'जनतान्त्रिक जंगल' और 'नींद और नींद के बीच का जंगल काटते हुए' का ज़िक्र है। इसके ठीक विपरीत एक दोस्त या हथियार या ज़रूरी चीज़ के रूप में भी, या किसी शक्ति या ज़िन्दगी की विराटता, रहस्यमयता या सामूहिकता के अर्थ में भी 'जंगल' का इस्तेमाल हुआ है। जैसे, **पटकथा** में ही 'नफ़रत और रोशनी/सिर्फ़ उसके हिस्से की चीज़ है/ जिसे जंगल के हाशिये पर/जीने की तमीज़ है/ इसलिए उठो और अपने भीतर/सोये हुए जंगल को/ आवाज दो', और 'वह आहिस्ता-आहिस्ता कह रहा है/ जैसे किसी जले हुए जंगल में/पानी का ठण्डा सोता बह रहा है'; या **राजकमल चौधरी के लिए** में 'राख और जंगल से बना हुआ वह /एक ऐसा चरित्र था/जिसे किसी भी शर्त पर/राजकमल होना था', और कविताओं/को कौन-सा अर्थ/देने के लिए/किस जंगल/किस समुद्र किस शहर के अँधेरे में जाकर/गायब हो गया है।' हाल की कविताओं में 'जंगल' को हथियार/बन्द क्रान्तिकारियों की व्यंजना के लिए इस्तेमाल किया गया है। जैसे, **शब्द जहाँ सक्रिय हैं** में प्राय: तीन तरह से: 'वह सहसा उठा/और अपने हिस्से की रोटी के साथ जंगल को चला गया', नदी के मुहाने पर हलचल है और जंगल अपना रास्ता बदल रहा है'; और मेरे छप्पर का एक नन्हा तिनका जंगल की शाखा होने का सपना देखने लगा है।'. कहीं-कहीं केवल मुहाविरे के रूप में भी इसका इस्तेमाल है। जैसे, 'उसे जंगल में पेड़ की तलाश थी', 'शब्दों के जंगल में हम एक दूसरे को काटते थे,' 'इस ससुरी कविता को जंगल से जनता तक ढोने से क्या होगा?' मुझे लगा है कि हाँफते हुए दलदल की बगल में जंगल होना आदमी ही आदत नहीं अदनी लाचारी है।

एक ही शब्द के इतने सारे सन्दर्भों में प्रयोग से जहाँ धूमिल में भाषा के बड़े कल्पनाशील

सूक्ष्म अन्वेषण की क्षमता बोलचाल के मुहावरे की जानकारी का अहसास होता है, वहीं प्रतीकों की पुनरावृत्ति और एकरसता' से एक तरह की अनुभव की सीमा और एक खाँचें में फँस जानेवाली अभिव्यक्ति का भी असर मन पर पड़ता है। कुछ कम मात्रा में दुहरावट के साथ 'मासिक धर्म', 'घर' 'व्याकरण' आदि के बिम्ब-प्रतीक भी इन कविताओं में आते हैं। फिर भी यह बात बेझिझक कही जा सकती है कि धूमिल की कविता में प्रतीकों-बिम्बों की पुनरावृत्ति नगण्य है। पाठक इनकी अनोखी नवीनता से, बेमिसाल टटकेपन से ही आकर्षित, प्रभावित और चमत्कृत होता है।

दरअसल, धूमिल के कवि-स्वभाव में स्वत: स्फूर्तता और सजगता का बड़ा दिलचस्प समन्वय है। एक ओर बड़ी सहजता से वह अपने आपको अभिव्यक्त करते हैं दूसरी ओर आज के इस दौर में कविता और कवि-कर्म की सार्थकता को लेकर बार-बार प्रश्न उठाते हैं। **संसद से सड़क तक** में और उसके बाद भी सीधे-सीधे कविता के बारे में उनकी कम से कम छह कविताएँ हैं: **कविता, कवि 1670, मुनासिब कार्रवाई, कविता के भ्रम में, मुक्ति का रास्ता, शब्द जहाँ सक्रिय हैं।** कई अन्य कविताओं में भी जगह-जगह अभिव्यक्ति और भाषा को लेकर कई तरह के वक्तव्य हैं। उनकी कवि-दृष्टि का एक विपर्यय यह भी है कि वह कविता को क्रिया का, क्रान्तिकारी 'ऐक्शन' का पर्याय मानते जान पड़ते हैं जब कि कविता 'होना' नहीं, 'होने' की अनुभूति की पुनर्सृष्टि है। इसलिए जब भी वह अपने कवि की इस स्वनिर्धारित भूमिका के बाहर आकर अपनी कवि क्षमता को जीवन के अनुभव को मूर्त करने देते हैं तो उनकी रचना में एक सच्चे कवि से साक्षात्कार होता है। धूमिल की कविता मूलत: आत्मालाप की कविता है जिसमें आवेग की ऊर्जा है और एक तरह की अन्त:प्रज्ञा पर आधारित दिशा-बोध है, और सहज प्रभावी अभिव्यक्ति भी है। यह असम्भव नहीं था कि वे वक्त के साथ स्पष्ट जीवन-दृष्टि और वैचारिक पृष्ठभूमि भी हासिल कर लेते और इस प्रकार एक अत्यन्त सक्षम समृद्ध काव्य-जगत की रचना करने में सफल होते। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि ऐसा होने के पहले ही उनका जीवन समाप्त हो गया। मगर जो कुछ वह छोड़ गये हैं वह समकालीन कविता की एक उपलब्धि मानी जाती रहेगी इसमें सन्देह नहीं।